प्रथम भाग

काश्मीर शैव दर्शन : मूल सिद्धान्त

डॉ० कैलाश पति मिश्र
दर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

अर्द्धनारीश्वर प्रकाशन
वाराणसी

2-S

आदरणीय डॉ० राधेश्याम धर द्विवेदी
को सादर.

— कैलाश पति मिश्र
३१-१०-८२



आगमिक दर्शन

प्रथम भाग

काश्मीर शैव दर्शन : मूल सिद्धान्त

डॉ० कैलाश पति मिश्र
दर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

अर्द्धनारीश्वर प्रकाशन
वाराणसी

प्रथम संस्करण : १९८२

प्रकाशक :
स्वामी रामनरेश
अर्द्धनारीश्वर प्रकाशन
२७, दीनदयालनगर कालोनी
नबाबगंज, वाराणसी—१०

मूल्य :
छात्र संस्करण : २५ रुपये
पुस्तकालय संस्करण : ५० रुपये

मुद्रक :
देवज्योति प्रेस
वाराणसी,

पूजनीया माता जी

एवं

पूज्य पिता जी

को

सादर समर्पित

लेखकीय

भारत की धार्मिक, दार्शनिक एवं सांस्कृतिक संरचना में आगमिक परंपरा के दर्शनों का अपूर्व योगदान है। आगम आध्यात्मिक ज्ञान की अपूर्व निधि हैं, जिन पर इस परम्परा के दर्शन आधारित हैं। आगमिक दर्शनों पर शोध कार्य होना अति आवश्यक है। अभी तक पर्याप्त शोध कार्य न होने से बहुत सी बातें अस्पष्ट ही हैं। इस दिशा में अल्प कार्य ही हुआ है, विशेषकर हिन्दी में तो इस विषय पर बहुत ही कम कार्य हुआ है तथा प्रकाशित सामग्री का नितान्त अभाव है। इसी अभाव की पूर्ति की दिशा में हमने हिन्दी भाषा में सरल एवं सुबोध ढंग से आगमिक दर्शन को प्रस्तुत करने का प्रयास आरम्भ किया है। प्रस्तुत पुस्तक इस शृंखला की प्रथम कड़ी है।

काश्मीर शैव दर्शन का पर्याप्त अध्ययन न होने से बहुत सी बातों को लेकर विद्वानों में अस्पष्टता अथवा मतभेद है। उदाहरण के लिए, सृष्टि-प्रक्रिया शिव का आवश्यक कार्य (necessary process) है अथवा स्वातन्त्र्य (freedom) है ? काश्मीर शैव शास्त्र में यह कहा गया है कि पञ्चकृत्य शिव स्वभावतः करता रहता है। इस अर्थ में सृष्टि-प्रक्रिया शिव का आवश्यक कार्य हुआ। किन्तु काश्मीर शैव शास्त्र में शिव को परम स्वतन्त्र सत्ता कहा गया है तथा साथ ही उसे अनुत्तर भी कहा गया है। यदि सृष्टि करने में शिव स्वतन्त्र नहीं है और सृष्टि शिव के स्वरूप में आवश्यक रूप से निहित है तो फिर शिव को स्वतन्त्र कहने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। इसी प्रकार अशुभ की समस्या को लेकर भी अस्पष्टता है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार जीव तत्त्वतः शिव ही है और शिव अपनी लीला के लिए ही जीव रूप धारण करता है, इसलिए सामान्यतः यह मान लिया जाता है कि अशुभ अथवा पाप के लिए भी जिम्मेदार शिव ही है। हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि काश्मीर-शैव-दर्शन के मूलग्रन्थों में कोई अस्पष्टता अथवा मतभेद है, वरन् हमारा तात्पर्य यह है कि उनका समुचित अध्ययन एवं उनके सिद्धान्तों पर सम्यक् मनन न होने के कारण कतिपय पाठकों में एवं कतिचित् विद्वानों में भी अस्पष्टता है। हमने इस अस्पष्टता को दूर करने का प्रयास किया है। मूल ग्रन्थों का अध्ययन कर तथा विद्वानों से विचार विमर्श कर हमने इन समस्याओं का उचित समाधान देने का प्रयास किया है; हमारा निष्कर्ष है कि सृष्टि-प्रक्रिया शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि शिव न चाहे तो सृष्टि नहीं हो सकती

है। अशुभ की समस्या पर भी विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अशुभ जीव के इच्छा-स्वातन्त्र्य के दुरुपयोग के कारण है, इसलिए अशुभ के लिए जिम्मेदार जीव ही है।

प्रस्तुत पुस्तक के लघु आकार में काश्मीर शैव दर्शन का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करना सम्भव नहीं था, इसलिये काश्मीर शैव दर्शन के मूल सिद्धान्तों का संक्षिप्त, सरल एवं तुलनात्मक अवलोकन किया गया है। भाषा में गाम्भीर्य आरोपित करने के स्थान पर उसे सरल, सुबोधगम्य बनाने का प्रयास किया गया है। भाषा की सरलता का प्रयोग विषय की दुरूहता अथवा जटिलता को सरलता में परिणत करने के लिये जानबूझ कर किया गया है।

यह पुस्तक हमारे पी-एच० डी०, के शोध-प्रबन्ध 'काश्मीर शैव दर्शन एवं शैव-सिद्धान्त में सृष्टि' पर आधारित है। इसलिए सर्वप्रथम हम उनके आभारी हैं जिनसे शोध प्रबन्ध लिखने में हमें सहायता मिली। डॉ० रेवती रमण पाण्डेय के निर्देशन में हमारा शोध प्रबन्ध पूरा हुआ था। उन्होंने इस पुस्तक के लिए 'प्राक्कथन' लिख कर हमें सर्वदा के लिए अपना ऋणी बना लिया है; उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन शब्दों में नहीं किया जा सकता। विभाग के वरिष्ठ प्राध्यापक डॉ० रामशंकर मिश्र, डॉ० एन० एस० एस० रमन, डॉ० ए० के० चटर्जी, डॉ० एल० एन० शर्मा, डॉ० मुखर्जी; डॉ० बी० एन० सिंह, श्री के० एन० मिश्र, डॉ० नम्बूदरी, तथा कु० सर्वाणी मजुमदार से अमूल्य सुझाव मिले थे, हम उनके आभारी हैं।

काश्मीर शैव दर्शन के प्रति मेरे झुकाव का कारण काश्मीर शैव दर्शन के अधिकारी विद्वान श्री कमलाकर मिश्र का सान्निध्य रहा है, जिन्होंने हमें एम० ए० की कक्षा में काश्मीर शैव दर्शन का प्रथम पाठ पढ़ाया तथा इस विषय पर पी-एच० डी० होने योग्य बनाया। यह पुस्तक उनकी दृष्टि से गुजरने के बाद ही प्रकाशित हुई है। मैं उनका चिर ऋणी हूँ। इसके अतिरिक्त डॉ० गंगाधर, डॉ० उमेश दूबे, श्री अभिमन्यु सिंह, डॉ० अरविन्द राय, श्री शशिभूषण मोहन्ती, डॉ० देवेन्द्र नाथ तिवारी, डॉ० देवव्रत चौबे एवं डॉ० जोधसिंह का भी मैं आभारी हूँ जिनसे मुझे समय-समय पर प्रोत्साहन मिलता रहा।

मैं अपने कुछ अभिन्न मित्रों, सर्वश्री राजदेव दूबे, चन्द्रवली पाल, [illegible]न्तप्रसाद मिश्र, घनश्याम उपाध्याय तथा राम सकल यादव का हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने हर स्तर पर हमारी हर प्रकार से सहायता की।

कैलाश पति मिश्र

प्राक्कथन

उपनिषदों में दो प्रकार की विद्या का निरूपण मिलता है :—

(१) अपरा विद्या;

(२) परा विद्या।

अपरा विद्या के अन्तर्गत संसार के सभी ज्ञान-विज्ञान आ जाते हैं; किन्तु इस अपरा से मात्र प्रेयस् की सिद्धि होती है, श्रेयस् की सिद्धि इससे नहीं होती। श्रेयस् की सिद्धि परा विद्या से होती है। यह परा विद्या ही वेदान्त है। यह ब्रह्मविद्या है, अध्यात्म विद्या है, यह आत्मविद्या है। अपरा विद्या के अन्तर्गत आनेवाले समस्त शास्त्र, ज्ञान-विज्ञान, अविद्या जन्य हैं, मात्र परा विद्या ही विद्या है। शेष सब कुछ अविद्या। ब्रह्मविद् के लिये कुछ भी ज्ञातव्य शेष नहीं रहता। भगवद्गीता में कृष्ण का निम्नलिखित उद्घोष है :—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते

श्रीमद्भगवद्गीता, ७।२

वेदान्त की अन्यान्य विधायें हैं। इन विधाओं में दार्शनिक चिन्तन की परम निष्पत्ति शाङ्कर वेदान्त में हुयी है। शाङ्कर वेदान्त 'तत्पदार्थशोधनविधि' के द्वारा समस्त वस्तुजगत् का अधिष्ठान एवं उत्स एक ओर निरपेक्ष ब्रह्म में करता है, वहीं पर 'त्वम्पदार्थशोधनविधि' के माध्यम समस्त विषयि-जगत् का अधिष्ठान एवं उत्स आत्मा में करता है। अन्ततः 'तत्' एवं 'त्वम्' को 'अयम् आत्मा ब्रह्म' के माध्यम 'विषयता' अथवा 'इदन्ता' एवं 'विषयिता' अथवा 'अहंता' के भेद को दूर कर 'एकमेवाद्वितीयं सच्चिदानन्द ब्रह्म' का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार मानवीय चेतना का जैसा सशक्त एवं जीवन्त रूप शाङ्कर वेदान्त में उभरता है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

शाङ्कर वेदान्त सी ही सशक्त एवं जीवन्त एवं उसी के 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' पर अधिष्ठित यदि कोई अन्य दार्शनिक विधा है तो वह काश्मीर शैव दर्शन है। इस विधा का इतिहास अत्यल्प है। तान्त्रिक परम्परा होने के कारण यह विद्या वेदान्त से भी अधिक 'गोपनीय' बनी रही। फलस्वरूप इसका विकास वैसा नहीं हो सका जैसा वेदान्त का।

शाङ्कर वेदान्त के प्रणव के 'अ' कार, 'उ' कार, एवं 'म' कार की चरम निष्पत्ति 'तुरीय' में होती है। उसी के समानान्तर काश्मीर शैव दर्शन में शुद्धविद्या जो क्रिया की अवस्था है, के स्तर पर 'अहंता' 'इदन्ता' का स्पष्ट भेद 'अहं च इदं च' के रूप में होता है, वही ईश्वर की अवस्था पर जो ज्ञान का स्तर है, 'इदन्ता' 'अहंता' में सिमटने लगती है; 'इदमहम्' का रूप धारण करती है, वही सदाशिव के स्तर पर जो 'इच्छा' की अवस्था है, 'इदन्ता' 'अहंता' में लगभग सिमट सी जाती है, 'अहमिदम्' का रूप धारण करती है। यही 'अनुत्तर' की अवस्था में चिदानन्द परमशिव है जो 'पूर्णाहन्ता' है। सब कुछ उसी परम शिव का विभव है, 'सर्वो ममायं विभव'।

मुझे हार्दिक प्रसन्नता है कि डॉ० कैलाश पति मिश्र ने काश्मीर शैव दर्शन पर पी-यच० डी० उपाधि हेतु उत्तम शोध प्रबन्ध लिखा। शोध-प्रबन्ध के विशेषज्ञों ने हृदय से इन्हें साधुवाद दिया। डॉ० मिश्र को तान्त्रिक परम्परा विरासत में मिली है। मूल शैवागमों का काशी के तन्त्र के प्रकाण्ड आचार्यों के सान्निध्य में रहकर जिस निष्ठा से अध्ययन कर तन्त्र के रहस्यों को बन्धुवर कमलाकर मिश्र ने समझा है, वह सर्वथा स्तुत्य है। उनकी समूची ज्ञान-साधना का सहज अधिकार एवं लाभ डॉ० कैलाश पति ने काश्मीर शैव दर्शन की इस अनूठी कृति में भरपूर उठाया है। एतदर्थ उन्हें मेरी हार्दिक बधाई।

डॉ० मिश्र की इस पुस्तक की भाषा सरल, सुबोध एवं प्राञ्जल है। दार्शनिक समस्याओं का प्रतिपादन बड़ा ही सुस्पष्ट हुआ है। उच्चस्तरीय अध्ययन हेतु हिन्दी में विशेषकर तान्त्रिक विधाओं में मानक ग्रन्थों का सर्वथा अभाव है। मुझे विश्वास है कि यह पुस्तक उस अभाव की पूर्ति करेगी।

डॉ. रेवती रमण पाण्डेय
रीडर, दर्शन-विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रस्तावना

काश्मीर शैव दर्शन की उपादेयता

काश्मीर शैव दर्शन तान्त्रिक (आगमिक) परम्परा का सबसे प्रधान दर्शन है। भारतीय संस्कृति, धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में तान्त्रिक परम्परा का महत्त्वपूर्ण योगदान है। तान्त्रिक दर्शन में जीवन के ऐसे सत्यों की गवेषणा है, जिन्हें जानना सुखी जीवन के लिए अपरिहार्य है। उन चिरन्तन सत्यों का ज्ञान आज के जीवन में भी संगत है; तन्त्र ने चिरन्तन नवीन रहने वाला स्वस्थ जीवन दर्शन दिया है। तान्त्रिक (आगमिक) जीवन-दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता है जीवन एवं जगत् के प्रति भावात्मक (positive) दृष्टिकोण। तन्त्र ने जगत् एवं जागतिक मूल्यों (values) को स्वीकार कर उन्हें इस प्रकार बरतने की विधा दी है जिससे हम सुखी एवं स्वस्थ जीवन बिताते हुए जीवन के चरम लक्ष्य आत्मप्राप्ति की ओर अग्रसर होते रहें। यहाँ भोग और योग का प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का समन्वय है। यहाँ भोग भी योग बन जाता है एवं साधारणतया बन्धन करने वाला संसार स्वयं मोक्ष का साधन बन जाता है।[1]

निषेधात्मक जीवन-दर्शन का मार्जन :—इस जीवन-दर्शन का महत्त्व तब और भी प्रखर रूप से सामने आता है जब हम इसे ऐसे जीवन-दर्शनों के समकक्ष रखकर विचार करते हैं, जिनमें जीवन एवं जगत् को नकारा गया है तथा आत्म-प्राप्ति के लिए संसार के त्याग (संन्यास) की शिक्षा दी गई है। उदाहरण के लिए वेदों (उपनिषदों) को आधार मानकर चलने वाला अद्वैत-वेदान्त दर्शन यह मानता है कि परम-तत्त्व ब्रह्म (आत्मा) वस्तुतः निष्क्रिय तत्त्व है; वह स्वयं में कुछ भी नहीं करता, सारा सृष्टि-व्यापार ब्रह्म पर अविद्या (या माया) के द्वारा आक्षिप्त (super-imposed) है! दूसरे शब्दों में, अविद्या के कारण पैदा हुआ संसार ब्रह्म (जो हमारा वास्तविक स्वरूप है) के ऊपर पड़ा हुआ पर्दा अथवा अवरोध है। फ़लतः यदि अपने वास्तविक स्वरूप (आत्मा या ब्रह्म) को पाना है तो उसपर पड़े

---

१. भोगो योगायते यत्र पातकं सुकृतायते।
मोक्षायते च संसारः कुलधर्मे कुलेश्वरि ॥

—कुलार्णव तन्त्र २।२४

हुए इस अवरोध को हटाना होगा, अविद्याकृत संसार के पर्दे को फाड़ फेंकना होगा।[1] अर्थात् ब्रह्म-प्राप्ति के लिए संसार को त्यागना होगा। शंकराचार्य का अद्वैत-वेदान्त आवश्यक रूप से संन्यासवादी है।

उक्त निषेधात्मक जीवन-दर्शन मानने से यह बहुत बड़ी हानि है (और भारतीय संस्कृति का इतिहास देखें तो यह हानि स्पष्ट परिलक्षित होगी) कि यदि हम मोक्ष चाहते हैं तो हम संसार एवं सांसारिक कार्यों के प्रति उदासीन हो जाएँगे; सामाजिक उत्थान के लिए भी सक्रिय कार्य करने में हमारी विपरीत रुचि ही होगी, क्योंकि इस जीवन-दर्शन के अनुसार हम जितना ही जागतिक कार्यों में फँसेंगे, चाहे वे व्यक्तिगत हित के लिए हों अथवा समाज हित के लिए हों, उतना ही हम अपने स्वरूप (ब्रह्म) से दूर जायेंगे। इस दर्शन के अनुसार चूंकि आत्मा (ब्रह्म) निष्क्रिय है, अतः जीवन्मुक्ति होने पर किसी जागतिक क्रिया की संभावना भी नहीं रहेगी। इस निषेधात्मक जीवन-दर्शन के साथ समाजिक कार्यों की कोई संगति नहीं हो सकती। यही कारण है कि भारतवर्ष में अनेक तेजस्वी एवं प्रतिभाशील व्यक्ति इस जीवन दर्शन को मानने के कारण समाज एवं देश के उन्नयन के कार्यों से विरत रहे हैं। हम दार्शनिक स्तर पर भी व्यक्तिवादी (individualist) ही बनकर रह गए। हम स्वार्थवश अथवा कठिनाई वश समाजहित का लक्ष्य न बनावें यह बात तो समझ में आती है, किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि हमने ऐसा जीवन-दर्शन ही मान लिया जो प्रकारान्तर से वस्तुतः व्यक्तिवाद को जन्म देता है।

अद्वैत-वेदान्त में जो निष्क्रिय एवं आत्मचेतनाशून्य[2] ब्रह्म (आत्मा) की अवधारणा है वह उपनिषद् से मेल खाती है, यह भी सन्देहास्पद है। ऐसा ब्रह्म तो

---

१. अद्वैत-वेदान्त-दर्शन के प्रधान प्रवर्तक शंकराचार्य का शारीरक भाष्य (ब्रह्म-सूत्र भाष्य) के उपोद्घात में यह मन्तव्य है कि अद्वैत-वेदान्त-दर्शन का लक्ष्य वस्तुतः ब्रह्म को पाना नहीं है, वरन् माया (अविद्या) को हटाना है, क्योंकि ब्रह्म (या आत्मा) तो पूर्वप्राप्त वस्तु है, उसपर माया का पर्दा पड़ा हुआ है, इस पर्दे को हटा देने पर ब्रह्म तो अपने आप प्राप्त हो जाएगा। अतः शंकराचार्य के अनुसार अविद्या एवं अविद्याकृत संसार सारे अनर्थ की जड़ है; इसी को हटाने के लिए सारे उपनिषद् (वेदान्त) उद्यत हैं। ('एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः। अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्त आरभ्यन्ते' ।—शारीरक भाष्य, उपोद्घात।

२. शाङ्कर अद्वैत-वेदान्त के अनुसार चूंकि परब्रह्म में द्वैत का नितान्त अभाव है, इसलिए उसमें आत्मचेतना (self-consciousness) नहीं है। तन्त्र की

वस्तुतः जड़ तुल्य हो जाता है। उपनिषद् का ब्रह्म न तो जड़तुल्य है और न उपनिषद् इस प्रकार के निषेधात्मक जीवन-दर्शन को जन्म देते हैं। उपनिषदों का दृष्टिकोण तो पूर्णतः भावात्मक (positive) है। इसीलिए श्री अरविन्द, रवीन्द्र नाथ ठाकुर आदि विचारकों ने उपनिषद् के ही आधार पर ऐसा जीवन-दर्शन दिया जो पूर्णतः भावात्मक है। स्वामी विवेकानन्द ने भी 'व्यावहारिक वेदान्त' (Practical Vedanta) के रूप में वेदान्त की भावात्मक व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने तो यह स्पष्ट कर दिया कि समाज-हित का कार्य आत्मप्राप्ति का आवश्यक साधन है। वैष्णव दर्शन भी अद्वैत-वेदान्त की निषेधात्मक व्याख्या से सहमत नहीं हैं।

अद्वैत-वेदान्त ने जो निषेधात्मक दृष्टिकोण दिया है उसका एक कारण है। वह यह है कि अद्वैत-वेदान्त ब्रह्म के विषय में जिस पूर्वमान्यता (pre-supposition) को मानकर चलता है उसे मानकर चलने पर निषेधात्मक निष्कर्ष निकलेगा ही। वह पूर्वमान्यता यह है कि ब्रह्म निष्क्रिय है। ब्रह्म को निष्क्रिय मानने का भी यह कारण है कि अद्वैत-वेदान्त समस्त क्रिया को 'कर्म' मानता है और कर्म अपूर्णता का द्योतक है। साधारणतया जब हममें कोई कमी होती है तभी उस कमी की पूर्ति के लिए हम कर्म करते हैं, यदि हम पहले से ही परिपूर्ण हों तो फिर कर्म करने का क्या कारण रहेगा ? अतः यदि ब्रह्म में कर्म माना जाय तो ब्रह्म को अपूर्ण मानना होगा जो उपनिषद् की मूल मान्यता के प्रतिकूल होगा। अतः अद्वैत-वेदान्त ब्रह्म को निष्कर्मा अथवा निष्क्रिय मानता है। इसीलिए ब्रह्म में सृष्टि क्रिया नहीं मानी जा सकती। अब प्रश्न उठता है कि उपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि ब्रह्म ही सृष्टि करता है तो ब्रह्म में सृष्टिक्रिया बताने वाले इन औपनिषद् वाक्यों की व्याख्या कैसे की जाए ? शंकराचार्य इसके उत्तर में कहते हैं कि ऐसे वाक्य कहानी (आख्यायिका) के तौर पर कहे गए हैं। इन्हें शाब्दिक (literal) अर्थ में नहीं लेना चाहिए। ब्रह्म वस्तुतः निष्क्रिय होने के कारण सृष्टि नहीं करता। सृष्टि तो हम अज्ञानवश ब्रह्म में देखते हैं। किन्तु सृष्टि कैसे हुई इस प्रश्न के समाधान के लिए उपनिषद्कार यह आख्यायिका कह देते हैं कि ब्रह्म ने सृष्टि किया। यह वैसे ही है जैसे किसी बच्चे के किसी प्रश्न का सही उत्तर नहीं दिया जा सकता और भी बच्चे को सन्तुष्ट करना है तो उसकी सन्तुष्टि के लिए सयाने लोग कुछ काल्पनिक उत्तर दे देते हैं।

अवधारणा इससे भिन्न है। तन्त्र के अनुसार चूंकि शिव (ब्रह्म) स्पन्दमान अथवा क्रियाशील है, इसलिए शुद्धरूप से अद्वय-तत्त्व होते हुए भी इस स्पन्दमानता के कारण आत्म चेतना उसमें स्वाभाविक रूप से वर्तमान है। तान्त्रिक दर्शन के अनुसार आत्मचेतना (self-consciousness) तो चैतन्य (consciousness) का स्वरूप ही है।

हुए इस अवरोध को हटाना होगा, अविद्याकृत संसार के पर्दे को फाड़ फेंकना होगा।[१] अर्थात् ब्रह्म-प्राप्ति के लिए संसार को त्यागना होगा। शंकराचार्य का अद्वैत-वेदान्त आवश्यक रूप से संन्यासवादी है।

उक्त निषेधात्मक जीवन-दर्शन मानने से यह बहुत बड़ी हानि है (और भारतीय संस्कृति का इतिहास देखें तो यह हानि स्पष्ट परिलक्षित होगी) कि यदि हम मोक्ष चाहते हैं तो हम संसार एवं सांसारिक कार्यों के प्रति उदासीन हो जाएँगे; सामाजिक उत्थान के लिए भी सक्रिय कार्य करने में हमारी विपरीत रुचि ही होगी, क्योंकि इस जीवन-दर्शन के अनुसार हम जितना ही जागतिक कार्यों में फँसेंगे, चाहे वे व्यक्तिगत हित के लिए हों अथवा समाज हित के लिए हों, उतना ही हम अपने स्वरूप (ब्रह्म) से दूर जायेंगे। इस दर्शन के अनुसार चूंकि आत्मा (ब्रह्म) निष्क्रिय है, अतः जीवन्मुक्ति होने पर किसी जागतिक क्रिया की संभावना भी नहीं रहेगी। इस निषेधात्मक जीवन-दर्शन के साथ समाजिक कार्यों की कोई संगति नहीं हो सकती। यही कारण है कि भारतवर्ष में अनेक तेजस्वी एवं प्रतिभाशील व्यक्ति इस जीवन दर्शन को मानने के कारण समाज एवं देश के उन्नयन के कार्यों से विरत रहे हैं। हम दार्शनिक स्तर पर भी व्यक्तिवादी (individualist) ही बनकर रह गए। हम स्वार्थवश अथवा कठिनाई वश समाजहित का लक्ष्य न बनावें यह बात तो समझ में आती है, किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि हमने ऐसा जीवन-दर्शन ही मान लिया जो प्रकारान्तर से वस्तुतः व्यक्तिवाद को जन्म देता है।

अद्वैत-वेदान्त में जो निष्क्रिय एवं आत्मचेतनाशून्य[२] ब्रह्म (आत्मा) की अवधारणा है वह उपनिषद् से मेल खाती है, यह भी सन्देहास्पद है। ऐसा ब्रह्म तो

---

१. अद्वैत-वेदान्त-दर्शन के प्रधान प्रवर्तक शंकराचार्य का शारीरक भाष्य (ब्रह्म-सूत्र भाष्य) के उपोद्घात में यह मन्तव्य है कि अद्वैत-वेदान्त-दर्शन का लक्ष्य वस्तुतः ब्रह्म को पाना नहीं है, वरन् माया (अविद्या) को हटाना है, क्योंकि ब्रह्म (या आत्मा) तो पूर्वप्राप्त वस्तु है, उसपर माया का पर्दा पड़ा हुआ है, इस पर्दे को हटा देने पर ब्रह्म तो अपने आप प्राप्त हो जाएगा। अतः शंकराचार्य के अनुसार अविद्या एवं अविद्याकृत संसार सारे अनर्थ की जड़ है; इसी को हटाने के लिए सारे उपनिषद् (वेदान्त) उद्यत हैं। ('एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः। अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्त आरभ्यन्ते'।—शारीरक भाष्य, उपोद्घात।

२. शाङ्कर अद्वैत-वेदान्त के अनुसार चूंकि परब्रह्म में द्वैत का नितान्त अभाव है, इसलिए उसमें आत्मचेतना (self-consciousness) नहीं है। तन्त्र की

वस्तुतः जड़ तुल्य हो जाता है। उपनिषद् का ब्रह्म न तो जड़तुल्य है और न उपनिषद् इस प्रकार के निषेधात्मक जीवन-दर्शन को जन्म देते हैं। उपनिषदों का दृष्टिकोण तो पूर्णतः भावात्मक (positive) है। इसीलिए श्री अरविन्द, रवीन्द्र नाथ ठाकुर आदि विचारकों ने उपनिषद् के ही आधार पर ऐसा जीवन-दर्शन दिया जो पूर्णतः भावात्मक है। स्वामी विवेकानन्द ने भी 'व्यावहारिक वेदान्त' (Practical Vedanta) के रूप में वेदान्त की भावात्मक व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने तो यह स्पष्ट कर दिया कि समाज-हित का कार्य आत्मप्राप्ति का आवश्यक साधन है। वैष्णव दर्शन भी अद्वैत-वेदान्त की निषेधात्मक व्याख्या से सहमत नहीं हैं।

अद्वैत-वेदान्त ने जो निषेधात्मक दृष्टिकोण दिया है उसका एक कारण है। वह यह है कि अद्वैत-वेदान्त ब्रह्म के विषय में जिस पूर्वमान्यता (pre-supposition) को मानकर चलता है उसे मानकर चलने पर निषेधात्मक निष्कर्ष निकलेगा ही। वह पूर्वमान्यता यह है कि ब्रह्म निष्क्रिय है। ब्रह्म को निष्क्रिय मानने का भी यह कारण है कि अद्वैत-वेदान्त समस्त क्रिया को 'कर्म' मानता है और कर्म अपूर्णता का द्योतक है। साधारणतया जब हममें कोई कमी होती है तभी उस कमी की पूर्ति के लिए हम कर्म करते हैं, यदि हम पहले से ही परिपूर्ण हों तो फिर कर्म करने का क्या कारण रहेगा? अतः यदि ब्रह्म में कर्म माना जाय तो ब्रह्म को अपूर्ण मानना होगा जो उपनिषद् की मूल मान्यता के प्रतिकूल होगा। अतः अद्वैत-वेदान्त ब्रह्म को निष्कर्मा अथवा निष्क्रिय मानता है। इसीलिए ब्रह्म में सृष्टि क्रिया नहीं मानी जा सकती। अब प्रश्न उठता है कि उपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि ब्रह्म ही सृष्टि करता है तो ब्रह्म में सृष्टिक्रिया बताने वाले इन औपनिषद् वाक्यों की व्याख्या कैसे की जाए? शंकराचार्य इसके उत्तर में कहते हैं कि ऐसे वाक्य कहानी (आख्यायिका) के तौर पर कहे गए हैं। इन्हें शाब्दिक (literal) अर्थ में नहीं लेना चाहिए। ब्रह्म वस्तुतः निष्क्रिय होने के कारण सृष्टि नहीं करता। सृष्टि तो हम अज्ञानवश ब्रह्म में देखते हैं। किन्तु सृष्टि कैसे हुई इस प्रश्न के समाधान के लिए उपनिषद्कार यह आख्यायिका कह देते हैं कि ब्रह्म ने सृष्टि किया। यह वैसे ही है जैसे किसी बच्चे के किसी प्रश्न का सही उत्तर नहीं दिया जा सकता और भी बच्चे को सन्तुष्ट करना है तो उसकी सन्तुष्टि के लिए सयाने लोग कुछ काल्पनिक उत्तर दे देते हैं।

अवधारणा इससे भिन्न है। तन्त्र के अनुसार चूंकि शिव (ब्रह्म) स्पन्दमान अथवा क्रियाशील है, इसलिए शुद्धरूप से अद्वय-तत्त्व होते हुए भी इस स्पन्दमानता के कारण आत्म चेतना उसमें स्वाभाविक रूप से वर्तमान है। तान्त्रिक दर्शन के अनुसार आत्मचेतना (self-consciousness) तो चैतन्य (consciousness) का स्वरूप ही है।

ब्रह्म को निष्क्रिय मानने का मूलभूत कारण यह है, और जिसे अद्वैत-वेदान्त दर्शन की सबसे बड़ी कमी कहा जा सकता है, कि अद्वैत-वेदान्त में क्रिया या स्पन्द (spontaneity) की अवधारणा ही नहीं है। वहाँ समस्त क्रिया को अपूर्णता का द्योतक 'कर्म' ही समझा गया है। वहाँ इस बात पर ध्यान ही नहीं दिया गया है कि ऐसी भी क्रिया होती है जो अपूर्णता की द्योतक नहीं है और फलतः जिसे 'कर्म' नहीं कहा जा सकता। यह सत्य है कि साधारणतया जो कर्म हम करते हैं वह प्रायः अपूर्णता या कमी से ही उत्थित होता है; किन्तु ऐसा भी होता है कि कभी जब हम कमी का अनुभव नहीं करते और आनन्द में रहते हैं तो कुछ क्रियायें स्वाभाविक रूप से फूटती हैं। उदाहरण के लिए जब हम आनन्द में परिपूर्ण होते हैं तो उस आनन्द से गाना, नाचना आदि क्रियायें स्वाभाविक रूप से प्रस्फुटित हो सकती हैं। बच्चा जब किलकारी भर कर खेलता है तो यह नहीं है कि बच्चा अपने भीतर किसी कमी की पूर्ति के लिए ऐसा करता है, वरन् बच्चे में जो सहज आनन्द है वही किलकारी के रूप में प्रवाहित या स्फुरित होता है। उत्तम काव्यात्मक सर्जन भी ऐसा ही स्फुरण है। ऐसे ही स्फुरण को तन्त्र में 'क्रिया', 'स्पन्द', 'विमर्श', 'शक्ति', 'स्वातन्त्र्य' आदि नामों से कहा गया है। इसी को सूफी लोग 'मौज' कहते हैं। हम अपने जागतिक अनुभव में 'स्पन्द' का जो उदाहरण पाते हैं वह भले ही शत प्रतिशत शुद्ध न हो (अर्थात् उसमें थोड़ी बहुत अपूर्णता भले ही हो) किन्तु इससे पूर्ण 'क्रिया' या 'स्पन्द' की सम्भावना द्योतित होती है और यह मानने में कठिनाई नहीं होती कि शिव में पूर्ण 'क्रिया' सम्भव है। यह 'क्रिया' 'कर्म' नहीं है और फलतः अपूर्णता के कारण नहीं है, वरन् आनन्द की पूर्णता का स्वाभाविक स्फुरण है। तन्त्र यह मानते हैं कि सृष्टि क्रिया शिव का ऐसा ही स्पन्द है। सृष्टि क्रिया को प्रतीकात्मक भाषा में नटराज (शिव) का आनन्द नर्तन कहा गया है। इसी को 'लीला' भी कहते हैं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि यह कहना भी उतना ठीक नहीं होगा कि आनन्द **के लिए** सृष्टि होती है, वरन् यह कहना अधिक ठीक होगा कि आनन्द **'से'** सृष्टि होती है। तात्पर्य यह कि सृष्टि के लिए आनन्द आदि कोई भी प्रयोजन नहीं है वरन् सृष्टि आनन्द के परिणाम स्वरूप होती है—आनन्द पहले, सृष्टि बाद में। बच्चा भी जो किलकारी भरकर खेलता है तो ऐसा नहीं है कि बच्चा आनन्द **'के लिए'** खेलता है, वरन् बच्चा आनन्द **'से'** खेलता है या आनन्द 'के कारण' खेलता है।

तन्त्र वेद का पूरक :—उपनिषद् में भी यही माना गया है कि सृष्टि ब्रह्म के आनन्द **"से'** होती है (आनन्दाद् हि एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते)। दूसरे शब्दों में, उपनिषद् में 'स्पन्द' की अवधारणा स्पष्ट रूप से वर्तमान है। ब्रह्म को

निष्क्रिय मानने और फलतः सृष्टिपरक वाक्यों को 'आख्यायिका' मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। हाँ, कथ्य को रोचक बनाने के लिए उपनिषद्कार ने इतनी आख्यायिका भले ही लगा दी हो कि 'उसको अकेले अच्छा नहीं लगा, अतः उसने इच्छा किया कि अनेक बन जाऊँ और पैदा करूँ' (स एकाकी न रेमे, सैक्षत एकोऽहं बहुस्याम् प्रजायेय इति), किन्तु मूल बात (अर्थात् सृष्टि-क्रिया) को भी आख्यायिका मानना न केवल आवश्यक है वरन् तात्पर्यार्थ के विरुद्ध भी है। उक्त बात को समझा जाए तो यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि ब्रह्म और ईश्वर का भेद करना (जैसा कि अद्वैत-वेदान्तियों ने किया है) भी अनावश्यक एवं अनुचित है। उपनिषद् का ब्रह्म न तो वस्तुतः निष्क्रिय[1] है और न ही उपनिषद् में ब्रह्म तथा ईश्वर का भेद किया गया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि तान्त्रिक दर्शन में जो 'क्रिया' या 'स्पन्द' का मूल सिद्धान्त है वह उपनिषद् में भी वर्तमान है। हाँ, उपनिषद् में वह लगभग बीजरूप में या सूत्र रूप में है उसका पल्लवन नहीं किया गया है। जितने आग्रह (emphasis) एवं विस्तार के साथ स्पन्द की व्याख्या करने की आवश्यकता है उतना नहीं किया गया है। दूसरे शब्दों में, उपनिषद् में 'स्पन्द' को स्वीकार किया गया है, किन्तु दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में उसे पल्लवित नहीं किया गया है। यह काम तन्त्र ने किया है। यह कहना चाहिए कि उपनिषद् के अधूरे काम को तन्त्र ने पूरा किया है। तन्त्र (आगम) न तो वेद (उपनिषद्) का विरोधी है और न वेद की पुनरावृत्ति मात्र है, वरन् वह वेद का पूरक है। वेद और तन्त्र—निगम और आगम—दोनों मिलकर सत्य का ज्ञान पूर्ण करते हैं, और यही पूर्ण ज्ञान भारतीय दर्शन, धर्म एवं संस्कृति का मूल स्रोत है।

तन्त्र वेद के पूरक हैं इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि यह मानना आवश्यक है कि तन्त्र वेद के बाद आए। लिखित रूप में तन्त्र भले ही वेदों के बाद आए हों (जैसा कि तन्त्रों की भाषा से प्रकट होता है), किन्तु विचार एवं साधना की परम्परा के रूप में तान्त्रिक दर्शन वेदों के समकक्ष अथवा उनके पहले से भी रहा हो सकता है। हो सकता है, जैसा कि कुछ लोग मानते हैं, कि तान्त्रिक परम्परा

---

१. उपनिषद् में ब्रह्म को जो निष्प्रपञ्च एवं निष्कर्मा अथवा निष्क्रिय कहा गया है वह 'कर्म' के ही अर्थ में है। ब्रह्म में कर्म नहीं है क्योंकि ब्रह्म पूर्ण है, उसे कुछ करना नहीं है। तान्त्रिक दर्शन भी शिव (ब्रह्म) में 'कर्म' नहीं मानते। किन्तु ब्रह्म में आनन्द का उद्रेक तो है ही, जिसे तन्त्र में 'क्रिया' या 'स्पन्द' कहते हैं।

द्रविण संस्कृति का अंग रही हो। वैदिक एवं तान्त्रिक परम्पराओं का इतिहास चाहे जो भी रहा हो, ये दोनों परम्पराएँ जिस रूप में हमारे सामने हैं उससे यही स्पष्ट होता है कि दोनों मिलकर एक स्वस्थ एवं पूर्ण परम्परा बनती है।

क्रिया-सिद्धान्त :—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि तान्त्रिक (आगमिक) दर्शन (जो काश्मीर शैव परम्परा में पूर्णतया प्रकटित है) की यह महत्त्वपूर्ण भूमिका है कि एक ओर वह वैदिक (औपनिषद्) दर्शन को पूर्ण करता है, तथा दूसरी ओर अद्वैत-वेदान्त द्वारा दिए गए निषेधात्मक दृष्टिकोण का मार्जन करता है। ऐसा वह मुख्य रूप से अपनी 'क्रिया' की अवधारणा से करता है। 'क्रिया' (स्पन्द) की अवधारणा जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, तान्त्रिक दर्शन की मूलभूत विशेषता है। तन्त्र में इस बात को समझा गया है कि जो परमतत्त्व चैतन्य (संवित् या चिति) है और जिसे शिव कहा गया है उसके स्वरूप में केवल ज्ञान ही नहीं है वरन् क्रिया भी है। चैतन्य सक्रिय (dynamic) है; वह शक्ति (Force or energy) रूप है। शिव (अथवा चैतन्य) की क्रियाशीलता (dynamism) का ही नाम शक्ति है; इसीलिए शिव वस्तुतः शक्तिरूप है। चैतन्य केवल शिव या ज्ञान या प्रकाश नहीं है, वरन् शिव-शक्ति, ज्ञान-क्रिया, प्रकाश-विमर्श है। जैसे जलधारा में 'जल' और 'धारा' दो शब्द होते हुए भी दो तत्त्व नहीं हैं, वहते हुये जल का ही नाम धारा है, उसी प्रकार शिव और शक्ति दो शब्द होते हुए भी दो तत्त्व नहीं हैं; शिव की क्रियाशीलता ही शक्ति है, अथवा क्रियाशील शिव का ही नाम शक्ति है। शिव-शक्ति का यह तादात्म्य ही प्रतीक रूप में अर्द्धनारीश्वर की अवधारणा में आया है, जहाँ एक ही व्यक्ति शिव और पार्वती दोनों एक साथ ही है।

क्रिया-सिद्धान्त ही काश्मीर शैव दर्शन का मूल सिद्धान्त (key-principle) है जिससे उसके अन्य सिद्धान्तों की भी व्याख्या होती है। उदाहरण के लिए परम चैतन्य (शिव) में आत्म-चेतना या 'अहं-विमर्श' (self-consiousness) की व्याख्या भी क्रिया से होती है। शिव में जो स्वरूपतः क्रिया (dynamism) है वही अहं-ज्ञान (self-consciousness) के लिए जिम्मेदार है। अहं-ज्ञान चैतन्य की स्वाभाविक क्रिया है। इसीलिए उसे अहं-'विमर्श' कहते हैं (चैतन्य की क्रिया का नाम विमर्श है)। अहं-विमर्श चैतन्य की नित्य क्रिया अथवा नित्यस्पन्द है। इसीलिए चैतन्य (consciousness) कभी भी आत्म-चेतना या अहंविमर्श (self-consciousness) से विरहित नहीं हो सकता; आत्म-चेतना उसका स्वरूप ही है। काश्मीर शैव दार्शनिक अद्वैत-वेदान्त पर आक्षेप करेगा कि यदि चैतन्य (ब्रह्म) में आत्म-चेतना नहीं है तो फिर वह जड़ की ही भाँति हो गया।

जड़ से चैतन्य की यही तो विशेषता है कि जड़ को अपने आप का ज्ञान नहीं है किन्तु चैतन्य को अपने आप का ज्ञान है।

सृष्टि शिव का स्पन्द है :—क्रिया-सिद्धान्त (स्पन्द-सिद्धान्त) से ही सृष्टि की भी व्याख्या होती है। शिव किसी कमी की पूर्ति के लिए अथवा किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए सृष्टि नहीं करता वरन् जब आनन्द में स्पन्दित होता है तो सृष्टि-क्रिया स्वाभाविक रूप से फूटती है। इसमें शिव को कोई विवशता (compulsion or necessity) नहीं है, यह शिव की पूर्ण स्वातन्त्र्य-क्रिया है। दूसरे शब्दों में, सृष्टि शिव का स्पन्द अथवा लीला-विलास है; शिव अपने आनन्द में स्पन्दित होकर सृष्टि-क्रिया के रूप में नाचता है अथवा खेल खेलता है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि सृष्टि-क्रिया शिव का खेल (लीला) है तो यह कोई गम्भीर (serious) कार्य नहीं हुआ; क्या शिव भी गम्भीर एवं सार्थक कार्य करने के बजाय बच्चों जैसा खिलवाड़ करता है ? उत्तर में यह कहा जा सकता है कि मनोविश्लेषणात्मक (psycho-analytic) दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होगा कि तथाकथित गम्भीर (serious) एवं सार्थक (meaningful) कार्य अहंकार में उत्थित एक प्रकार की आत्म-प्रवञ्चना (self-deception) है। आखिर 'गम्भीर' एवं 'सार्थक' कार्य भी किसलिए है ? यह तो है नहीं कि केवल कार्य के लिए कार्य किया जाए, कार्य तो किसी लाभ के ही लिए किया जाएगा। और अन्तिम लाभ तो आनन्द एवं आत्मतृप्ति ही है, चाहे वह अपने जीवन में हो या चाहे दूसरों के जीवन में हो। मनः चिकित्सा (psychotherapy) की दृष्टि से आनन्द में किया गया कार्य स्वास्थ्य-मूलक है, क्योंकि उसमें विश्रान्ति (relaxation) है। किन्तु जो काम हम किसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए चिन्तित होकर करते हैं उसमें हम तनाव (tension) की मनःस्थिति में रहते हैं। आनन्द में किए गए कार्य में हम अपेक्षाकृत अपने स्वरूप (शिवत्व) में रहते हैं—'स्वस्थ' अर्थात् 'स्व' में 'स्थित' रहते हैं। शिव (या शिव-चैतन्य) पूर्ण विश्रान्ति (perfect relaxation) की अवस्था है, और उसे मानसिक स्वास्थ्य की आदर्श अवस्था कहा जा सकता है।

यह भी नहीं है कि हम स्वयं तनाव में कार्य कर कम से कम दूसरों को आनन्दित कर सकें। यह देखा जा सकता है कि हम अपने विश्रान्ति (आनन्द)-परक कार्यों से दूसरों में विश्रान्ति लाते हैं और अपने तनावपूर्ण कार्यों से दूसरों में तनाव पैदा करते हैं। बच्चा आनन्द में खेलता है तो उससे दूसरे भी आनन्दित होते हैं। कलात्मक सर्जन आदि भी आनन्द-कार्य हैं और उससे दूसरों को भी आनन्द

होता है। प्रेम विश्रान्ति (relaxation) की स्थिति है, उससे दूसरों में भी विश्रान्ति आती है, किन्तु इसी प्रकार क्रोध, घृणा इत्यादि तनाव (tension) की स्थिति है जिससे दूसरों में भी तनाव ही उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह कि आनन्द से किए कार्य से ही जगत् का कल्याण होगा। हिन्दू धर्म में अवतार की जो अवधारणा है उससे भी यह बात स्पष्ट होती है। अवतार के विषय में यह कहा जाता है कि (क) वह लीला करता है तथा (ख) वह जगत् का कल्याण करता है। ये दोनों बातें देखने में परस्पर-विरोधी (paradoxical) हैं, किन्तु वस्तुतः दोनों सत्य हैं। अवतार अपने लिए आनन्द में लीला करता है, किन्तु जगत् के लिए वही कार्य सहज रूप से उपकारी हो जाता है। जीवन्मुक्त के विषय में भी यही सत्य है। भगवान कृष्ण के जीवन को जीवन्मुक्ति का पूर्ण उदाहरण कहा जा सकता है।

इस सन्दर्भ में यह भी प्रश्न किया जा सकता है कि यदि जीवन एवं जगत् के कार्यों को खेल के लिए या खेल में ही किया जाए तो उन कार्यों की सार्थकता ही नष्ट हो जाएगी, कोई भी काम ठीक से हो ही नहीं पाएगा। उत्तर में यहाँ भी यह कहा जाएगा कि आनन्द से किए गए कार्य ही कुशलतापूर्वक सम्पन्न हो सकते हैं, क्योंकि उस स्थिति में आत्मा की क्रिया शक्ति निर्वाध रूप से काम करती है। किन्तु तनाव की स्थिति में काम करने पर क्रियाशक्ति पर अवरोध (inhibition) रहता है जिससे कार्य ठीक से नहीं हो पाता। कोई कवि या लेखक आनन्द के स्पन्दन (spontaneity) में रचना करता है तो रचना अच्छी होती है; और यदि अपनी चेतना पर जोर (strain) डालकर करता है तो रचना अच्छी नहीं होती। यही बात अन्य कार्यों पर भी लागू होती है। अवतार या जीवन्मुक्त बड़े बड़े काम कुशलता पूर्वक इसीलिए कर पाता है कि वह आनन्द की स्थिति में लीलारूप से कार्य करता है। वह योग की सहज समाधि की अवस्था में रहता है, और योग की अवस्था में किए गए कार्य एक ओर आनन्द-क्रीडन के रूप में होते हैं तथा दूसरी ओर पूर्ण सक्षम होते हैं।

यह भी प्रश्न उठता है कि सृष्टि यदि शिव का आनन्द-क्रीडन या लीला-विलास है तो जगत् में जो बुराई (पाप) और दुःख है वह क्या है? क्या शिव इसके लिए जिम्मेदार नहीं है? इसका उत्तर खेल के दृष्टान्त से ही देना समीचीन होगा। खेल का प्रवर्तन इसलिए हुआ है कि उसमें भाग लेने वाले सभी खिलाड़ी आनन्दपूर्वक खेलें और कोई गड़बड़ी न करें। किन्तु जो खिलाड़ी उसमें भाग लेते हैं वे यन्त्रमानव (robot) नहीं हैं, उनमें इच्छा-स्वातन्त्र्य है; और ऐसा भी होता है कि कोई खिलाड़ी अपने इच्छा-स्वातन्त्र्य का दुरुपयोग कर खेल का डण्डा गेंद पर

मारने के बजाय दूसरे खिलाड़ी की टाँग पर मार देता है अथवा खेल के नियमों का उल्लंघन करता है। यह उसका अपराध है और इसके लिए उसे दण्ड दिया जाता हैं; खेल में दण्ड-व्यवस्था भी है। खेल के प्रवर्तक ने खेल इसलिए नहीं चलाया कि खिलाड़ी अपराध करें और न तो खिलाड़ी के अपराध की जिम्मेदारी प्रवर्तक पर है क्योंकि खिलाड़ी अपने इच्छा-स्वातन्त्र्य से अपराध करता है। खेल में बुराई और फलत: दण्ड व्यवस्था होने पर भी खेल को खेल ही कहा जाएगा। उसी प्रकार शिव ने सृष्टि का खेल चलाया है और उसमें अन्य खिलाड़ियों (जीवों) को लगा रक्खा है। जीवों में इच्छा-स्वातन्त्र्य है और उनके इच्छा-स्वातन्त्र्य में शिव कुछ हद तक दखल नहीं देता; क्योंकि दखल देने से वे यन्त्रमानव (robot) की तरह हो जाएँगे और उनका स्वतन्त्र अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। शिव कभी नहीं चाहता कि जीव अपराध करें और शिव जीवों को भला बनाने के लिए अपनी ओर से नाना प्रकार के उपाय करता है किन्तु फिर भी जीव अपने इच्छा-स्वातन्त्र्य का दुरुपयोग कर अपराध करते हैं। फलत: उनको दु:ख के रूप में दण्ड मिलता है। शिव ने जीवों के सुधार के लिए एवं सृष्टि-खेल को समुचित रूप से चलाने के लिए कर्म नियम के द्वारा जो दण्डव्यवस्था लागू की है वह भी सृष्टि खेल का ही अंग है।

प्रत्यभिज्ञा :—जैसे 'क्रिया' काश्मीर शैव दर्शन का मूल सिद्धान्त (Key-principle) है, वैसे 'प्रत्यभिज्ञा' इस दर्शन की मूल समस्या (Key-Problem) या मूल लक्ष्य या मूल उपादेय है। सारे तन्त्रशास्त्र का यही प्रयोजन है कि हम अपने स्वरूप को पहचान कर सुखी हो सकें। 'हम हैं' इतना तो स्पष्ट है। कर्ता एवं ज्ञाता के रूप में हमारी सत्ता स्वत:सिद्ध है; सभी ज्ञान एवं क्रिया के आधार रूप में हम पहले से ही हैं, इसलिए हम 'आदिसिद्ध' हैं।[1] किन्तु हम नहीं जानते कि हम वास्तव में कौन हैं, अपना वास्तविक परिचय हमे मालूम नहीं है। आगम परिचय कराते हैं कि हम वास्तव में शिव हैं किन्तु मलावरण के कारण अपना स्वरूप भूले हुए हैं। मलावरण हटने पर अपने आप की 'पहचान' हो जाएगी। इसे आत्म-प्रत्यभिज्ञा (अपने आप की पहचान) कहा जाता है। यही मोक्ष या आत्म प्राप्ति है। चूंकि आवरण अज्ञानमूलक है इसलिए आत्मप्राप्ति ज्ञान से ही होगी।

इस विषय में तन्त्रशास्त्र या काश्मीर शैव दर्शन की एक अपनी विशेषता है। वह है पौरुष अज्ञान (एवं पौरुष ज्ञान) की अवधारणा तथा बौद्ध अज्ञान (एवं

---

१. कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे।
अजडात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत कः।
ई० प्र० १।१।२

बौद्ध ज्ञान) से उसका भेद । प्रायः सभी भारतीय दर्शन अज्ञान को बन्धन का कारण एवं ज्ञान को मुक्ति का कारण मानते हैं । किन्तु ज्ञान का अर्थ स्पष्ट न करने के कारण यह भ्रम हो सकता है, और बहुतों को होता भी है, कि ज्ञान का अर्थ बौद्धिक समझ है, और तब यह बात नहीं बैठती कि बौद्धिक जानकारी हो जाने मात्र से कैसे मोक्ष सम्भव है । ऐसा होता तो शास्त्रज्ञान होने से सब मुक्त ही हो जाते । इसी को समझाने के लिए तन्त्र में 'पौरुष' ज्ञान की अवधारणा है । ज्ञान केवल बौद्धिक नहीं है, बौद्धिक ज्ञान से तो केवल बौद्धिक अज्ञान दूर होगा । किन्तु जो अज्ञान हमें स्वरूप-प्राप्ति से विमुख किए हुए है वह बौद्धिक अज्ञान नहीं है वरन् आध्यात्मिक मल हैं जो समूचे व्यक्ति (पुरुष) को पकड़े हुए है । इसीलिए उसे 'पौरुष' अज्ञान कहते हैं । वास्तविक साधना से ही आध्यात्मिक मल दूर होता है । वास्तविक साधना द्वारा हमारी चेतना में परिवर्तन होकर जो आध्यात्मिक प्रकाश (spiritual enlightenment) आता है वह 'पौरुष' ज्ञान है और उसी से पौरुष अज्ञान दूर होकर स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा या जीवन्मुक्ति होती है । अतः वास्तविक समस्या पौरुष अज्ञान की है । तन्त्रशास्त्र में किया गया 'बौद्ध' एवं 'पौरुष' का यह भेद बहुत ही महत्त्वपूर्ण समझ प्रदान करता है ।

जीवन्मुक्ति की विशेषता :—जीवन्मुक्ति की अवधारणा में भी काश्मीर शैव दर्शन की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं । अद्वैत-वेदान्त के अनुसार जीवन्मुक्ति की अवस्था में व्यक्ति केवल अपना प्रारब्ध कर्म क्षय होने तक के लिए संसार में जीता है । उसको संसार से कोई प्रयोजन नहीं होता और न सांसारिक कार्यों में उसकी कोई रुचि होती है । उसमें क्रिया सम्भव नहीं है क्योंकि वह अपने निष्क्रिय स्वरूप को प्राप्त कर लेता है । किन्तु काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार जीवन्मुक्ति की अवस्था पूर्ण सक्रियता की अवस्था है । चूँकि क्रिया या स्पन्द आत्मा के स्वरूप में ही है, अतः जीवन्मुक्त का स्वाभाविक रूप से क्रियाशील होना तर्कसंगत ही है । वह समस्त सामाजिक एवं लौकिक कार्य अच्छी तरह करेगा और उससे स्वाभाविक रूप से जगत् का उपकार होगा । हाँ, स्वयं उसके लिए उसके सभी कार्य आनन्द-कार्य या लीला-कर्म होंगे क्योंकि उसके सभी कार्य स्पन्दरूप होंगे ।

काश्मीर शैव दर्शन के जीवन्मुक्ति (या आत्मप्राप्ति) की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि यहाँ आत्मा (जिसकी प्राप्ति जीवन्मुक्ति में होती है) जगत् से कटा हुआ (isolated) नहीं है, वरन् जगत् में समाहित है । वह जगत् से ऊपर उठा हुआ सारे जगत् को आत्मसात् किये हुये है । जीवन्मुक्त जान लेता है कि सब रूप

में मैं ही हूँ अथवा यह सब मेरा ही वैभव है [1]; वह सारे संसार से अपने एकत्व की अनुभूति करता है। जीवन्मुक्ति पूर्ण विश्वप्रेम की स्थिति है। जगत् बन्धन नहीं है; जगत् को अपने से भिन्न समझना वन्धन है।

इसी से यह बात भी निकलती है, कि भुक्ति एवं मुक्ति में कोई वास्तविक विरोध नहीं है। जीवन्मुक्त, व्यक्ति संसार के भोगों को भी अपने स्वरूप के लीला-विलास के रूप में लेता है। वह जागतिक भोगों में भी अपने स्वरूप को ही भोगता है; जगदानन्द उसके स्वरूपानन्द का ही स्फुरण है। भोगों को जब हम भोग के रूप में ग्रहण करते हैं अर्थात् भूख की स्वार्थपूर्ण तृप्ति (selfish gratification) के रूप में लेते हैं तो भोग उतना सुख भी नहीं देते और साथ ही बन्धन करते हैं। किन्तु जब भोग को इच्छा-तृप्ति के लिए नहीं वरन् स्वाभाविक आनन्द के स्पन्द या स्फुरण रूप में लिया जाता है तो वह बन्धन नहीं करता और उसका आनन्द भी उदात्त होता है, क्योंकि वहाँ स्वरूपानन्द अपनी शुद्धतर अवस्था में होता है। उदाहरण के लिए (भले ही यह उदाहरण उतना पूर्ण नहीं है) जब हम काम-सम्बन्ध को स्वार्थपूर्ण इच्छातृप्ति के रूप में करते हैं तो यह निम्न है; किन्तु उसी को जब हम प्रेम के उल्लास के रूप में लेते हैं तो वह अपेक्षाकृत उदात्त होता है। भोग वन्धन नहीं है; बन्धन स्वार्थ और अहंकार है। तन्त्र में कहा गया है कि जैसे सूर्य सारी गन्दगी को सोखकर भी या अग्नि सारी गन्दगी को खाकर भी गन्दा नहीं होता, उसी प्रकार योगी (जीवन्मुक्त) सभी भागों को भोगकर भी पाप से लिप्त नहीं होता। [2]

शिव-भावना :—तान्त्रिक मत की उपर्युक्त दार्शनिक विशेषताएँ तान्त्रिक धर्म एवं साधना के क्षेत्र में भी स्वानुरूप वैशिष्ट्य लाती हैं, जो समानरूप से महत्त्वपूर्ण है। जब जगत् शिव के ऊपर आक्षिप्त अवरोधरूप न होकर शिव का ही लीलाभास अथवा अभिव्यक्ति (manifestation) है तो स्वाभाविक है कि इस दार्शनिक मान्यता के आधार पर जो धर्म निकलेगा उसमें जगत् एवं जागतिक पुरुषार्थों (values) के प्रति समादर का भाव होगा। इसीलिए तान्त्रिक धर्म में जगत् की प्रत्येक वस्तु के प्रति श्रद्धा एवं पूजा का भाव किया जाता है—यह

---

१. सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानतः।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता ॥
—ईश्वर प्रत्यभिज्ञा ४।१।१२

२. सर्वशोषी यथा सूर्यः सर्वभोगी यथाऽनलः।
योगी भुक्त्वाखिलान् भोगान् तथा पापैर्न लिप्यते ॥
—कुलार्णव तन्त्र ९।७६

भावना की जाती है कि सब शिवरूप (divine) है। इसे शिव-भावना कहते हैं। मनुष्यों में पुरुष शिव है तथा स्त्री देवी (शक्ति) है। स्त्री-पुरुष, माता-पिता, गुरु, बच्चे आदि सभी भगवद्रूप होने से पूज्य हैं। जड़ वस्तुओं के प्रति भी पूजा का भाव है। साधारणतया जिन वस्तुओं को हम अशुद्ध एवं अशिव समझते हैं उनके प्रति भी शिवभावना की साधना की जाती है। उदाहरण के लिए पञ्चमकार (मद्य, मांस, मीन, मुद्रा एवं मैथुन) को भी शिव रूप मानकर उनके प्रति पूजा का भाव किया जाता है। इसी न्याय को और आगे बढ़ाने पर, जैसा कि अघोरी साधना में होता है, मल-मूत्रादि के प्रति भी शिव-भावना का प्राविधान है। हमने अहंकारवश शुद्ध-अशुद्ध, शिव-अशिव, का जो कृत्रिम एवं झूठा भेद रच रक्खा है उसे दूर करने के लिए शिवभावना सशक्त औषधि है। किन्तु शिवभावना का यह तात्पर्य नहीं है कि हम जगत् की वास्तविक बुराइयों को भी ले लें। उदाहरण के लिए हम बच्चों को भगवान् का रूप मानते हुए उनकी गलती पर उन्हें दण्ड दे सकते हैं—इन दोनों बातों में कोई विरोध नहीं है। इसी अर्थ में कहा गया है कि भावना में अद्वैत करना चाहिए, क्रिया में नहीं (भावाद्वैत सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कर्हिचित्)। सच्चा भक्त भी सबमें अपने भगवान् को ही देखता है।

वासना का उदात्तीकरण :—तान्त्रिक धर्म-साधना की सबसे बड़ी विशेषता है कि उसमें इस बात को महत्त्व दिया गया है कि जगत् को जीतने अथवा जगत् से ऊपर उठने के लिए जगत् को मारना या जगत् का त्याग करना सही रास्ता नहीं है, वरन् उसे आत्मसात् करके बदल लेना सही रास्ता है। इस समझ के पीछे वस्तुतः वासना के उदात्तीकरण (sublimation of desires) का सिद्धान्त है। तन्त्र ने यह सत्य उजागर (discover) किया है कि वासनाएँ शक्तिरूप (energy) हैं और वे मारने से नहीं मरतीं वरन् उनका रूपान्तरण (transformation) ही होता है। जैसे भौतिक शक्ति मरती नहीं है, केवल रूपान्तरित होती है, उसी प्रकार वासनारूप चैतन्यशक्ति भी मरती नहीं, केवल रूपान्तरित होती है। वासनाओं को मारने का प्रयास करने से उनपर विजय प्राप्त नहीं होती। मनोविज्ञान ने भी यह सत्य उजागर किया है कि वासना को मारने से वह मरती नहीं, वरन् दमित होकर हमारे अचेतन मन (unconscious mind) में रहती है तथा भेष बदलकर निकलती है; इससे हमारे व्यक्तित्व का विभाजन (dissociation of personality) होता है और हम मानसिक रोगी हो जाते हैं। तान्त्रिक परम्परा में यह समझ पहले

से विद्यमान है। इसीलिए तन्त्र ने वासना के रूपान्तरण (transformation) अथवा उदात्तीकरण (sublimation) का मार्ग दिया है। जैसे पानी भाफ बन जाता है अथवा जैसे पौधा दुर्गन्धपूर्ण एवं कुस्वादु सड़ी गली खाद का ही रस ग्रहण कर उसे सुगंधित फूल एवं सुस्वादु फल (अथवा अन्न) के रूप में परिवर्तित कर देता है, उसी प्रकार हमारे व्यक्तित्व में भी वासना के उदात्तीकरण का नियम काम करता है। उदाहरण के लिए कामशक्ति ही रूपान्तरित होकर प्रेम, भक्ति, कलात्मक सर्जन आदि उदात्त रूपों में प्रकाशित होती है। काम आदि वासना भी परम चितिशक्ति का ही सूक्ष्म से स्थूल में प्रकटीकरण है, और पुनः यह स्थूल से सूक्ष्म में रूपान्तरित हो जा सकती है।

अतः तन्त्र ने अपनी दार्शनिक मान्यता के अनुरूप ही योग के ऐसे अनेक प्रारूप प्रस्तुत किए हैं जिनसे वासना का उदात्तीकरण होता है और फलतः मुक्ति की प्राप्ति होती है। कौल-साधना (वाममार्ग) भी इसीलिए है। यद्यपि व्यवहार में अधिकांशतः कौल साधना के नाम पर पाखण्डी लोग वासना की तृप्ति मात्र करते हैं (और इन्हीं लोगों के कारण कौल साधना बदनाम भी हुई है), किन्तु यदि कौल-साधना को उसके वास्तविक अर्थ में लिया जाय तो वह काम के उदात्तीकरण का सबसे सशक्त मार्ग है[1]। कौल साधना का प्राण है काम के प्रति शिव-भावना लाना (अर्थात् यह भावना करना कि काम भगवद्रूप है और फलतः उसके प्रति पूजा का भाव करना) तथा उसे प्रेम की आग में झोंक देना जिससे वह पानी से भाफ की भाँति उदात्त होकर सम्पूर्ण रूप से प्रेम ही बन जाय। जब तक काम का प्रेम के रूप में उदात्तीकरण नहीं हो जाता तब तक संसार के साथ अपने अद्वैत का भाव नहीं आ सकता और तब तक मुक्ति सम्भव नहीं है।

जगत् का आत्मीकरण :—आखिर जगत् को आत्मसात करने का अर्थ क्या है ? वह अर्थ विश्व-प्रेम (universal love) है। प्रेम में ही हम विश्व को आत्मसात् कर सकते हैं, क्योंकि प्रेम में ही पराया अपना बनता है। जैसे माँ बच्चे के रूप में अपने को ही समझती है उसी प्रकार यह समझना कि सारा विश्व मेरा ही रूप है अथवा सब मेरे ही हैं, और चूँकि वे मेरे ही हैं (अथवा उन रूपों में मैं ही हूँ) इसलिए उनका भी वैसे ही हित चाहना जैसे मैं अपना हित चाहता हूँ—

१—हमने अपनी अंग्रेजी पुस्तक 'Significance of the Tantric Tradition' के 'Significance of the Vāma-mārga' नामक अंश में कौल-साधना का मूलाधार या तर्काधार (rationale) प्रस्तुत करने का प्रयास किया है एवं उक्त साधना की उपादेयता का विश्लेषण किया है।

यही प्रेम है, और इसी का नाम अद्वैत साधना है। यही तन्त्र में वर्णित 'शाम्भवोपाय' है जो उत्तरोत्तर क्रम वाले (hierarchical) तीनो उपायों (शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय एवं आणवोपाय) में सर्वोपरि है । तन्त्र ने यह स्पष्ट कर दिया है कि संसार बन्धन नहीं है, संसार को अपने से भिन्न देखना—पराया समझना—बन्धन है। दूसरे शब्दों में, द्वैत ज्ञान ही बन्धन है। तन्त्र में (या काश्मीर शैव शास्त्र में) यह स्पष्ट कर दिया गया है कि अज्ञान ही बन्धन है[१] और द्वैतज्ञान ही अज्ञान है[२]। द्वैत ज्ञान को 'अज्ञान' (अर्थात् गैरजानकारी) इसलिए कहते हैं कि उसमें सत्य की गैरजानकारी है। सत्य यह है कि सारा विश्व शिव का अर्थात् मेरा (शिव ही मेरा वास्तविक स्वरूप है) ही रूप है—सारा विश्व मैं ही हूँ। किन्तु इस सत्य को न जानकर मैं यह जानता हूँ कि विश्व मुझसे अलग है (अर्थात् द्वैतज्ञान है)। इसीलिए द्वैत देखना अज्ञान हुआ और अद्वैत देखना ज्ञान हुआ। इसी कारण द्वैत (अथवा अज्ञान) को बन्धन का हेतु एवं अद्वैत (अथवा ज्ञान) को मोक्ष का हेतु बताया गया है। तात्पर्य यह है कि हम जितना ही विश्व के साथ अद्वैत भाव लाते हैं उतना ही हम सत्य के नजदीक जाते हैं और उतने ही अंश में हम स्वरूप की प्राप्ति करते हैं।

उपर्युक्त कथन से यह तात्पर्य निकला कि आत्मा को (अर्थात् अपने आप को पाने का अर्थ सबसे अपने को अलग कर अपने भीतर प्रविष्ट होना नहीं है, वरन् सब को अपने में आत्मसात् करना है क्योंकि आत्मा किसी कोने में नहीं पड़ा है, वरन् सर्वव्यापी है। जैसे लहरें सागर ही हैं क्योंकि वे सागर का ही लीला-विलास हैं, उसी प्रकार विश्व हमारे वास्तविक स्वरूप (शिव) का ही लीला-विलास है। बाहर का विश्व भीतर की आत्मा की ही अभिव्यक्ति है। अतः हम जितना ही आत्मा की गहराई में प्रवेश करते हैं उतना ही हम बाहर भी फैलते हैं, अर्थात् बाह्य विश्व से तादात्म्य करते हैं। चेतना (consciousness) का अनुलम्ब (vertical) विकास और चेतना का अनुप्रस्थ (horizontal) विकास परस्परापेक्षी हैं। यह वैसे ही हैं जैसे वृक्ष की जड़ें जितना ही गहराई में प्रवेश करती हैं उतना ही उसकी शाखाएँ बाहर फैलती हैं। शाखाएँ बिना बाहर फैले जड़ें गहराई में प्रवेश करें यह असंभव है। उसी प्रकार प्रेम में बाहरी संसार को आत्मसात् किए बिना हम आत्मा की गहराई में प्रवेश करें यह सम्भव नहीं है।

१—अज्ञानं संसृतेर्हेतुर्ज्ञानं मोक्षैककारणम्। —तन्त्रालोक १।२२

२—द्वैतप्रथा तदज्ञानं तुच्छत्वाद्बन्ध उच्यते। —तन्त्रालोक १।३०

और आश्चर्य-जनक सत्य यह है कि जब हम संसार को इस भाँति आत्मसात् करते हैं तो संसार हमसे दुश्मनी करना छोड़ देता है, अर्थात् हमारे लिए बाधक नहीं बनता। वह तभीतक हमसे दुश्मनी करता है जबतक हम उसको अपने से अलग रखते हैं। जैसे हम अपने ही आत्मीयों को अज्ञानवश पराया समझकर उनसे दुश्मनी कर लेते हैं तो वे भी हमसे दुश्मनी करते हैं तथा हमारे काम में बाधक बनते हैं, और जब हम परायापन हटाकर पुनः उनको अपना बना लेते हैं तो वे हमारे मित्र बन जाते हैं और हमारे साधक हो जाते हैं; उसी प्रकार जब हम संसार के साथ द्वैत हटाकर उसे आत्मसात् कर लेते हैं तो वह फिर बाधक बनने की जगह साधक बन जाता है (मोक्षायते च संसारः)। जब हम शत्रु को मित्र बना लेंगे तो फिर वह शत्रु रह ही नहीं जायेगा।

तन्त्र अनुभव पर आधारित है :—आगम (तन्त्र) की यह भी महत्त्व-पूर्ण विशेषता है कि इसमें जो सिद्धान्त दिए गए हैं वे कल्पना अथवा मानसिक चिंतन (speculation) के आधार पर नहीं हैं वरन् अनुभव के आधार पर हैं। योगियों ज्ञानियों ने सत्य का जो अनुभव प्राप्त किया है उसी से यह परम्परा चली है। इसीलिये अभिनवगुप्त तन्त्रपरम्परा को 'अनुभव-सम्प्रदाय' कहते हैं।[1] उल्लेखनीय है कि वेद को 'निगम' तथा तन्त्र को 'आगम' कहा जाता है। तर्कशास्त्र की दृष्टि से 'निगम' या 'निगमन' (Deduction) का अर्थ है आधार वाक्य को मान लेना और मानकर उससे आगे निष्कर्ष निकालना; और 'आगम' अथवा 'आगमन' (Induction) का अर्थ है आधार वाक्यों को मान नहीं लेना वरन् अनुभव में सत्य को देखकर आधार-वाक्य प्राप्त करना और तब उससे निष्कर्ष निकालना। तात्पर्य यह है कि आगमन (आगम) की विशेषता अनुभव पर आधारित होने में है। यद्यपि वेद का ज्ञान अनुभवगम्य भी है, परन्तु वेद को मुख्यतया ईश्वरप्रदत्त ज्ञान (revelation) माना जाता है, (यस्य निःश्वसितं वेदाः), ऋषियों को केवल उस ज्ञान का दृष्टा अथवा प्राप्तिकर्ता माना जाता है (ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः)। अतः तर्कशास्त्र की दृष्टि से वैदिक ज्ञान स्वीकृत आधार वाक्य हुआ जिसे मानकर हम आगे निष्कर्ष निकालेंगें। इसीलिये वैदिक परम्परा 'निगम' या 'निगमन' है। किन्तु तन्त्र वस्तुतः जीवन में अनुभूत व्यावहारिक ज्ञान है। योगियों-ज्ञानियों ने जो अतिबौद्धिक परम ज्ञान (esoteric knowledge) प्राप्त किया तन्त्र उसी का अभिलेख (record) है। उसे शिव-पार्वती के सम्वाद के रूप में प्रस्तुत करना तो साहित्यिक ढंग (literary device) है; पार्वती का पूछना और शिव का उत्तर देना तो

---

१. अनुभवसम्प्रदायोपदेशपरिशीलनम् ।—परात्रीशिकाविवरण पृ० १९१,

कथानक या आख्यायिका है।[1] चूँकि तान्त्रिक ज्ञान अनुभूति पर आधारित है, इसलिए वह 'आगम' या 'आगमन' है।

अनुभव पर आधारित होने की दृष्टि से तन्त्र (आगम) को हम पुनः वेद का पूरक कह सकते हैं। यह कहा जा सकता है कि वेद ने जो ईश्वरीय ज्ञान दिया उसे तन्त्र ने व्यावहारिक अनुभव से पुष्ट किया; 'श्रुति' की पुष्टि 'अनुभूति' में हुई। तात्पर्य यह कि ईश्वरीय वचन विश्वास अथवा मान्यता की वस्तु न रहकर अनुभूत सत्य बन गया। कुछ पाश्चात्य दार्शनिक यह जो आक्षेप करते हैं कि भारतीय दर्शन विश्वास पर आधारित है क्योंकि वह श्रुति-वाक्यों को मानकर चलता है, वह आक्षेप गलत है। भारतीय दर्शन काल्पनिक विचारों (speculation) पर नहीं वरन् अनुभूत सत्यों पर आधारित हैं। भारतीय संस्कृति का अन्तिम आधार उच्च आध्यात्मिक अनुभव है। आखिर क्या इतनी बड़ी संस्कृति काल्पनिक विचारों पर आधारित हो सकती है ?

तन्त्र में मतान्तर की समस्या :—तन्त्र (आगम) के विषय में एक विचित्रता यह है कि आगम एक प्रकार के नहीं हैं; तीन प्रकार के दर्शन देने वाले अलग-अलग तीन प्रकार के आगम हैं। कुछ आगम भेदपरक हैं, कुछ भेदाभेद-परक हैं और कुछ अभेदपरक हैं जिन्हें पारिभाषिक अर्थ में क्रमशः शिव-आगम, रुद्र-आगम एवं भैरव-आगम कहा जाता है।[2] इन तीन प्रकार के आगमों से वस्तुतः तत्परक तीन प्रकार के दार्शनिक सम्प्रदाय निकले हैं। भेद परक आगम से 'शैव-सिद्धान्त', भेदाभेद परक आगम से 'वीर शैव' दर्शन एवं अभेदपरक आगम से 'त्रिक' या 'काश्मीर शैव' दर्शन (जिसे प्रत्यभिज्ञा दर्शन भी कहते हैं) निकला है।

अब प्रश्न यह उठता है कि आगम यदि सत्य का अनुभव है तो उसमें यह मतान्तर क्यों है ? आगम में परस्पर विरुद्ध दीखने वाले सिद्धान्त क्यों कहे गये हैं ? इसका उत्तर है 'अधिकारी-भेद'। 'अधिकारी-भेद' भारतीय विचार धारा का एक प्रमुख सिद्धान्त है। इसके अनुसार सभी व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से एक ही

---

१. अभिनवगुप्त का कहना है कि शिव-पार्वती प्रश्नोत्तर वस्तुतः अपनी संवित् (आत्मा) के भीतर का ही प्रश्नोत्तर है—प्रश्नकर्त्री संवित् पार्वती है एवं उत्तरदात्री संवित् शिव है। ('स्वात्मा सर्वभावस्वभावः स्वयं प्रकाशमानः...... प्रश्नप्रतिवचनात् प्रष्टृप्रतिवक्तृस्वात्ममयेन अहंतया चमत्कुर्वन् विमृशति' ।—परात्रिंशिका-विवरण पृ० १४–१५)।

२—अतश्च भेद-भेदाभेद-अभेद प्रतिपादकं शिवरुद्रभैरवाख्यं त्रिधैवेदं शास्त्रमुद्भूतम्। —तन्त्रालोक (विवेक) पृ० ४५

स्तर पर नहीं हैं, आगे पीछे हैं। अतः सबके लिए एक ही रास्ता नहीं हो सकता और न तो सभी लोग सत्य को एक ही तरह से समझ सकते हैं।[१] जो जिस स्तर पर है उसको वैसा ही दर्शन, वैसा ही धर्म, वैसी ही साधना चाहिए। अतः तन्त्र में अलग-अलग अधिकारियों की दृष्टि से अलग-अलग बात कही गयी है। आखिर समझने वाले के अनुसार ही तो कहने वाला कहेगा। साधना-परम्परा में ऐसा बहुत होता है कि एक ही गुरु शिष्यों के क्षमताक्रम के अनुसार अलग-अलग उपदेश देता है। हमें बच्चे और सयाने दोनों को एक ही बात बतानी हो फिर भी हम उसी बात को उन दोनों के लिए दो तरह से कहेंगे।

यहाँ एक और प्रश्न है। यह तो ठीक है कि आगम ने तीन तरह के अधिकारियों के लिये तीन तरह (भेद- भेदाभेद एवं अभेद) के दर्शन दिये हैं; किन्तु इन तीनों को बराबर स्तर का समझना चाहिए, अभेद दर्शन को इन तीनों में सबसे ऊपर का अथवा अधिक सत्य क्यों माना जाय? काश्मीर शैव दार्शनिक अभेद-आगमों (भैरव-आगमों) को आगमों में सर्वोपरि रखते हैं तथा अभेद दर्शन को भेद की तुलना में उत्तम बताते हैं। ऐसा क्यों है? इस सन्दर्भ में तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ का कहना है[२] कि अभेद-दर्शन सभी दर्शनों में अनुस्यूत है, इसलिए श्रेष्ठ है। तात्पर्य यह है कि अभेद-दर्शन भेद को भी अपने में समाहित (क्रोडी कृत्य) किए है, भेद का जो उचित स्थान है वह उसे अभेद-दर्शन में मिला हुआ है। अभेद (अद्वैत) दर्शन यह मानता है कि भेद (द्वैत) रूप जगत् अभेद रूप अद्वय शिव का ही स्वातन्त्र्य-स्फुरण है।[3] अतः भेद

२—माध्यमिक (बौद्ध) दर्शन में कहा गया है कि अलग-अलग लोग अलग-अलग दार्शनिक 'गोत्र' के होते हैं। जो जिस 'गोत्र' का होता है। वह अपने ही अनुरूप दर्शन में विश्वास करना चाहता है। यह भी कहा गया है कि भगवान बुद्ध ने श्रोताओं के क्षमताक्रम के अनुसार अलग-अलग सिद्धान्त दिए हैं। उनको उस वैद्य की भाँति कहा गया है जो सभी रोगियों को एक ही ओषधि नहीं देता, वरन् रोग के दशाक्रम के अनुसार अलग-अलग ओषधि बाँटता है।

१—तन्त्रालोक (विवेक) १।१८ पृ० ४५)।

२—अभिनवगुप्त ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में एकस्थान पर मंगलाचरण में कहा है कि अद्वय शिव ही (अपनी लीला से) भेद-जगत् को पूर्वपक्ष के रूप में आभासित करता है और पुनः उसे अभेद-रूप उत्तर पक्ष में ले जाता है।

पूर्वपक्षतया येन विश्वमाभास्य भेदतः।
अभेदोत्तरपक्षान्तर्नीयते तं स्तुमः शिवम्॥

—ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी १।२ (पृ० ५१)

(द्वैत) अभेद (अद्वैत) में समाहित है; किन्तु भेद में अभेद समाहित नहीं हो सकता, क्योंकि अभेद को भेद का स्फुरण नहीं कहा जा सकता। तात्पर्य यह है कि अभेद-दर्शन भेद की तुलना में अधिक व्यापक है (भेद व्याप्य है और अभेद व्यापक है), अतः वह भेद-दर्शन की अपेक्षा अधिक सत्य है। यही कारण है कि भेद-दर्शन तो अभेद का विरोध करता है, किन्तु अभेद-दर्शन भेद का विरोध नहीं करता।[1]

प्रस्तुत ग्रंथ की विशेषता

आगम से जो भेद, भेदाभेद एवं अभेद परक क्रमशः तीन दर्शन-सम्प्रदाय—शैव-सिद्धान्त, वीरशैव एवं काश्मीर शैव—निकले हैं उन्हें स्पष्ट करने एवं उन्हें एक शृंखला की कड़ियों के रूप में जोड़ने का प्रयास आवश्यक है। यह प्रसन्नता की बात है कि डॉ० श्री कैलाशपति मिश्र ने इन तीनों दर्शनों को अलग-अलग तीन पुस्तकों में स्पष्ट करने का प्रयास प्रारम्भ किया है। प्रस्तुत पुस्तक 'काश्मीर शैव दर्शन : मूल सिद्धान्त' इस प्रयास की प्रथम कड़ी है। इस पुस्तक की उपादेयता के विषय में कुछ बातें उल्लेखनीय हैं। काश्मीर शैव दर्शन पर कम काम हुआ है; हिन्दी में तो बहुत कम हुआ है। हिन्दी में डॉ० बी० एन० पंडित एवं डा० जयदेव सिंह ने प्रशंसनीय काम किया है, किन्तु इसके बावजूद अभी और काम होने की महती आवश्यकता है। इस दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक स्वागतयोग्य है।

लगभग दो सौ पृष्ठ की इस पुस्तक में डॉ० मिश्र ने काश्मीर शैव दर्शन का महत्त्व स्पष्ट करते हुए उसके मूल सिद्धान्तों की रूप-रेखा थोड़े में प्रस्तुत की है। इसमें काश्मीर शैव शास्त्र की लगभग सभी मुख्य अवधारणाएँ विवेचित हुई हैं। थोड़े में सभी बातें कहना इस पुस्तक का गुण है। साथ ही, लेखक ने स्थान-स्थान पर काश्मीर शैव दर्शन का अन्य दर्शनों, विशेषतः अद्वैत-वेदान्त एवं शैव-सिद्धान्त, से तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है। किसी एक सिद्धान्त को समझने में अन्य सिद्धान्तों से समता एवं विषमता दिखाना सहायक होता है; लेखक ने इस विधि का प्रयोग किया है।

१—अद्वैत-वेदान्त के आचार्य गौडपाद ने कहा है कि द्वैती लोग अपने सिद्धान्त को पक्का समझकर परस्पर लड़ाई करते हैं; किन्तु अद्वैत-सिद्धान्त को वस्तुतः उनसे कोई लड़ाई नहीं है।

स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम्।
परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते॥

—माण्डूक्यकारिका ३।१७

जहाँ तक विचारों की स्पष्टता (clarity of ideas) का प्रश्न है, पुस्तक में यह आदि से अन्त तक विद्यमान है। लेखक ने काश्मीर शैव दर्शन को अच्छी तरह समझा है। जब तक लेखक के मन में विचार स्पष्ट नहीं होते तब तक वह दूसरों को स्पष्ट नहीं कर सकता। पुस्तक पढ़ने ये यह द्योतित होता है कि लेखक ने मनन किया है एवं प्रकृत विषय को स्पष्ट रूप से समझा है। साथ ही समझाने का ढंग सरल है। भाषा बहुत ही सरल है। भाषा कहीं कहीं बोल चाल के स्तर पर आ गई है, किन्तु सरलता की दृष्टि से इसे हम दोष न समझकर गुण ही समझते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में लेखक ने विषय का जो प्रतिपादन किया है उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि काश्मीर शैव दर्शन के कतिपय सिद्धान्तों में भी जो अस्पष्टता एवं संदिग्धता है उसे लेखक ने काफी हद तक दूर किया है। इसी में लेखक की मौलिकता है। लेखक ने सम्बद्ध प्रश्नों का अच्छी तरह विश्लेषण किया है एवं अपने पक्ष में सशक्त तर्क दिए हैं जिससे लेखक की बात मानने योग्य (convincing) हो जाती है।

नवयुवक होते हुए भी लेखक ने विषय के प्रतिपादन में जो परिपक्वता दिखाई है यह सराहनीय है एवं इसके लिए लेखक बधाई के पात्र हैं। निश्चय रूप से लेखक की वह कृति अपने विषय में महत्त्वपूर्ण योगदान है। काश्मीर शैव दर्शन के गंभीर एवं कठिन सिद्धान्तों को संक्षेप में सरल एवं स्पष्ट ढंग से प्रस्तुत करने वाली यह पुस्तक विद्वानों एवं साधारण जन दोनों के लिए उपयोगी है। हमें आशा है कि नवयुवक लेखक की प्रतिभा आगे और भी अच्छा काम करेगी।

कमलाकर मिश्र
दर्शन-विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

संकेत-सूची

ई० प्र० का०	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका
ई० प्र० वि०	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी
ई० प्र० वि० वि०	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी
भा०	भास्करी (भाग १ से ३ तक)
प० त्रि० वि०	परात्रिंशिका विवरण
शि० सू० वि०	शिव सूत्र विमर्शिनी
प्र० हृ०	प्रत्यभिज्ञा हृदयम्
प० सा०	परमार्थ सार
शा० भा०	शारीरक भाष्य
तं० सा०	तन्त्र सार
तं० आ०	तंत्रालोक
मृ० आ०	मृगेन्द्र आगम
पौ० आ०	पौष्कर आगम
मा० का०	माण्डुक्य कारिका
स्प० का०	स्पन्द कारिका
स्प० नि०	स्पन्द निर्णय
भो० का०	भोग कारिका
ना० का०	नाद कारिका
शि० दृ०	शिव दृष्टि
नै० सि०	नैष्कर्म्य सिद्धि

विषय-सूची

भूमिका

यह कहा जा सकता है कि मानव जीवन का सामान्य लक्ष्य सुख-शान्ति की प्राप्ति है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने आप को पूर्ण रूप से जानें। अपने को जानने की ही प्रक्रिया में यह आवश्यक है कि हम अपने से सम्बद्ध वस्तुओं को जानें। दूसरे शब्दों में, हम जिस जगत् में रह रहें हैं, उसको जानना आवश्यक है। फलतः यह प्रश्न उठता है कि यह जगत क्या है ? क्या यह अनादि है अथवा किसी ईश्वर आदि से सृष्ट है ? इसको चलाने वाले क्या नियम हैं ? यदि इसका कोई उद्देश्य अथवा लक्ष्य है तो वह क्या है ? आदि-आदि। दर्शन शास्त्र में, विशेषतया भारतीय दर्शन में, इन प्रश्नों पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया गया है।

अपने विषय में तथा अपने आधार भूत जगत् के विषय में दार्शनिक प्रश्न उस परिस्थिति में विशेष गम्भीर रूप में हमारे सामने उठते हैं जबकि हम अपने और दूसरे के जीवन में दुःख का अनुभव करते हैं। जब हम देखते हैं कि जगत् में दुःख है और जरा, मरण आदि ऐसे हैं जिनका तात्कालिक निदान समझ में नहीं आता तब यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि आखिर इस जगत् का रहस्य क्या है ? यह क्यों और कैसे है ? इसका अन्तिम सम्बन्ध कहाँ से है ? आदि-आदि।

चूंकि जगत् के रहस्य को समझना वस्तुतः अपने आप को समझने के लिये आवश्यक है, इसलिये भारतीय दर्शन जिनका प्रमुख लक्ष्य अपने आप को समझना है, जगत् के रहस्य को समझने का विस्तृत प्रयास करते हैं। भारतीय दर्शन की जो प्रमुख तीन धाराएँ हैं—वैदिक, अवैदिक और आगमिक[1] (तांत्रिक)—उनमें आगमिक या शैव-दर्शन जगत् की समस्या पर प्रमुख रूप से विचार करते हैं। आगमिक परंपरा में आने वाले दर्शनों में काश्मीर शैव दर्शन[2] (प्रत्यभिज्ञा दर्शन) तथा शैव-सिद्धान्त की प्रमुख भूमिका है। ये दर्शन जगत् को सृष्ट मानते हैं तथा इसका सृजन, पालन और संहार तीनों ही प्रक्रियाएँ परमतत्त्व शिव से सम्पादित मानते हैं। काश्मीर शैव

---

१. यहाँ आगम का तात्पर्य शैवागमों से है।

२. काश्मीर शैव दर्शन से हमारा तात्पर्य 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन है'। चूंकि अभिनवगुप्त ने काश्मीर शैव दर्शन की विभिन्न (क्रम आदि) धाराओं का समन्वय अपने प्रत्यभिज्ञा दर्शन (विशेषकर तन्त्रालोक) में किया है इसलिये प्रत्यभिज्ञा दर्शन के लिये काश्मीर शैव दर्शन का प्रयोग अनुचित प्रतीत नहीं होता।

दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त चूंकि आगमिक परम्परा के दर्शन हैं अतः इनके मूल सिद्धान्त की विशेषताएँ समझने के लिये आगमिक परम्परा की विशेषता समझना आवश्यक है।

अवैदिक दर्शन—चार्वाक, जैन तथा बौद्ध—इस जगत् को किसी सृष्टिकर्त्ता की सृष्टि नहीं मानते, वरन् अनादि मानते हैं। वैदिक परम्परा में भी कुछ दर्शन (मीमांसा आदि) जगत् को सृष्ट नहीं मानते। वैदिक परम्परा का प्रमुख दर्शन अद्वैत वेदान्त इस जगत् को सृष्ट मानता है, किन्तु वहाँ अन्ततः जगत् के प्रति पूर्ण निषेधात्मक (Negative) दृष्टिकोण है। कुछ बौद्ध (माध्यमिक आदि) दर्शनों में भी यही दृष्टिकोण है। इसके विपरीत आगमिक परम्परा में सृष्टि (जगत्) के प्रति भावात्मक अथवा स्वीकारात्मक (Positive) दृष्टिकोण है। अद्वैत-वेदान्त तथा माध्यमिक बौद्ध सिद्धान्त में परमतत्त्व (ब्रह्म अथवा शून्य) सृष्टि-प्रक्रिया से वस्तुतः असम्बद्ध है क्योंकि निष्क्रिय रूप से स्थित होकर वह सृष्टि-आभास के लिये केवल आधार बनता है, सक्रिय रूप से सृष्टि-प्रक्रिया में भाग नहीं लेता; सृष्टि तो अविद्या के कारण उस पर अध्यारोपित मात्र है। किन्तु आगमिक दर्शन में शिव सृष्टि-प्रक्रिया में सक्रिय रूप से भाग लेता है; सृष्टि उसका स्वातन्त्र्य है।

आगमिक दर्शन की विशेषताएँ

साधारणतया यह सोचने का प्रचलन है कि भारतीय दर्शन एवं संस्कृति का उद्गम वेद है। आगम (या तन्त्र) को प्रायः इस सन्दर्भ में नहीं लाया जाता। किन्तु वस्तुतः भारतीय दार्शनिक चिन्तन में एवं भारतवर्ष की धार्मिक एवं सांस्कृतिक धारा में तान्त्रिकधारा का बहुत ही महत्त्वपूर्ण योगदान है। भारतीय चिन्तन धारा एवं संस्कृति वैदिक तथा आगमिक दोनों का समन्वित रूप है। आगम वेद के पूरक रूप में समझे जाने चाहिए।

जीवन के कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न एवं समस्याएँ हैं जिन्हे वेदों में उतना महत्त्वपूर्ण नहीं समझा गया है (अथवा गम्भीरतापूर्वक नहीं लिया गया है), उन्हें आगमों में उचित स्थान मिला है एवं उनका विशद प्रतिपादन किया गया है। दूसरे शब्दों में, वेद के अधूरे कार्य को आगम पूरा करते हैं।

दर्शन के क्षेत्र में आगम की विशेषताएँ

परमतत्त्व की अवधारणा में शक्ति का समावेश :—आगमिक दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता है परमतत्त्व को (जिसे शिव कहा गया है) शक्तिरूप मानना। उपनिषदों में, जहाँ वैदिक दार्शनिक चिन्तन अपनी परिपक्वावस्था में प्राप्त है, परमतत्त्व चैतन्य स्वरूप ब्रह्म को प्रमुख रूप से ज्ञान रूप माना गया है, ब्रह्म के

क्रियारूप होने पर विशेष विचार नहीं किया गया है। किन्तु तन्त्र में परम चैतन्य (ब्रह्म या शिव) को ज्ञान एवं क्रिया दोनों रूप माना गया है। यहाँ चैतन्य निष्क्रिय नहीं है वरन् स्पन्दनशील (Dynamic) है; उसकी स्पन्दनशीलता या क्रियात्मकता को शक्ति नाम से अभिहित किया गया है। चैतन्य तत्त्व या शिव वस्तुतः शिव एवं शक्ति, ज्ञान एवं क्रिया, प्रकाश एवं विमर्श दोनों है। अद्वैत-वेदान्त, जो अपने को औपनिषद् दर्शन की व्याख्या मानता है, की यह अवधारणा है कि चैतन्य में क्रियात्मकता माया के कारण आती है; क्रियाशीलता चैतन्य का स्वरूप या स्वभाव नहीं है। अद्वैत-वेदान्त ऐसा संभवतः इसलिये मानता है कि उसके अनुसार कर्म अपूर्णता का द्योतक है। अतः ब्रह्म में सृष्ट्यादिक किसी भी कर्म का पूर्ण रूप से अभाव होना चाहिए। किन्तु तन्त्र यह मानते हैं कि क्रिया का ऐसा स्वरूप है जो माया के कारण उत्थित नहीं होता, वरन् शिव में स्वाभाविक रूप से है। इसका पारिभाषिक नाम स्पन्द दिया गया है। कर्म अपूर्णता का द्योतक है, यह तन्त्र भी मानता है; किन्तु स्पन्द या क्रिया का कर्म से मौलिक भेद है, स्पन्द अपूर्णता का द्योतक नहीं है वरन् पूर्णता अथवा आनन्द का स्वाभाविक परिस्फुरण है। कर्म और क्रिया (स्पन्द) को एक ही समझ लेना (जैसा कि अद्वैत-वेदान्त सम्भवतः करता है) तन्त्र की क्रिया की अवधारणा के साथ घोर अन्याय करना है। चूंकि क्रिया (या स्पन्द) शैवागमों की सबसे प्रमुख अवधारणा है, इसलिये क्रिया के स्वरूप को संक्षेप में समझ लेना आवश्यक है।

मनुष्य के समस्त क्रिया-कलापों को संरम्भ की दृष्टि से हम दो वर्गों में बाँट सकते हैं। एक वह जो ऐच्छिक (voluntary or volitional) होता है, उसमें कर्ता को प्रयास या आयास (effort) करना पड़ता है। इसी को कर्म कहते हैं। दूसरा वह है जिसमें कर्ता को प्रयास नहीं करना पड़ता, वरन् यह अनायास (effortless or automatic) होता है। इस अनायास क्रिया को हम पुनः दो वर्गों में बाँट सकते हैं। एक वह जो अनायास होते हैं किन्तु यान्त्रिक (mechanical) होते हैं जैसे स्वसन क्रिया या सहज क्रिया (reflex action) आदि। दूसरे वह जो अनायास होते हैं किन्तु यान्त्रिक नहीं होते वरन् उसमें कर्त्ता का स्वातन्त्र्य बना रहता है; उसमें ज्ञान और आनन्द भी रहता है। इसी को तन्त्र में क्रिया या स्पन्द (Spontaneity or, spontaneous activity) कहा गया है। जीवन के अनुभवों में स्पन्द (spontaneity) का शत प्रतिशत पूर्ण उदाहरण तो नहीं मिलता (उसका शत प्रतिशत पूर्ण रूप से उदाहरण तो केवल शिवावस्था में प्राप्त हो सकता है), किन्तु स्पन्द या क्रिया की झलक हमारे व्यावहारिक अनुभवों में भी प्रचुर रूप से प्राप्त होती है। उदाहरण के लिये हममें आनन्द

का अतिरेक होता है, तो गाने, नाचने आदि की क्रिया उससे स्वाभाविक रूप में उद्रिक्त हो सकती हैं, अथवा हृदय में प्रेम उल्लसित होने पर प्रिय पात्र के प्रति चुम्बन, आलिंगनादि क्रियाएँ सहज रूप से फूटती हैं, अथवा उदात्त कलात्मक सृजन की अवस्था में कला का स्वाभाविक प्रवाह होता है।

स्पन्द के ये उदाहरण भले ही अधूरे हों किन्तु इनमें हम क्रिया के तीन-चार लक्षण स्पष्ट रूप से पा सकते हैं, जो स्पन्द को एक ओर कर्म से तथा दूसरी ओर यान्त्रिक क्रिया से भिन्न करते हैं। स्पन्द में इच्छा-शक्ति (will) को आयास (exert) नहीं करना पड़ता वरन् यह अनायास स्वाभाविक रूप से होता है। दूसरे, उसमें कर्ता को वाध्यता नहीं होती, कर्ता उसे चाहे तो नहीं होने दे सकता है; इसीलिये स्पन्द को स्वातन्त्र्य कहा जाता है। तीसरे, कर्ता को क्रिया का ज्ञान रहता है, यान्त्रिक क्रिया जैसी अज्ञानता नहीं रहती। चौथे, स्पन्द में आनन्द की अनुभूति होती है; वस्तुतः स्पन्द आनन्द का ही स्वाभाविक उच्छलन (overflowing or emanation) है। इसी को सूफी लोग 'मौज' कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि क्रिया या स्पन्द एक ओर कर्म से तथा दूसरी ओर यान्त्रिक क्रिया से मौलिक रूप में भिन्न है।

ईश्वर (शिव) जो सृष्टि-क्रिया करता है, वह उसका कर्म नहीं है और न तो उसकी यान्त्रिक क्रिया है, वरन् उसका स्पन्द है। सृष्टि शिव के आनन्द से उद्भूत है। बल्कि यह कहना कि सृष्टि आनन्द **के** लिये होती है उतना ठीक नहीं है; वरन् यह कहना ज्यादा ठीक है कि सृष्टि-क्रिया आनन्द **से** होती है, अर्थात् आनन्द का उद्रेक होने पर उसके परिणाम-स्वरूप स्वाभाविक रूप से स्फुटित होती है। शिव अपने भीतर किसी कमी को पूरा करने के लिये सृष्टि नहीं करता, जैसा कि कर्म में होता है (शिव में कोई कमी नहीं है), वरन् शिव में जो आनन्द है वही सृष्टि-क्रिया रूप में प्रकटित होता है। सृष्टि-क्रिया शिव की अपूर्णता का द्योतक नहीं है क्योंकि यह उसका 'कर्म' नहीं है वरन् 'क्रिया' या 'स्पन्द' है। शिव पूर्ण है और उसकी पूर्णता से 'मौज' के रूप में सृष्टि उत्थित होती है।

शिव की पूर्णता से सृष्टि-क्रिया उत्थित होने का तन्त्रों का जो सिद्धान्त है उसको काश्मीर शैव दर्शन में 'लीला' तथा शैव-सिद्धान्त में 'प्रेम' कहा गया है। काश्मीर शैव दर्शन अद्वैतवादी दर्शन है, उसमें जीव शिव से भिन्न नहीं है; शिव ही जीव बनता है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि शिव जीवों के लिये सृष्टि करता है, वरन् यही कहना उपयुक्त है कि शिव अपने लिये सृष्टि करता है। दूसरे शब्दों में, लीला के लिये सृष्टि करता है। किन्तु यहाँ भी ध्यान देने योग्य है कि 'लीला' या 'आनन्द के लिये सृष्टि करता है' का अर्थ यह नहीं कि शिव में आनन्द नहीं है और

उसकी प्राप्ति के लिये सृष्टि करता है, वरन् इसका यही अर्थ है कि आनन्द के कारण सृष्टि होती है।

काश्मीर शैव दार्शनिक यह दिखाने का भरपूर प्रयास करते हैं कि पूर्णता निष्क्रियता की स्थिति नहीं है जैसा कि कुछ अन्य दर्शन मानते हैं; वरन् पूर्णता की स्थिति में आनन्द की भरपूरता (आनन्द निर्भर या आनन्द घन) होती है और आनन्द का यह स्वभाव है कि उसमें स्वाभाविकी क्रिया स्पन्दरूप में फूटती है। हम अपने जीवन के कुछ अनुभवों में भी देख सकते हैं कि जब हम किसी अवस्था में अपने भीतर कमी का अनुभव नहीं करते हैं और 'आनन्द निर्भर' होते हैं तो उस समय मौज में कुछ क्रियाएँ स्पन्दित हो सकती हैं। अर्थात् पूर्णता की अवस्था में क्रिया का स्पन्दन हो सकता है।

'शैव-सिद्धान्त' में शिव और जीव की सत्ता एक ही नहीं है, शिव के साथ जीव भी अपने आप हैं। शिव ही जीव नहीं बना है। अतः इस अर्थ में शैव-सिद्धान्त में द्वैत है। इसीलिये 'शैव-सिद्धान्त' में यह बात बैठ जाती है कि शिव अपने लिये नहीं वरन् दूसरों के लिये (जीवों के लिये) सृष्टि करता है। किन्तु ऐसा इसलिये करता है क्योंकि शिव में जीवों के लिये असीम प्रेम है। प्रेम ही के कारण ईश्वर जीवों को उनके अनादि मल से मुक्त करा कर पूर्णत्व प्राप्त कराने के लिये सृष्टि करता है। सृष्टि करने में ईश्वर का कोई अपना प्रयोजन नहीं है क्योंकि ईश्वर में कोई कमी नहीं है, न ही सृष्टि करने के लिये ईश्वर पर कोई बाध्यता ही है। ईश्वर प्रेमवश अपने स्वातन्त्र्य से जीवों के उद्धार के लिये सृष्ट्यादि पंचकृत्य करता है। अतः शैव-सिद्धान्त में भी शिव की सृष्टि-क्रिया उसका स्पन्द ही है।

शिव का स्वातन्त्र्यः—शिव में जो शक्तिरूपता है उसी से विश्व की रचना है। शिव सृष्टि-रचना करके भी सृष्टि से अछूता रहता है; अर्थात् उसके स्वातन्त्र्य में कोई कमी नहीं आती। अद्वैत-वेदान्त इस स्वातन्त्र्य को केवल सत्तात्मक स्वातन्त्र्य (Freedom-from) के रूप में मानता है, क्रिया स्वातन्त्र्य (Freedom-to) के रूप में नहीं मानता, संभवतः इसलिये कि क्रिया स्वातन्त्र्य (Freedom-to) मानने से ब्रह्म में अपूर्णता आ सकती है। किन्तु आगमिक परंपरा में शिव में सत्तात्मक स्वातन्त्र्य (Freedom-from) और क्रिया स्वातन्त्र्य (Freedom-to) दोनों ही माना गया है। सत्ता-स्वातन्त्र्य (Freedom-from) और क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) में वस्तुतः कोई विरोध नहीं है क्योंकि क्रियास्वातन्त्र्य (Freedom-to) का सम्बन्ध कर्म से नहीं है; क्रिया से है। क्रियास्वातन्त्र्य (Freedom-to) का अर्थ यदि कर्म-स्वातन्त्र्य से लिया जाय तब उसका सत्ता स्वातन्त्र्य (Freedom-from) से विरोध हो सकता है, जैसा कि अद्वैत-वेदान्त

मानता है । लेकिन यहाँ क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) का अर्थ कर्म-स्वातन्त्र्य से नहीं अपितु क्रिया-स्वातन्त्र्य से है, अतः इसका सत्ता-स्वातन्त्र्य (Freedom-from) से कोई विरोध नहीं है । क्रिया-स्वातन्त्र्य ही तो स्वातन्त्र्य का असली अर्थ है । यदि शिव में सृष्ट्यादि कर्म करने का स्वातन्त्र्य नहीं है तो शिव के सन्दर्भ में स्वातन्त्र्य शब्द का प्रयोग करना औपचारिकता मात्र होगी । तात्पर्य यह कि सत्ता-स्वातन्त्र्य (Freedom-from) के साथ क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) को मानना आवश्यक है ।

सृष्टि करने के लिये शिव पर कोई बाध्यता नहीं है, न आन्तरिक बाध्यता और न ही बाह्य बाध्यता । आन्तरिक बाध्यता इसलिये नहीं है क्योंकि शिव पूर्ण है; उसमें कोई कमी नहीं है, जिसकी पूर्ति के लिये वह सृष्टि करे । जैसाकि पहले कहा जा चुका है, शिव अपनी, 'मौज' में सृष्टि करता है । अर्थात् सृष्टि शिव का कर्म नहीं है वरन् शिव की क्रिया या स्पन्द है । सृष्टि करने के लिये शिव पर कोई बाह्य बाध्यता भी नहीं है क्योंकि शिव का कोई दूसरा विरोधी तत्त्व नहीं है । काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार तो शिव के अलावा कोई दूसरा तत्त्व है ही नहीं, अतः उसके विरोध का सवाल ही नहीं उठता । 'शैव-सिद्धान्त' में शिव के अलावा पशु और पाश को भी मान्यता दी गई है किन्तु ये दोनों पूर्णतया शिव के अधीन माने गये हैं । अतः यहाँ भी शिव के विरोध का प्रश्न नहीं उठता । यदि यह कहा जाय कि शिव जीवों के उद्धार हेतु सृष्टि करने के लिये बाध्य है तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि शिव जीवों का उद्धार प्रेमवश या कृपावश करता है, किसी बाध्यता वश नहीं । प्रेम या कृपावश किये गये कार्य में स्वातन्त्र्य होता है ।

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए यह निःसंकोच भाव से कहा जा सकता है कि शिव यदि सृष्टि न करना चाहे तो सृष्टि नहीं होगी । यह स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त अन्य भारतीय दर्शनों में भी पाया जा सकता है (जैसे वैष्णव दर्शनों में), किन्तु शैव दर्शन की यह विशेषता है कि इसमें स्वातन्त्र्य सिद्धान्त को पूरे आग्रह के साथ एवं पुनः पुनः प्रतिपादित किया गया है ।

शिव की विश्वमयता :—शिव अपने क्रिया-स्वातन्त्र्य से जगत् की अभिव्यक्ति करता है । शिव की खूबी है कि वह एक ही साथ पर (Transcendent) और अन्तर्यामी (Immanent) दोनों है । उसका दोनों होना आवश्यक भी है । यदि वह केवल पर (Transcendent) रहे तो वह विश्व से वस्तुतः असम्बद्ध हो जायेगा और यदि वह केवल अन्तर्यामी (Immanent) रहे तो उसके स्वातन्त्र्य एवं निरपेक्षता में बाधा उपस्थित होगी । शिव का वास्तविक सौन्दर्य इसी में है कि वह जगत् से सम्बद्ध भी हो और जगत् से परे भी हो । उपनिषदों में शिव के इन

दोनों रूपों, पर और अन्तर्यामी (Transcendent and Immanent), को स्वीकार किया गया है। किन्तु वहाँ आग्रह ब्रह्म के पर रूप पर ही देखा जाता है। वहाँ नेति-नेति या नेहनानास्तिकिञ्चन को अधिक महत्त्व दिया गया है और 'सर्वंखलु इदम् ब्रह्म' पर कम आग्रह है। अद्वैत वेदान्त में सम्भवतः इसी बात को आधार मान कर ब्रह्म के पर रूप (Transcendence) पर विशेष आग्रह दिया गया है। किन्तु ब्रह्म के अन्तर्यामी रूप (Immanence) पर भी समान रूप से आग्रह होना चाहिए जिससे सन्तुलन बना रहे। आगमों में इस आवश्यकता को पूरी गम्भीरता के साथ समझा गया है। इसी से आगमों में ईश्वर के विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय दोनों रूपों को समान रूप से प्रतिपादित किया गया है। आगमों में कहीं कहीं तो शिव की विश्वमयता पर ही विशेष आग्रह दिखने लगता है। यह सम्भवतः इस बात को पूरा करने के लिये है कि शिव को विश्वोत्तीर्ण मान कर उसे जगत् से असम्बद्ध एवं एकांगी न मान लिया जाय।

काश्मीर-शैव-शास्त्र शिव की विश्वमयता को सत्तात्मक या तात्त्विक (ontological) रूप में समझता है। यह जगत् शिव का स्वयं का प्रकटीकरण (manifestation) है। जगत् का तत्त्व शिव ही है। दूसरे शब्दों में शिव विश्व का उपादान कारण भी है; शिव अपने से ही जगत् का निर्माण करता है। 'शैव-सिद्धान्त' में शिव जगत् का उपादान कारण नहीं है, माया उपादान कारण है; किन्तु शिव की शक्ति द्वारा ही माया संचालित होती है, तथा अपनी शक्ति द्वारा यहाँ भी शिव जगत् में अन्तर्भूत है। यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से जगत् शिव से भिन्न है, परन्तु शक्ति की अन्तर्यामिता के कारण जगत् शिव से सदैव सम्बद्ध है। इसी दृष्टि से शैव-सिद्धान्त शिव और जगत् में 'अद्वैत' सम्बन्ध स्वीकार करता है। इस प्रकार काश्मीर शैव-दर्शन तथा शैव-सिद्धान्त दोनों ही जगत् में शिव की अन्तर्यामिता को स्वीकार करते हैं, यद्यपि उसकी व्याख्या अपने-अपने अर्थ में करते हैं।

सृष्टि-प्रक्रिया में शिव का सक्रिय भाग (Positive Involvement):— तन्त्र सिद्धान्त की उपर्युक्त विशेषताओं से ही सम्बद्ध एक यह भी विशेषता है कि उसके अनुसार शिव सृष्टि-प्रक्रिया में सक्रिय रूप से भाग लेता है। यह विशेषता भी उसके क्रिया-सिद्धान्त से ही जुड़ी हुई है। यहाँ अद्वैत-वेदान्त की तरह यह नहीं माना गया है कि शिव (ब्रह्म) पूर्ण तटस्थ है और सृष्टि-प्रक्रिया अविद्या के कारण ब्रह्म पर अध्यारोपित मात्र है, वरन् यहाँ यह स्वीकार किया गया है कि शिव ही स्वयं अपनी शक्ति से सृष्टि-कार्य करता है। जो तन्त्र जगत् को आभास मानते हैं (जिन पर काश्मीर शैव दर्शन आधारित है) वे भी इस आभास-प्रक्रिया को शिव के द्वारा सक्रिय रूप से सृष्ट मानते हैं। आभास-प्रक्रिया शिव का ही अपने ही भीतर अपने ही

द्वारा आत्माभास (Self-projection) है, न कि बाहर से किसी अविद्या आदि शक्ति से अध्यारोपित है ।

तन्त्रों की उपर्युक्त अवधारणा को काश्मीर शैव दर्शन और शैव-सिद्धान्त अपने-अपने ढंग से ग्रहण करते हैं । काश्मीर शैव शास्त्र इसे आत्म-क्रीड़ा या लीला के रूप में लेता है । काश्मीर शैव दर्शन अद्वैत-वेदान्त की ही तरह जगत् को आभास मानता है किन्तु इस जगदाभास को शिव का ही आत्मोन्मेष (Self-emanation) या आत्म-क्रीड़न मानता है । भारत के कुछ अन्य दर्शन जो जगदाभास को अविद्या के कारण परमतत्त्व पर आरोपित मानते हैं, उनके इस सिद्धान्त को वस्तुतः मायावाद ही कहा जा सकता है, लीलावाद नहीं कहा जा सकता । किन्तु शैवागमों का यह सिद्धान्त वस्तुतः लीलावाद है । शिव अपने खेल में ही जगत् को आभासित करता है । नटराज शिव का नर्तन इसी आत्म-क्रीड़ा का प्रतीक (Symbol) है । नटराज का आनन्दातिरेक में नाचना वस्तुतः शिव का आनन्द में सृष्टि को आभासित करना है । चूंकि जगदाभास शिव का आत्म-नर्तन है, अतः इस आभास-प्रक्रिया से तटस्थ होकर निष्क्रिय रहने का प्रश्न नहीं उठता ।

जगत् के प्रति शिव की सक्रिय उन्मुखता के इस तान्त्रिक सिद्धान्त को शैव-सिद्धान्त काश्मीर शैव दर्शन से थोड़े भिन्न अर्थ में लेता है । वह इसको शिव का जीवों के प्रति अपार प्रेम कहता है । अपने इस प्रेम के कारण ही शिव सृष्टि करता है । यहाँ सृष्टि आत्माओं की भलाई (अथवा मोक्ष) के लिये है । केवल सृष्टि ही नहीं बल्कि स्थिति या पालन में भी जीवों की भलाई के लिये ईश्वर सक्रिय रूप से कार्य करता है । शिव जीव को एक क्षण भी नहीं छोड़ता है, जीव की भलाई के लिये निरन्तर कृपा बरसाता रहता है । बल्कि यों कहा जाय कि यदि ईश्वर सृष्टि से तटस्थ है तो वह ईश्वर ही नहीं है । शैव-सिद्धान्त की इस अवधारणा का ईसाई धर्म में जीवों के प्रति ईश्वर के प्रेम की अवधारणा से साम्य है ।

धर्म एवं संस्कृति के क्षेत्र में आगम की विशेषता

तांत्रिक परम्परा की जो उपर्युक्त विशेषताएँ कही गयीं और जिनका काश्मीर शैव दर्शन और शैव-सिद्धान्त में परिलक्षित होना स्वाभाविक है, ये सभी दर्शन के क्षेत्र की विशेषताएँ हैं । किसी भी परम्परा की जो दार्शनिक विशेषता होगी, उसका प्रभाव उस परम्परा के धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में भी पड़ना स्वाभाविक है । वरन् यों कहा जाय कि धर्म-विशेष अथवा संस्कृति-विशेष का आधार दर्शन-विशेष ही है । आगमिक धर्म भी आगमिक दर्शन पर ही आधारित है । अतः उपर्युक्त आगमिक दार्शनिक विशेषताओं का धर्म के क्षेत्र में जो प्रभाव पड़ा है, उसे भी देख लेना

आवश्यक है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये विशेषताएँ काश्मीर शैव दर्शन एवं शैव-सिद्धान्त में भी परिलक्षित होंगी।

जगत् के प्रति धार्मिक भाव :—चूंकि सृष्टि-प्रक्रिया शिव का सक्रिय कार्य है, चाहे शिव लीलावश करता हो अथवा प्रेमवश जीवों के उद्धार के लिये करता हो, इसलिये यह मानना संगत है कि सृष्टि एक दिव्य या पवित्र कार्य है। दूसरे शब्दों में, सृष्टि के अवयव श्रद्धा एवं आदर के पात्र हैं। इसीलिये आगमिक परम्परा में जगत् के प्रति समादर का भाव है। यह भाव उन परम्पराओं के विपरीत पड़ता है जहाँ जगत् को परमतत्त्व पर आवरण या अवरोध रूप माना जाता है और फलतः जगत् के प्रति उदासीनता का भाव रहता है; जगत् को और जागतिक वस्तुओं एवं कार्यों को तुच्छ समझा जाता है; दूसरे शब्दों में, जगत् के प्रति निषेधात्मक भाव है। अद्वैत-वेदान्त एवं कुछ बौद्ध परंपराओं में जगत् के प्रति निषेधात्मक भाव है। बौद्ध धर्म की अनेक साधनाओं में भोग वस्तुओं से उदासीन होने हेतु उन वस्तुओं को वीभत्स रूप में देखने का उपाय बताया गया है यथा मानव शरीर को (विशेषतः स्त्री के सुन्दर शरीर को) मल-मूत्रादि के आगार रूप में देखना अथवा सड़े हुए शव के रूप में कल्पना करना। जागतिक पुरुषार्थों (मूल्यों) के प्रति भी यही भाव है कि ये सब त्याज्य हैं। वासनाओं को, विशेषतः काम को, नरक के द्वार के रूप में माना गया है। इसके विपरीत आगमिक परंपरा में इस भाव की साधना है कि जागतिक वस्तुएँ भगवद् रूप हैं। यथा स्त्री को देवी रूप में देखना, काम को शक्ति के रूप में मानना, धन को लक्ष्मी रूप में मानना; यहाँ तक कि तामसिक शक्तियों को भी काली रूप में मानना, संसार कर्म को पूजा रूप में मानना[1] आदि-आदि।

---

१. शिव की प्रार्थना में कहा गया है कि 'हे शिव, हमारी जो आत्मा है, वही तुम हो, जो बुद्धि है वही तुम्हारी पार्वती है, हमारे जो प्राण हैं, वही तुम्हारे सहचर हैं; हमारा जो शरीर है, वही तुम्हारा मन्दिर है; संसार के विषयोपभोगों की रचना ही तुम्हारी पूजा है, निद्रा ही समाधि है, पाँव का चलना ही तुम्हारी प्रदक्षिणा है, जो-जो बोलता हूँ, तुम्हारी प्रार्थना है; इस प्रकार जो-जो कर्म करता हूँ वही तुम्हारी पूजा है—

"आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः।
संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्॥"

शंकराचार्यकृत, शिवमानसपूजा, ४

उपर्युक्त भाव भारत की व्यावहारिक संस्कृति में प्रचुर रूप में घुलामिला है। जब घर में कन्या का जन्म होता है तो कहते हैं कि भगवती का जन्म हुआ; जब घर में बालक का जन्म होता है तो उसे बाल-गोपाल का आगमन कहते हैं; विवाह को सोलहों संस्कार में सबसे पवित्र संस्कार माना जाता है। लड़कियों को देवी मानकर पूजा करने (कुमारी पूजन) की परम्परा भारत के प्रायः सभी भागों में पायी जाती है। जगत् की प्रायः सभी वस्तुएँ पूजा-भाव से देव-रूप मानी जाती हैं। यहाँ नदी, समुद्र, पहाड़, वृक्ष, पशु, पक्षी, ग्रह, नक्षत्र आदि सभी देवता माने जाते हैं। वेदों ने तो प्राकृतिक शक्तियों जैसे सूर्य, अग्नि, हवा, पानी, उषा आदि को देवता माना ही, तन्त्रों ने इस देव-भाव को जगत् की प्रत्येक वस्तु तक प्रसारित कर दिया।

तान्त्रिक साधना का ही एक रूप जो वाम मार्ग या कौल-साधना में मिलता है, उसमें तो पंच मकारों (मत्स्य मांस, मद्य, मुद्रा और मैथुन) जैसी साधारणतया घृणास्पद समझी जानेवाली वस्तुओं को भी शिव-शक्ति रूप समझ कर पूजा का विषय बनाया जाता है। वाम मार्ग की ही चरम परिणति अघोर (औघड़) साधना में मिलती है जहाँ मल-मूत्रादि को भी शिव-रूप समझ कर पूजा का विषय बनाया जाता है।

तन्त्र की दृष्टि यह है कि वासनाओं को और वासनाओं की तृप्ति के लिए बने संसार को गन्दा समझने अथवा घृणा की दृष्टि से देखने से वस्तुतः संसार में आसक्ति और दृढ़ होती है। वासनाओं से मुक्ति का उपाय उनका निषेध अथवा दमन नहीं है, वरन् उनका रूपान्तरण अथवा उदात्तीकरण (Transformation or Sublimation) है। वासनाओं के उदात्तीकरण के लिये तन्त्र में जो अनेक उपाय बताये गये हैं, उनमें प्रथम सोपान तथाकथित गन्दी वस्तुओं को भगवद्-रूप मानना है। इस साधना का यह भी लाभ है कि शुद्धाशुद्ध का जो कृत्रिम भेद हमने अपने अहंकार-वश बना रक्खा है, उससे हम ऊपर उठ जाते हैं।

जगत् को जगत्-रूप न देखकर शिव-रूप देखना जगत् से ऊपर उठने का उपाय है। जगत् को जगत्-रूप देखते हुए उसका निषेध करना कठिन है; जगत् को शिव में मिलाकर देखें तो जगत् ही शिव को देखने का साधन बन जायेगा। सागर की लहरों को लहर-रूप देखने से लहरों का स्वतन्त्र अस्तित्व बना रहेगा, उनका विलयन नहीं होगा; किन्तु लहरों को सागर-रूप देखने से अब लहरों की जगह सागर ही दिखाई देगा; उसी प्रकार परमात्मा से प्रकटित जगत् को परमात्म-रूप समझने से हमारे ज्ञान में जगत् स्वतन्त्र रूप से जगत् न रह कर शिव में विलीन हो जायगा। जगत् को शिव-रूप देखना तान्त्रिक दर्शन में तार्किक रूप से उपयुक्त ही बैठता है—जगत्

शिव का ही प्रकटीकरण है और जगत् का शिव से अद्वैत सम्वन्ध है तो जगत् के शिवरूप होने की भावना करना संगत ही है।

तान्त्रिक साधना के वाम-मार्ग को काश्मीर शैव सम्प्रदाय में पूर्णतः स्वीकार किया गया है। शैव-सिद्धान्त में वाम-साधना गृहीत नहीं है, किन्तु जगत् के प्रति शिव-भावना वहाँ भी वर्तमान है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार शिव प्रेमवश जीवों की भलाई के लिये ही तो सृष्टि करता है और शिव का जगत् से अद्वैत सम्बन्ध है;[1] अतः वहाँ भी शिव से सम्बद्ध होने के कारण जगत् को शिव-रूप मानने की अवधारणा है।

प्रवृत्ति-मार्ग :—तन्त्र के साधनात्मक पक्ष की सबसे बड़ी विशेषता है कि उसमें प्रवृत्ति को मोक्ष का मार्ग बनाया गया है। कुछ अन्य भारतीय दर्शनों में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति, भुक्ति एवं मुक्ति, संसार एवं परमात्मतत्त्व के बीच असंगति एवं वैपरीत्य माना गया है, वहाँ यह समझा गया है कि जो संसार को अपनायेगा वह परमात्मतत्त्व से दूर होगा; दूसरे शब्दों में, प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दो उल्टी दिशाओं में जाने वाले मार्ग हैं।[2] ऐसी मान्यता वाले दर्शनों का यह तर्क है कि प्रवृत्ति के लिये जो संसार है वह परमतत्त्व पर पर्दा या अवरोध के रूप में है; अतः यदि ससार में प्रवृत्ति होगी तो अवरोध या बन्धन और बढ़ेगा ही, तथा इसके विपरीत जितना ही अवरोध दूर होगा उतना ही हम परमतत्त्व की ओर जायेंगे। किन्तु तन्त्र-शास्त्र में उक्त दार्शनिक मान्यता (Philosophical presupposition) को नहीं माना गया है; यहाँ जगत् के विषय में दार्शनिक मान्यता दूसरी है; वह यह है कि जगत् शिव का लीलाविलास है अथवा जीवों के उद्धार हेतु प्रेम-वश किया गया शिव का अनुग्रह-कार्य है। जब परमात्मा ने जगत् को लीला के लिये सृष्ट किया अथवा जीवों को मुक्ति दिलाने के लिये किया तो यह बन्धन क्यों होगा, इसको तो मुक्ति पाने का रास्ता समझना चाहिए। आत्म-तत्त्व पर जो पर्दा या अवरोध है, वह वस्तुतः जगत् का पर्दा नहीं है, वरन् दूसरी वस्तुओं का है—जैसे आसक्ति, राग, द्वेष, अहंकार, स्वार्थ आदि जो जगत् के कारण नहीं आये हैं बल्कि अज्ञान के कारण आये हैं (तन्त्र-शास्त्र में ये पंच-कन्चुक के भीतर आते हैं)। अतः जगत् को हटाने से मोक्ष प्राप्ति में कोई लाभ नहीं होगा (जगत् अवरोध रूप

१—तात्त्विक दृष्टि से जगत् शिव से भिन्न है किन्तु शिव अपनी शक्ति द्वारा जगत् में अन्तर्भूत माना जाता है। इस प्रकार अपनी शक्ति द्वारा शिव सदैव जगत् के साथ अद्वैत सम्बन्ध में होता है।

२—जहाँ काम तहँ राम नहि, जहाँ राम नहि काम।

—तुलसी दास

है ही नहीं), लाभ पंचकंचुक को हटाने से होगा, और प्रवृत्ति मार्ग इसे ही हटाने का रास्ता है। परमात्मा ने जिस उद्देश्य से जगत् की रचना की है, उसी से संगत मार्ग भी प्रचलित किया है कि हम जगत् को किस प्रकार ग्रहण करें और उस मार्ग पर चलने से यही जगत् मोक्ष का साधन वन जाता है। हाँ, उसके विपरीत भाव से जगत् को ग्रहण करें तो अवश्य ही यह बाधक होगा। अतः बात यह हुई कि वस्तुतः संसार अपने आप में बन्धन या मोक्ष का कारण नहीं है, वरन् हम संसार को किस रूप में ग्रहण करते हैं, इस पर बन्धन या मोक्ष निर्भर करता है।

वेदों या उपनिषदों में भी प्रवृत्ति को मोक्ष में बाधक नहीं कहा गया है, वरन् यहाँ प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वित मार्ग बताया गया है (तन्त्र में इस अवधारणा का विस्तार है)।[१] ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि 'जो लोग अविद्या या संसार की उपासना करते हैं, वे लोग तो अन्धकार में पड़े ही हैं, किन्तु उनसे अधिक अन्धकार में पड़े वे हैं जो विद्या में रत हैं। इसलिये जो व्यक्ति विद्या (अर्थात-निवृत्ति) और अविद्या (अर्थात प्रवृत्ति या संसार) दोनों को साथ समझता है, वह अविद्या से मृत्यु को पार करता है और विद्या से अमृतत्त्व की प्राप्ति करता है।'[२]

प्रवृत्ति किस प्रकार मोक्ष में सहायक है, यह दो तरह से समझा जा सकता है—एक तो यह कि आसक्ति हटने और वासनाओं से ऊपर उठने के लिये यह आवश्यक है कि वासनाओं की परिपक्वता (maturation of desires) हो। इसी को तन्त्र में मलपरिपाक कहा गया है। दूसरे यह कि प्रवृत्ति को लीलारूप में ग्रहण करने से मनुष्य अनासक्त भाव से विषयों का उपभोग कर सकता है।[3] भारतीय संस्कृति में पूर्णावतार माने जाने वाले कृष्ण इसी स्थिति के पूर्ण उदाहरण हैं।[४]

१—यह पहले ही कहा जा चुका है कि तन्त्र वेद के पूरक हैं, वे वेदों की अनकही बातों को या कम कही गयी बातों को पूरा करते हैं।

२—अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततोभूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तदवेदो भयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥—ई० उ०, ९, ११

३—रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रयैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

—गीता—२।६४

४—कुछ शैवों की ऐसी मान्यता है कि जब शिव अपनी शक्ति को प्रकटित कर लीला करता है तो वही कृष्ण है।

शैव सम्प्रदाय में शंकर रूप में जो शिव की अवधारणा है, उसमें भी यही दीखता है। शंकर भगवान का व्यक्तित्व प्रवृत्ति और निवृत्ति के सामंजस्य का उदाहरण है। शंकर भगवान पूर्ण गृहस्थ हैं और साथ ही पूर्ण अनासक्त योगी भी हैं। भूत-प्रेतादि से भी कोई विरोध नहीं है, वे सब उनके अनुचर-गण के रूप में रहते हैं। शंकर भगवान जहर को भी पचा लेते हैं और श्मशान-वास, भोग, धतूरा खाने आदि साधारणतया असंगत कार्यों को भी अपने में समाविष्ट किये हुए हैं। उनके परिवार में परस्पर-विरोधी तत्त्व भी पूर्ण सामंजस्य के साथ रहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि शंकर भगवान् पूर्ण रूप से समन्वित व्यक्तित्व (Integrated personality) के प्रतीक हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तान्त्रिक शैव मत में भुक्ति और मुक्ति, प्रवृत्ति और निवृत्ति, संसार और परमार्थ में विरोध नहीं है, दोनों साथ चल सकते हैं और चलते हैं। कहा गया है कि 'साधारणतया जहाँ भोग है वहाँ मोक्ष नहीं है और जहाँ मोक्ष है वहाँ भोग नहीं है किन्तु शक्ति सुन्दरी की उपासना करने वालों के लिये भोग और मोक्ष दोनों हाथ में ही है।'[1]

तान्त्रिक जीवन दर्शन वस्तुतः श्रेय और प्रेय का समन्वय है। भोगवाद (Hedonism) का प्रेय-सिद्धान्त एवं तपवाद (asceticism) का श्रेय-सिद्धान्त ये दोनों ही अतिवादी जीवन दर्शन हैं। इन दोनों का समन्वित रूप ही स्वस्थ जीवन का लक्षण है।

मोक्ष से लौकिक कार्यों की संगति :—

पहले जो विवेचन किया जा चुका है उससे यह भी स्पष्ट होता है कि लौकिक कार्य (Secular activities) मोक्ष के साथ पूर्णतया संगत हैं—साधनावस्था में भी और मुक्तावस्था में भी। ऊपर हम देख ही चुके हैं कि लौकिक कार्यों को मोक्ष के लिये साधन बनाया जा सकता है। मुक्त होने के बाद भी जागतिक क्रियाएँ हो सकती हैं क्योंकि तांत्रिक दर्शन के अनुसार क्रिया आत्मा का स्वभाव है। जो निषेधात्मक दर्शन हैं; उनके अनुसार न तो लौकिक क्रियाएँ

१—यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षः
यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः।
श्री सुन्दरी सेवन तत्पराणां
भोगश्चमोक्षश्च करस्थ एव ॥

—योगिनी हृदयम्, टीका, भास्कर राय

मोक्ष में साधन हो सकती हैं और न मुक्तावस्था में ही क्रियाएँ संभव है क्योंकि उनके अनुसार आत्मा का स्वरूप निष्क्रिय है, क्रिया अविद्या के कारण है। उनका मोक्ष सिद्धान्त ऐसा है कि तार्किक दृष्टि से विचार करने पर यही तथ्य सामने आयेगा कि किसी प्रकार की सामाजिक अथवा सांस्कृतिक गतिविधि मोक्ष में बाधक ही होगी क्योंकि यह अपनी जननी अविद्या की ओर ही ले जायेगी। यह भी स्पष्ट है कि कर्म केवल बद्धावस्था में होंगे। मुक्त पुरुष सांसारिक कार्यों में तटस्थ होकर द्रष्टामात्र रहेगा, वह समाज के उन्नयन के लिये अथवा सांस्कृतिक विकास के लिये सक्रिय रूप में कैसे प्रयत्न करेगा ?

विवेकानन्द, अरविन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर, महात्मा गांधी आदि आधुनिक चिन्तकों ने निषेधात्मक दर्शन धारा की इस कमी को दूर करने का प्रयास किया है। इन लोगों ने गीता को आधार बनाया और यह दिखलाया कि समाज एवं राष्ट्र के लिये सेवाकार्य करना आत्म-प्राप्ति का साधन भूत है। उन्होंने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि जो व्यक्ति मुक्ति के पथ का पथिक होगा वह तो और भी सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्यों में भाग लेगा। जागतिक कार्यों को योग बनाने का सिद्धान्त पहले से ही तन्त्र में वर्तमान है। तान्त्रिक दर्शन के अनुसार मुक्त पुरुष जगत् से तटस्थ होकर निष्क्रिय नहीं बैठा रहेगा बल्कि वह जगत् के कल्याण के लिये स्वाभाविक रूप से प्रयत्नशील रहेगा। वह आवश्यक्तानुसार सभी प्रकार के सांस्कृतिक कार्यक्रमों में भाग भी लेगा। यह दूसरी बात है कि मुक्त पूरुष की तरफ से ये सब जागतिक क्रियाएँ स्पन्द अथवा लीला रूप में होंगी। यह भी कहा जा सकता है कि बद्धावस्था की अपेक्षा मुक्तावस्था में जागतिक क्रियाएँ और भी सुन्दरता के साथ होंगी क्योंकि किसी कार्य को सुन्दर ढंग से करने की क्षमता अहंकार के प्रयत्नों से नहीं है वरन् आत्मा के स्पन्द में है। जो कार्य आत्म-स्पन्द से उत्थित होते हैं, वे ही उत्कृष्ट होते हैं। जो कलाकार आत्म स्पन्द से कविता आदि कलात्मक सर्जन करता है, वही उत्कृष्ट रचना दे पाता है। यदि हम आत्म स्थिति को प्राप्त हों तो हमसे सामाजिक कार्य भी अच्छी तरह होंगे। आत्मस्थ पुरुष की कोई भी रचना सुन्दर होगी। भगवान् की सृष्टि रचना भी इसीलिये सुन्दर है कि भगवान ने उसे आत्म स्पन्द में रचा है।[1]

१—सृष्टि में अप्रतिम सौन्दर्य है, इसमें दो राय नहीं हो सकती, यह भी सत्य है कि पाप और दुःख के रूप में कुरूपता भी है। किन्तु अशुभ को रचना ईश्वर ने नहीं की है, उसके लिये जिम्मेदार जीव है। इस प्रश्न का विवेचन आगे अशुभ के विवेचन के सन्दर्भ में किया जायगा।

कश्मीर शैव दर्शन का इतिहास तथा साहित्य

शैव दर्शन के इतिहास[1] पर दो दृष्टियों ऐतिहासिक (अथवा पुरातत्त्व शास्त्रीय) तथा शास्त्रीय से विचार किया जाता है। ऐतिहासिक खोजों के आधार पर शैव धर्म को अति प्राचीन धर्म कहा जाता है। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई में प्राप्त लिंग और योनि के चिन्हों के आधार पर शैव धर्म का इतिहास पाँच हजार ई० पूर्व से अनुमानित किया गया है।[2] लिंग और योनि की पूजा शिव- और शक्ति के प्रतीक रूप में हजारों वर्ष पूर्व से भारत में होती आ रही है और आज भी यह उसी रूप में प्रचलित्त है।

शैव धर्म की प्रचीनता का संकेत वेदों से भी मिलता है। ऋग्वेद में शिव-लिंग की उपासना का उल्लेख है।[3] शिव के विभिन्न नाम यथा रुद्र और पशुपति आदि का चारों वेदों में उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद में रुद्र और त्र्यम्बक का संकेत भी कुछ ऋचाओं में मिलता है।[4] इसके अतिरिक्त सामवेद, शुक्ल, यजुर्वेद, आदि में रुद्र की प्रार्थना में कहे गये छन्दों का विवरण मिलता है।[5] इन विवरणों के आधार पर यह अनुमानित किया जाता है कि शैव दर्शन शैव धर्म के रुप में वैदिक-काल से भी पहले था।

कुछ विद्वानों के अनुसार शिवोपासना व्रात्यों से सम्बन्धित है[6] जो आर्य नहीं थे। यह स्पष्ट नहीं है कि वे यहीं के मूल निवासी थे अथवा विदेशी थे जो

१—इतिहास देना प्रस्तुत पुस्तक का लक्ष्य नहीं है। यह प्रकरण मात्र परिचयात्मक दृष्टि से दिया गया है जो मुख्यतः डा० के० सी० पाण्डेय के शोध पर आधारित है।

२—Bhaskari, Vol. III, Int., P. I.

३—शिश्नदेवाह, Rg. M. VII, S. 22 R K S Quoted in Bhaskari Vol. III R. I.

४— (i) इमा रुद्राय तपसे (ii) इमा रुदाय शत धन्विन (iii) त्र्यम्बकमयजामहे Quoted in Bhaskari Vol. III. Intr. P. II

५—Bhaskari Vol. III, Intr. p. II.

६—शैव परिभाषा, Intr. p. iv

भारत में आकर कालान्तर में बस गये। अथर्ववेद में 'व्रात्य' की प्रशंसा में एक अध्याय ही है। ऐसा माना जाता है कि व्रात्यों का वर्ग वैदिक लोगों के वर्ग से बिल्कुल अलग अथवा विरोधी था। शैव धर्म प्रारम्भ में व्रात्यों की संस्कृति से ही सम्बन्धित था किन्तु कालान्तर में इसकी अच्छाइयों के कारण आर्यों ने भी इसे स्वीकार कर लिया।

शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर शैव दर्शन के प्रारम्भिक इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। शिव दृष्टि[१] में प्राप्त एक विवरण के आधार पर शैव-शास्त्रों के आविर्भाव-काल का अनुमान किया जाता है। इस विवरण के अनुसार भगवान शिव ने शैव-शास्त्र के प्रचार के लिये महामुनि दुर्वासा को आदेश दिया। भगवान् शिव से आदेश प्राप्त कर महामुनि दुर्वासा ने तीन मानस पुत्रों (शिष्यों) त्र्यम्बक, अमर्दक और श्रीनाथ को उत्पन्न किया तथा शैव शास्त्र का समस्त रहस्य उनमें संक्रमित कर उन्हें उसके प्रचार के लिये नियुक्त किया। अद्वैतवादी शिक्षा उन्होंने त्र्यम्बक को दी जिसने इसका प्रचार किया। काश्मीर शैव दर्शन इसी अद्वैतवादी शिक्षा पर आधारित है।

शिव दृष्टि में आचार्य सोमानन्द ने अपने आपको त्र्यम्बकादित्य की वीसवीं पीढ़ी[२] में बताया है। शिवदृष्टि में सोमानन्द ने स्पष्टतः लिखा है कि वह त्र्यम्बकादित्य के वीसवें वंशज थे[३] क्योंकि उनके पन्द्रहवें पूर्वज ने ब्राह्मण कन्या से विवाह किया था और उससे उत्पन्न सोलहवाँ पूर्वपुरुष संगमादित्य काश्मीर में आकर बसे थे। संगमादित्य के बाद वर्षादित्य, अरुणादित्य और आनन्द की तीन पीढ़ियाँ और बीतने पर वीसवीं पीढ़ी में सोमानन्द उत्पन्न हुए थे। अतएव आचार्य सोमानन्द के काल से काश्मीर शैवागम के उद्भव का काल-निर्णय अनुमान द्वारा किया जा सकता है।

भगवद्गीता-विवरण के अन्त में स्पन्दकारिका के विवृतिकार राजानक रामकण्ठ ने अपने आप को मुक्ताकण का अनुज बताया है।[४] राजतरंगिणी से यह भी ज्ञात होता है कि मुक्ताकण काश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा (८५५-८८३ ई०)

१—शिवदृष्टि, आ० ७।१०७–१२१.

२—डा० के० सी० पाण्डेय ने सोमानन्द को त्र्यम्बकादित्य का उन्नीसवाँ वंशज लिखा है।

—अभिनवगुप्त : हिस्टोरिकल एण्ड फिलासोफिकल स्टडी, पृ० ७३

३—शिवदृष्टि आ० ७।११४–१२२*.

४—भगवद्गीता विवरण, पृ० ४०५

के समकालीन थे। इसके आधार पर रामकण्ठ भी अवन्तिवर्मा के समसामयिक सिद्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त स्पन्द विवृति में रामकण्ठ ने अपने आपको आचार्य उत्पलदेव का शिष्य बताया है।[२] शिवदृष्टि[३] तथा ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में उत्पलदेव को आचार्य सोमानन्द का शिष्य बताया गया है।

इस विवरण के आधार पर आचार्य सोमानन्द का आविर्भाव आठवीं शती ईसा की समाप्ति के आसपास माना जा सकता है। डा० के० सी० पाण्डेय सोमानन्द का काल ८५० ई० मानते हैं।

अब यदि हम परम्परागत रीति से प्रत्येक पीढ़ी के लिये पच्चीस वर्षों की अवधि मान[४] लें तो इस प्रकार रामकण्ठ के प्रगुरु आचार्य सोमानन्द का आविर्भाव आठवीं शती ईस्वी की समाप्ति के आस पास हुआ होगा और सोमानन्द के चतुर्थ पूर्वपुरुष संगमादित्य उनसे सौ वर्ष पूर्व काश्मीर में बस गये होंगे। संगमादित्य के सोलहवें पूर्वज त्र्यम्बकादित्य इस प्रकार उनसे चार सौ वर्ष पूर्व हुए होंगे। इस तरह यह कहा जा सकता है कि त्र्यम्बकादित्य के लगभग पांच सौ वर्षों के पश्चात् सोमानन्द उत्पन्न हुए होंगे। एतदनुसार सोमानन्द के बीसवें पूर्वपुरुष त्र्यम्बकादित्य को महामुनी दुर्वासा से शैव शास्त्र की प्राप्ति लगभग तीसरी शती ईसा के बाद किसी समय हुई होगी।

काश्मीर शैव दर्शन के इतिहास को दो भागों—आगम काल और दार्शनिक काल—में समझा जा सकता है।

आगम काल :– काश्मीर शैव दर्शन के स्रोत शैवागम हैं। वेदों के समान शैवागमों का उद्भव भी शैव अनादिकाल से ही मानते हैं। उनका विश्वास है कि शैवागमों के उद्भव जैसी कोई तिथि नहीं है क्योंकि वे स्वयं भगवान शिव द्वारा रचित हैं, काल-क्रम से केवल उनके लोक प्रकाशन का आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है।

१—राजतरंगिणी ५।३४।

२—स्पन्द विवृति, श्लो० २ पृ० १६०

३—शिवदृष्टि, पृ० २

४—डा० के० सी० पाण्डेय ने यह स्वीकार किया है कि प्रत्येक पीढ़ी के लिये पच्चीस वर्ष की ही अवधि रखना उचित नहीं है किन्तु इस औसत अवधि से ही अनुमान किया जा सकता है।

—अभिनव गुप्त : एन हि० एण्ड फिला० स्टडी, पृ०—१३८

काश्मीर शैवागमों में मालिनीविजयोत्तर तंत्र, स्वच्छन्द तंत्र, विज्ञानभैरव, नेत्र तंत्र, स्वायम्भुव तंत्र, रुद्रयामल तंत्र, नैश्वास तंत्र, आनन्दभैरव और उच्छुष्म भैरव ; मृगेन्द्र आगम आदि मुख्य माने गये हैं।[१]

शैवागमों को शिव का प्रकाशन कहा गया है। यह मानने में कोई तार्किक कठिनाई नहीं है, क्योंकि काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार वाणी अपने परा स्तर पर शिव के साथ अविभाज्य अवस्था में रहती है, जो अपने विकास के वैखरी स्तर पर बाह्य प्रकट होती है।[२] दूसरे, यदि शैवागम शिवज्ञान प्राप्त मुक्त पुरुष की रचना हैं तो भी उन्हे शिव की ही रचना कहा जायेगा क्योंकि शिव ज्ञान प्राप्त व्यक्ति शिव रूप ही कहा जाता है।

दार्शनिक काल :— आगम काल के वाद काश्मीर शैव दर्शन के विकास में काश्मीर शैव दर्शन के इतिहास में प्रथम ऐतिहासिक नाम वसुगुप्त है, जिसने शैवागमों के विचारों को व्यवस्थित रूप दिया। क्षेमराज की शिव सूत्र विमर्शिनी के अनुसार वसुगुप्त को शिव द्वारा स्वप्न में शिव-सूत्रों की प्राप्ति हुई थी। शिव-सूत्र इस दर्शन के आधार सूत्र हैं। इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं।

वसुगुप्त की अन्य कृति स्पन्द कारिका है जिस पर अवन्तिवर्मन (८५५— ८८३ ए० डी०) के समकालीन भट्ट कल्लट की टीका है। इस टीका के आधार पर डा० के० सी० पाण्डेय ने वसुगुप्त का समय ८२५ से ८५० ए० डी० निर्धारित किया है क्योंकि भट्ट कल्लट वसुगुप्त के शिष्य थे। स्पन्द कारिका के अतिरिक्त वसुगुप्त की अन्य कृतियों का भी उल्लेख मिलता है, यथा—स्पन्दामृत, भगवद्गीता पर वासवी टीका, सिद्धान्त चन्द्रिका[३] आदि।

वसुगुप्त के वाद कल्लट (८५५ ए० डी०), रामकण्ठ (दसवीं शताब्दी ए० डी० का पूर्वार्द्ध) और भास्कराचार्य का नाम आता है। कल्लट की कृतियाँ—स्पन्द सर्वस्व, तत्वार्थचिन्तामणि, स्पन्द सूत्र, मधुवाहिनी हैं। रामकण्ठ की कृतियों में स्पन्द विवरण सारमात्र है तथा भास्कराचार्य की कृतियों में शिव सूत्र वार्तिक, विवेकाञ्जान कक्ष्या स्तोत्र आदि हैं।

काश्मीर शैव दर्शन के विकास में दूसरा महत्वपूर्ण नाम सोमानन्द है। जिसने वास्तव में इस दर्शन को अपने शिवदृष्टि में तर्कपूर्ण दार्शनिक रूप दिया। सर्व

१—डा० के० सी० पाण्डेय ने ६४ तन्त्रों का विवरण दिया है। — अभिनव गुप्तः एन हिस्टोरीकल एण्ड फिलोसिरिफकल स्टडी, पृ० १४०-१४३

२—वही, पृ० १३३

३—अभिनवगुप्त : एन हिस्टोरिकल एण्ड फिलोसिफिकल स्टडी, पृ० १५६-

प्रथम इन्होंने ही मुक्ति के लिए प्रत्यभिज्ञा का आसान मार्ग बताया। उनके पुत्र उत्पल ने ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका और इसकी वृत्ति लिखी। इससे ही यह प्रत्यभिज्ञा दर्शन कहलाने लगा। सोमानन्द का समय नवीं शताब्दी ए० डी० का पूर्वार्द्ध अनुमानित किया गया है।[१] सोमानन्द की कृतियाँ शिवदृष्टि विवृति, परात्रिंशिका विवृति हैं।

सोमानन्द के बाद उनके पुत्र और उनके शिष्य उत्पलदेव का नाम आता है जिनका समय दसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध अनुमानित किया गया है। उत्पलदेव की कृतियाँ—ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका, ईश्वर प्रत्यभिज्ञा वृत्ति, ईश्वर प्रत्यभिज्ञा टीका, स्तोत्रावली, अजडप्रमातृ सिद्धि, ईश्वर सिद्धि, ईश्वर सिद्धि वृत्ति, सम्बन्ध सिद्धि, सम्बन्ध सिद्धि वृत्ति तथा सोमानन्द की शिवदृष्टि पर वृत्ति हैं।

उत्पलदेव के बाद उनके पुत्र और उनके शिष्य लक्ष्मणगुप्त का नाम आता है जो महान काश्मीर शैव दार्शनिक अभिनवगुप्त के गुरु थे। लक्ष्मणगुप्त की किसी कृति का विवरण नहीं मिलता है।

डा० के० सी० पाण्डेय ने काश्मीर शैव दर्शन के विकास में अभिनवगुप्त से पूर्व कुछ अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों यथा 'क्रम' के आचार्यों[२] का उल्लेख किया है, जिनका परोक्ष रूप से काश्मीर शैव दर्शन के विकास में योगदान रहा है। ये आचार्य अभिनवगुप्त के गुरु थे जिनकी शिक्षाओं को अभिनवगुप्त ने अपने प्रत्यभिज्ञा दर्शन में समन्वित कर लिया था। विभिन्न धाराओं का यह समन्वित रूप अभिनवगुप्त ने अपने तन्त्रालोक में प्रस्तुत किया है। इस समन्वय के कारण ही प्रत्यभिज्ञा दर्शन को 'काश्मीर शैव दर्शन' से अभिहित किया जाता है।

अभिनवगुप्त की रचनाओं में ही काश्मीर शैव दर्शन का परिमार्जित, विकसित रूप प्राप्त है। अभिनवगुप्त का समय डॉ० के० सी० पाण्डेय ने ९५० से ९६० ए० डी० माना है।[३] अभिनवगुप्त की ४४ कृतियों[४] का विवरण मिलता है जिनमें—ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी, तन्त्रालोक (१२ भागों

१—अभिनवगुप्त: एन हिस्टोरिकल एण्ड फिलोसिफिकल स्टडी पृ० १६१

२—क्रम के आचार्यों में भूतिराज, भूतिराजतनय आदि का उल्लेख है।—वही पृ० १६५—६६,

३—अभिनवगुप्त : एन हिस्टोरिकल एण्ड फिलोसोफिकल स्टडी, पृ० ९

४—वही पृ० २७

में) जिस पर जयरथ की 'विवेक' टीका है। तन्त्रसार, परमार्थसार परात्रिंशिका विवरण, मालिनी विजय वार्तिक तथा स्तोत्रावली प्रमुख हैं।[1]

अभिनवगुप्त के बाद काश्मीर शैव दर्शन के विकास में क्षेमराज, जिनकी कृतियाँ उद्योत (तन्त्रों पर), प्रत्यभिज्ञाहृदयम् तथा स्पन्दनिर्णय हैं और महेश्वरानन्द का नाम आता है जिनकी प्रमुख कृति महार्थमन्जरी है।

१—इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र पर भारती (अभिनवभारती) तथा ध्वन्यालोक लोचन लिखा है।

ज्ञान-मीमांसा

ज्ञान का स्वरूप—ज्ञान का स्वरूप समझने के लिये ज्ञान का चेतना अथवा आत्मा के साथ सम्बन्ध समझना आवश्यक है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में ज्ञान को आत्मा का आकस्मिक गुण माना गया है। न्याय-वैशेषिक की इस मान्यता का आधार निद्रावस्था है, जिसमें आत्मा के वर्तमान रहने पर भी ज्ञान की कोई प्रक्रिया नहीं होती। सांख्य, वेदान्त, तथा अन्य और दर्शन ज्ञान को आत्मा का गुण अथवा आकस्मिक गुण नहीं मानते; उनके अनुसार ज्ञान चेतना का स्वरूप ही है। काश्मीर शैव दार्शनिक ज्ञान को आत्मा का स्वरूप मानते हैं। उनके अनुसार जिस प्रकार प्रकाश और प्रकाशमानता दो भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं, उसी प्रकार आत्मा और ज्ञान अभिन्न हैं। प्रकाशमानता प्रकाश का गुण नहीं है, वरन् प्रकाश का स्वरूप ही है। उसी प्रकार ज्ञान आत्मा अथवा चेतना का गुण नहीं वरन् स्वरूप ही है।

नैयायिक आक्षेप कर सकते हैं कि यदि ज्ञान आत्मा का स्वरूप ही है तो ज्ञान की प्रक्रिया निद्रावस्था में भी होनी चाहिये। इसके उत्तर में काश्मीर शैव दार्शनिक कहते हैं कि निद्रावस्था में चेतना आच्छादित रहती है इसलिये यह प्रकाश नहीं करती। आकाश में जब सूर्य बादलों से आच्छादित होता है तो इसका तात्पर्य यह नहीं होता कि सूर्य प्रकाशमानता से रहित हो जाता है, बल्कि केवल यह होता है कि सूर्य की किरणों पर आवरण पड़ जाता है। बादलों के हटते ही सूर्य प्रकाशित हो जाता है। वैसे ही निद्रावस्था में चेतना की प्रकाशमानता पर आवरण पड़ जाता है तथा जागने पर जब यह आवरण दूर हो जाता है तो चेतना पुनः प्रकाशित हो जाती है।

अद्वैत वेदान्ती और काश्मीर शैव दार्शनिक दोनों ही ज्ञान को आत्मा का स्वरूप होना मानते हैं, किन्तु दोनों की मूलभूत मान्यताओं में प्रमुख भेद यह है कि अद्वैत-वेदान्त के अनुसार ज्ञान निष्क्रियता की अवस्था है, जबकि काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार ज्ञान क्रिया रूप है। अद्वैत-वेदान्त के अनुसार ज्ञान वस्तुतन्त्र है जबकि काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार ज्ञान पुरुषतन्त्र है। अद्वैत-वेदान्ती यह मानते हैं कि ज्ञान के क्षणों में ज्ञाता निष्क्रिय रहता है तथा विषय का ज्ञान अपने-आप ज्ञाता को होता है; ज्ञान प्राप्त करने में ज्ञाता कोई क्रिया नहीं करता। जिस प्रकार फल की मिठास का ज्ञान होने में, यद्यपि हम फल खाने की प्रक्रिया करते हैं किन्तु वास्तविक मिठास के अनुभव के क्षणों में हम कोई प्रयास नहीं करते, यह अनुभव अथवा ज्ञान स्वयमेव होता है।

काश्मीर शैव दार्शनिक कहते हैं कि यद्यपि ज्ञान के क्षणों में कोई प्रयास नहीं करते (जैसा कि फल के मिठास के सम्बन्ध में) किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि हम निष्क्रिय रहते हैं। वहाँ भी हम क्रियाशील रहते हैं, यद्यपि हमारी यह क्रिया अनायास क्रिया (effertless activity) अथवा स्पन्द-क्रिया (Spontaneous activity) होती है। इसे निष्क्रियता की अवस्था केवल इस अर्थ में कहा जा सकता है कि यह कर्ता की ऐच्छिक क्रिया नहीं है। किन्तु वस्तु का ज्ञान होने का तात्पर्य होता है कि हम वस्तु को जानने की क्रिया करते हैं अथवा वस्तु को ज्ञान रूप में ग्रहण करते हैं। यह ग्रहण (Grasping अथवा Catching) क्रिया आपादित करता है।

ज्ञान की क्रियारूपता को स्पष्ट करने के लिये काश्मीर शैव दार्शनिक कहते हैं कि ज्ञान की प्रक्रिया को भौतिक परावर्तन (reflection) के अर्थ में नहीं समझा जा सकता। सामान्यतः ज्ञान की प्रक्रिया को तालाब में पड़ रहे चाँद के प्रतिविम्व के सादृश्य से समझा जाता है। तालाब में चाँद के प्रतिविम्वित होने में तालाब कोई क्रिया नहीं करता। उसी प्रकार ज्ञान होने में ज्ञाता कोई क्रिया नहीं करता। किन्तु तालाव अचेतन है, उसे चाँद के प्रतिविम्वित होने का कोई बोध नहीं रहता। इस सादृश्य के आधार पर यह नहीं माना जा सकता कि चेतन ज्ञाता को ज्ञान होने का कोई बोध नहीं रहता क्योंकि तव ज्ञान होने का कोई अर्थ ही नहीं रह जायेगा। ज्ञान की प्रक्रिया में ज्ञान होने के बोध (understandting) की व्याख्या ज्ञान को निष्क्रियता की अवस्था मानकर नहीं की जा सकती। ज्ञान को निष्क्रियता की अवस्था मानने पर ज्ञान की क्रिया यान्त्रिक क्रियाहो जायेगी जो दर्पण में पड़ रहे प्रतिविम्व के समान होगा, जिसमें दर्पण को वस्तु के प्रतिबिम्बन का बोध नहीं रहता। ऐसी स्थिति में ज्ञान को प्रक्रिया को चेतन क्रिया नहीं कहा जा सकता जिसमें वस्तु ज्ञान होने का बोध (understanding या awareness) भी रहता है।

इस सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि ज्ञान वस्तु को प्रकाशित करता है किन्तु स्वयं ज्ञान किस प्रकार ज्ञात होता है? न्याय दर्शन में यह माना गया है कि ज्ञान उसी प्रकार ज्ञात होता है जिस प्रकार मेज या कुर्सी। तात्पर्य यह कि ज्ञान भी 'ज्ञान' का विषय है जो एक के बाद दूसरे ज्ञान द्वारा (अणु व्यवसायात्) ज्ञात होता है। जैसे 'मैं मेज को जानता हूँ, यह हमारा प्रथम ज्ञान हुआ तथा 'मैं जानता हूँ कि मैं मेज को जानता हूँ; यह हमारा दूसरा ज्ञान अथवा ज्ञान के वाद ज्ञान हुआ। कहने का तात्पर्य यह कि प्रथम ज्ञान में हमारे ज्ञान का विषय 'मेज' है। दूसरे ज्ञान में हमारे ज्ञान का विषय 'मेज के ज्ञान का ज्ञान' हुआ अर्थात् ज्ञान ही ज्ञान का विषय हुआ।

काश्मीर शैव दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान विषय के रूप में ज्ञात नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञान सदैव ज्ञाता को (अर्थात् ज्ञाता के पक्ष में) होता है न कि ज्ञात को; अर्थात् ज्ञान ज्ञाता का भाग होता है। ज्ञान को जानना ज्ञाता को जानना है। ज्ञाता को ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता क्योंकि ज्ञाता सदैव ज्ञेय से पूर्व रहता है। ज्ञाता विषयी को ज्ञान का विषय कहना वदतोव्याघात है, ज्ञान का विषय ज्ञान नहीं है वरन् विषय को जानना ज्ञान है। यदि ज्ञान स्वयं प्रकाशित अथवा ज्ञात नहीं है तथा इसे दूसरे ज्ञान की अपेक्षा रहती है तो यहाँ अनवस्था दोष होगा क्योंकि दूसरे ज्ञान को तीसरे ज्ञान की अपेक्षा होगी तथा तीसरे को चौथे की।

ज्ञान विषय के रूप में ज्ञात नहीं हो सकता, किन्तु यह भी एक तथ्य है कि हम अपने ज्ञान को जानते हैं। काश्मीर शैव दार्शनिक कहते हैं कि ज्ञान कुर्सी या मेज के समान ज्ञेय नहीं है, वरन् ज्ञान स्वयं प्रकाश है। विषय को प्रकाशित करने में ज्ञान भी स्वयं प्रकाशित होता है। हम मेज को जानते हैं तथा उसी क्षण हमें मेज को जानने का ज्ञान भी स्वयं हो जाता है। ज्ञान प्रकाश के समान है। प्रकाश वस्तु को प्रकाशित करता है तथा उसी समय स्वयं को भी उसी प्रक्रिया में प्रकाशित करता है। वस्तु के प्रकाशित होने में वस्तु प्रकाश का विषय है क्योंकि प्रकाश वस्तु पर पड़ता है। किन्तु जब प्रकाश स्वयं को प्रकाशित करता है तो ऐसा नहीं है कि प्रकाश स्वयं को विषय बना कर उस पर पुनः पड़ता है, इसलिये प्रकाशित है वरन् प्रकाश विषयी रूप में ही प्रकाशित है। उसी प्रकार ज्ञान भी ज्ञान का विषय नहीं बनता वरन् विषयी रूप में ही स्वयं प्रकाश है।

प्रमाण विचार :—अन्य भारतीय दर्शनों की भाँति काश्मीर शैव दर्शन भी ज्ञान के प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द आदि प्रमाणों को मानता है। इस सन्दर्भ में काश्मीर शैव दर्शन की प्रमुख विशेषता इन सभी प्रमाणों के मूल में चेतना को मानना है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार चेतना ही इन सभी प्रमाणों का आधार है तथा चेतना द्वारा ही ये सभी प्रमाण प्रकाशित हैं,[1] अतः अन्ततः चेतना या चिति ही यथार्थ प्रमाण है। अन्य सभी प्रमाण चिति के साधन रूप हैं।

चिति को ही एकमात्र यथार्थ प्रमाण के रूप में प्रतिपादित करने के क्रम में काश्मीर शैव दार्शनिक सर्वप्रथम उस तथ्य पर विचार करते हैं जिससे स्वयं प्रमाण प्रमाणित अथवा यथार्थ माना जाता है। उनके अनुसार चेतना ही सभी प्रमाणों को प्रमाणित करती है, अथवा चेतना ही सभी प्रमाणों का प्राण है। उदाहरण के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण को लिया जाय तो प्रश्न उठता है कि हम किस प्रकार जानते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान का यथार्थ साधन है? प्रत्युत्तर में कहा जा

१. ई० प्र० वि० २/३/२

सकता है कि हमारी बुद्धि या चेतना प्रत्यक्ष की यथार्थता को जान लेती है। इस प्रकार दूसरे शब्दों में कहा जाय तो यह कि चेतना ही प्रत्यक्ष के माध्यम से प्रत्यक्ष करती है। केवल ज्ञानेन्द्रियों का विषय के साथ सन्निकर्ष हो जाना ही प्रत्यक्ष को प्रमाण रूप में प्रतिष्ठित नहीं करता। हमारी चेतना ही ज्ञानेन्द्रिय तथा विषय के संयोग द्वारा ज्ञान प्राप्त करती है और वही प्रत्यक्ष को प्रमाण रूप में प्रतिपादित करती है। इसी प्रकार अनुमान आदि प्रमाणों को साधन रूप में प्रयोग कर अन्ततः चेतना ही ज्ञान प्राप्त करती है तथा उनकी यथार्थता भी संपादित करती है। आगम प्रमाण के विषय में कहा गया है कि आगम अन्तः विचार या ईश्वर के ज्ञान की भाषीय अभिव्यक्ति है जो चैतन्य स्वरूप है।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि आगम प्रमाण के रूप में भी चेतना या चिति ही बाह्य अभिव्यक्त है।

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार आत्मा अथवा चेतना ही ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से प्रत्यक्ष तथा व्याप्ति आदि साधनों के द्वारा अनुमान करती है, किन्तु सांख्य दर्शन में यह कार्य बुद्धि द्वारा संपादित होना माना गया है न कि सीधे पुरुष अथवा आत्मा या चेतना द्वारा। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार बुद्धि एक इन्द्रिय (अन्तःकरण) है इसलिये ज्ञान का मात्र एक साधन या उपकरण है। उपकरण स्वयं देख या जान नहीं सकता। उदाहरण के लिए जब हम मेज को देखते या जानते हैं तो हमारी आँख या बुद्धि उसे देखती या जानती नहीं है वरन् हम अपने आँख या बुद्धि द्वारा उसे देखते या जानते हैं। इस प्रकार काश्मीर शैव दार्शनिक ज्ञानेन्द्रियों को साधन रूप ही मानते हैं, जिनका प्रयोग चिति प्रत्यक्ष अनुमान आदि में करती है तथा प्रत्यक्ष, अनुमान आदि भी स्वतन्त्र प्रमाण न होकर चिति के साधन हैं। अतः चिति ही एक मात्र यथार्थ प्रमाण है।

इस सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि यदि ज्ञानेन्द्रियाँ मात्र साधन हैं तथा चिति ही वास्तविक ज्ञाता है तो क्या चिति स्वयं स्वतन्त्रता पूर्वक ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकती अथवा वह ज्ञान के साधनों पर सदैव निर्भर रहती है? इसके उत्तर में काश्मीर शैव दार्शनिक यह मानते हैं कि चेतना स्वतन्त्रता पूर्वक ज्ञान प्राप्त कर सकती है। पशु अवस्था में चेतना जब मल से संसिक्त तथा शरीर आदि के बन्धन से सीमित रहती है तो यह ज्ञान के साधनों पर निर्भर होती है। उदाहरण के लिए कमरे में बन्द व्यक्ति को बाहर का दृश्य देखने के लिये खिड़की की अथवा अन्य उपकरण की आवश्यकता पड़ती है किन्तु कमरे के बाहर आ जाने पर व्यक्ति स्वयं बिना उपकरणों के बाहर का दृश्य देख सकता है। उसी प्रकार जब आत्मा या 'चेतना शरीर आदि के बन्धन से मुक्त हो जाय तो उसे ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा नहीं होगी। योगी जो मल की सीमा से ऊपर उठ जाते हैं, अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष

कर सकते हैं। जीवन्मुक्ति की अवस्था में मल से पूर्ण मुक्ति मिल जाने पर ज्ञानेन्द्रियों को साधन रूप में प्रयोग करना या न करना जीवन्मुक्त के स्वातन्त्र्य पर निर्भर होता है। जीवन्मुक्त विना ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से ही सब कुछ जान सकता है।

चिति को ही एकमात्र यथार्थ प्रमाण मानने में दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि चेतना ही विषय को विविध प्रमाणों की सहायता से जानती या प्रमाणित करती है, किन्तु चेतना स्वयं किस प्रकार ज्ञात अथवा प्रमाणित होती है? काश्मीर शैव दार्शनिक इसके उत्तर में कहते हैं कि चेतना स्वयं प्रकाशित होने से स्वयं प्रमाणित है। ज्ञान और चेतना स्वयं प्रकाश हैं, क्योंकि जो सबको प्रकाशित करता है उसे किसी अन्य द्वारा प्रकाशित होना नहीं माना जा सकता। चेतना जो ज्ञान के साधनों को प्रकाशित करती है अथवा उनका आधार है, उसे साधनों द्वारा नहीं जाना जा सकता।[1] अतः काश्मीर शैव दार्शनिक चेतना अथवा आत्मा को स्वयं प्रमाणित मानते हैं, उनके अनुसार ज्ञान की हर प्रक्रिया ज्ञाता का पूर्व अस्तित्व आपादित करती है। विना ज्ञाता के ज्ञान नहीं हो सकता।[2] यदि आत्मा अथवा चेतना का निषेध किया जाय तो निषेधकर्ता के रूप में आत्मा अथवा चेतना का अस्तित्व स्वतः मान्य होगा।[3]

यह स्वयंसिद्ध अथवा स्वयं प्रकाश चेतना ही आगम प्रमाण के रूप में बाह्य अभिव्यक्त है, जिसे काश्मीर शैव दर्शन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है, अथवा दूसरे शब्दों में, काश्मीर शैव दर्शन आगम प्रमाण पर ही आधारित है। अतः आगम प्रमाण की प्रामाणिकता को काश्मीर शैव दर्शन की दृष्टि से समझना आवश्यक है।

आगम प्रमाणः

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार चेतना के दो स्तर भेद किया जा सकता है। एक निम्नतर चेतना अथवा पशुज्ञान का स्तर और दूसरा उच्चतर चेतना अथवा शिवज्ञान का स्तर। पशुज्ञान के स्तर पर चेतना मल से आबद्ध रहती है अतः इस स्तर का ज्ञान सीमित अथवा अपूर्ण रहता है। शिवज्ञान का स्तर चेतना की उच्चतम अवस्था है जहाँ चेतना मल आदि बन्धन से सर्वथा मुक्त है। इस स्तर पर पूर्ण ज्ञान रहता है। आगम चेतना की उच्चतम अवस्था की अभिव्यक्ति है। अर्थात् पूर्ण ज्ञान के स्तर की अभिव्यक्ति होने के कारण प्रामाणिक है।

१—ऐसा मानने पर अनवस्था दोष होगा।

२—कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादि सिद्धे महेश्वरे।
अजडात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत कः ॥ ई० प्र० वि० १/१/२

३—इस सम्बन्ध में विशद विवेचना आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में की गई है।

आगम को ईश्वर का प्रकाशन माना जाता है तथा इसलिये भी आगम को प्रमाण रूप माना जाता है। आगम को ईश्वर द्वारा साक्षात प्रकाशित होना यदि असंदिग्ध न भी माना जाय तो भी यदि आगम शिवज्ञान प्राप्त योगियों की अनुभूतियाँ अथवा प्रकाशन हैं तो उन्हें ईश्वर द्वारा ही प्रकाशित होना कहा जायेगा क्योंकि काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार शिवज्ञान प्राप्त योगी अथवा मुक्तात्मा स्वयं शिव है। आगम ईश्वर द्वारा दिया गया उपदेश मात्र नहीं है, वरन् अनुभूतियों पर आधारित है। यह योगियों द्वारा अनुभूत किये गये तथ्यों का संग्रह है।

अब प्रश्न उठता है कि आगम को किस प्रकार प्रामाणिक माना जाय ? केवल यह कह देने से आगम प्रामाणिक नहीं हो सकता कि वह शिवज्ञान प्राप्त योगियों अथवा मुक्तात्मा के स्तर की अनुभूति है क्योंकि यह कथन भी अपनी प्रामाणिकता के लिये प्रमाण की अपेक्षा करेगा। पुनः आगम आत्मा तथा शिव के वास्तविक स्वरूप की विवेचना करता है जो इन्द्रिय ज्ञान अथवा सांसारिक ज्ञान के लिये अज्ञेय है। इसी कारण पाश्चात्य दर्शन में तर्कीय प्रत्यक्षवादियों (logical positivists) द्वारा तत्वशास्त्र (metaphysics) की आलोचना की गयी है। तत्त्वशास्त्र द्वारा प्रतिपादित आत्मा तथा ईश्वर को काल्पनिक कहा गया क्योंकि इन तत्त्वों को सत्यापित नहीं किया जा सकता। भारतीय दर्शन में भी चार्वाकों ने आगम तथा वेद को प्रमाण रूप में स्वीकार नहीं किया तथा अपनी आलोचना में वेदों तथा आगमों को धूर्तों की रचना बताया। इस सन्दर्भ में चार्वाकों द्वारा प्रस्तुत एक कहानी दिलचस्प है। इसके अनुसार एक समय कहीं एक धूर्त ठग था। ठगी के आरोप में दण्ड स्वरूप उसकी नाक काट ली गयी। नाक कट जाने पर वह ठग उस राज्य की सीमा से दूर दूसरे राज्य में चला गया। वहाँ एक स्थान पर वह समाधि की मुद्रा में बैठ गया। एक नाक कटे व्यक्ति को इस प्रकार बैठे देख बहुत से लोग कुतूहलवश वहाँ एकत्रित हो गये। लोगों के पूछने पर उस ठग ने बताया कि उस मुद्रा में बैठने पर उसे अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है। यह देखने के लिये कि ऐसी स्थिति में आनन्द की अनुभूति होती है या नहीं कुछ लोगों ने अपनी नाक काट कर समाधि लगायी। किन्तु उन्हें आनन्द की अनुभूति नहीं हुई। उन लोगों द्वारा पूछे जाने पर ठग ने उनसे कहा कि वास्तव में ऐसी स्थिति में आनन्द की कोई अनुभूति नहीं होती, किन्तु चूँकि अब नाक कट गयी है, अतः यह कहना ही अभीष्ट है कि हमें आनन्द की अनुभूति होती है।

आगमिक परंपरा के तत्वशास्त्र की पाश्चात्य दर्शन के तत्त्वशास्त्र की भाँति काल्पनिक कह कर आलोचना नहीं की जा सकती क्योंकि आगमिक तत्वशास्त्र

अनुभूति पर आधारित है। भारतीय परंपरा के अनुसार तत्वशास्त्र योगियों द्वारा

किये गये तत्त्व के साक्षात्कार पर आधारित है। अब प्रश्न उठता है आगमिक कथन को सत्यापित करने की अथवा दूसरे शब्दों में, आगम के वैज्ञानिक आधार की। काश्मीर शैव दार्शनिक यह मानते हैं कि चेतना की उच्चतम अवस्थिति अथवा शिव-ज्ञान प्राप्त कर आगम की प्रामाणिकता को सत्यापित किया जा सकता है अथवा इसकी प्रामाणिकता को स्वयं अनुभूत किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में चार्वाक द्वारा की गई आलोचना के प्रत्युत्तर में कहा जा सकता है कि उच्चतर ज्ञान अथवा शिवज्ञान प्राप्त करने में नाक कटने जैसा भय नहीं है। अतः आगमिक कथन सत्यापित हो सकते हैं।

आगम की प्रामाणिकता को सत्यापित करने के लिये शिवज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। सामान्य आनुभविक ज्ञान अथवा इन्द्रिय ज्ञान सीमित है। सामान्य आनुभविक ज्ञान की सीमा अथवा अपूर्णता को काश्मीर शैव दार्शनिक भी मानते हैं। काण्ट के समान काश्मीर शैव दार्शनिक भी मानते हैं कि वास्तविकता (reality अथवा Thing in itself) सामान्य आनुभविक ज्ञान द्वारा अज्ञेय है। किन्तु वे काण्ट के समान यह मानते हुए भी वास्तविकता को सर्वथा अज्ञेय नहीं मानते। उनके अनुसार वास्तविकता सामान्य आनुभविक ज्ञान के लिये अज्ञेय है, किन्तु उच्चतर ज्ञान के लिये अथवा शिवज्ञान के लिये ज्ञेय है। हमारे सामान्य आनुभविक ज्ञान की एक सीमा है जिसमें आने वाली वस्तुओं को ही हम जान सकते हैं। वस्तु का वास्तविक स्वरूप जो आनुभविक ज्ञान की सीमा के परे है, हम इसे नहीं जान सकते। किन्तु शिव ज्ञान द्वारा जो पूर्ण ज्ञान का स्तर है हम इसे जान सकते हैं। इसके लिये शिव ज्ञान प्राप्त करना अथवा आगम की प्रामाणिकता पर विश्वास करना आवश्यक है। इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। मान लिया जाय कि हम कनाडा कभी नहीं गये हैं और हम कनाडा के विषय में कुछ जानकारी चाहते हैं। ऐसी स्थिति में हमें कनाडा से आये व्यक्ति की बातों पर विश्वास करना होगा। उसकी बातों की सत्यता को जानने के लिये यह आवयश्क है कि हम कनाडा यात्रा करें अर्थात् बीसा-पासपोर्ट आदि आवश्यक शर्तों को पूरी करें। इसी प्रकार आगम की प्रमाणिकता को जानने के लिये आवश्यक है कि हम आगम द्वारा निर्दिष्ट साधनाओं को अपना कर शिवज्ञान प्राप्त करें।

आगम ज्ञान के सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठ सकता है कि यदि आगम सत्य की अनुभूति पर आधारित हैं तो ऐसा क्यों है कि अद्वैतवादी आगम अद्वैत परक ज्ञान का निर्देश करते हैं तथा द्वैतवादी आगम द्वैत परक ज्ञान का निर्देश करते हैं। दूसरे शब्दों में, आगम में मतवैभिन्य क्यों है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यह मतवैभिन्य सत्य की अनुभूति के स्तर भेद के कारण है। कहने का तात्पर्य यह

है कि जो आगम सत्य के द्वैत स्तर तक की अनुभूति पर आधारित हैं वे उतने को ही प्रकाशित करते हैं और जो आगम सत्य के अद्वैत वादी स्तर की अनुभूति पर आधारित हैं वे अद्वैत अथवा पूर्ण ज्ञान को प्रकाशित करते हैं। इस बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है कि सारा दार्शनिक विवाद नाम मात्र का है। सभी दर्शन एक ही सत्य परम-सत्य अथवा परम शिव की विभिन्न अभिव्यक्तियों को व्यक्त करते हैं।

इस मत वैभिन्य का कारण अभिव्यक्ति के साधनों की विषमता भी कहा जा सकता है। आगम चेतना की अन्तः अनुभूति के बाह्य प्रकाशन हैं किन्तु बाह्य प्रकाशन भाषा, संस्कृति आदि से प्रभावित हो सकता है। आगम ज्ञान का बाह्य रूप जो पुस्तकाकार में प्राप्त है वह चूँकि हमारे आनुभविक ज्ञान की सीमा में है, अतः यह भी कहा जा सकता है कि वह देश-काल से प्रभावित है। किन्तु यथार्थ ज्ञान अथवा शिवज्ञान देश काल की सीमा से अप्रभावित है। कहने का तात्पर्य यह है कि उच्चतम ज्ञान की स्थिति में किसी प्रकार का मतभेद नहीं हो सकता। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार पूर्ण ज्ञान की स्थिति पूर्ण एकता की स्थिति है, जहाँ विभिन्न दार्शनिकों द्वारा स्थापित सत्य परम शिव की ही विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं।

यह भी कहा जा सकता है कि चूँकि हम आगमों को (अथवा आगमज्ञान या उच्चतर ज्ञान को) आनुभविक ज्ञान या सामान्य ज्ञान द्वारा समझने का प्रयत्न करते हैं इसीलिये आगमों में मत वैभिन्य या विभेद प्रतीत होता है। उच्चतर ज्ञान द्वारा समझने पर आगमों में किसी प्रकार का विभेद नहीं होगा।

इस प्रकार काश्मीर शैव दार्शनिक आगम प्रमाण के मूल में भी चेतना को ही यथार्थ प्रमाण मानते हैं। उनके अनुसार चेतना स्वयं प्रकाश है तथा ज्ञान स्वतः प्रमाणित है, इसलिये आगम भी स्वतः प्रमाणित हैं। अतः काश्मीर शैव दर्शन की दृष्टि से प्रामाण्यवाद पर विचार करना आवश्यक है।

प्रामाण्य विचार :—भारतीय दर्शन में ज्ञान के प्रामाण्य को लेकर दो विचार-धारायें हैं। जो दर्शन यह मानते हैं कि ज्ञान की प्रामाणिकता स्वयं ज्ञान में ही निहित है, वे स्वतः प्रामाण्यवादी कहलाते हैं तथा जो दर्शन यह मानते हैं कि ज्ञान की प्रामाणिकता ज्ञान में आन्तरिक रूप से निहित नहीं है अर्थात् ज्ञान अपनी प्रामाणिकता के लिए बाह्य कारणों पर निर्भर है वे परतः प्रामाण्यवादी कहलाते हैं। काश्मीर शैव दर्शन स्वतः प्रामाण्यवादी है जिसके अनुसार ज्ञान की प्रामाणिकता स्वयं ज्ञान में ही निहित है और ज्ञान की अप्रामाणिकता बाह्य है। न्याय दर्शन परतः प्रामाण्यवादी है जिसके अनुसार ज्ञान की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता दोनों ही बाह्य

हैं। न्याय दर्शन यह मानता है कि ज्ञान स्वयं में न तो प्रामाणिक होता है और नहीं अप्रामाणिक। इसकी प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता दूसरे ज्ञान द्वारा सिद्ध होती है। यदि उस ज्ञान में अर्थक्रियाकारित्व अथवा संवादी प्रवृत्ति है तो वह ज्ञान प्रामाणिक है और यदि उसमें संवादी प्रवृत्ति नही है तो वह ज्ञान अप्रामाणिक होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि हमें कुर्सी का ज्ञान होता है और हम यदि कुर्सी पर बैठ सकते हैं तो उस ज्ञान में संवादी प्रवृत्ति है अर्थात् वह ज्ञान प्रामाणिक है। यदि मृगतृष्णा में हमें जल का भान होता है तथा यदि उस जल से हमारी प्यास नहीं बुझती है तो हमारा जल का ज्ञान अप्रामाणिक होगा।

इस प्रकार परतः प्रामाण्यवादियों के अनुसार किसी वस्तु के ज्ञान की सत्यता या असत्यता दूसरे ज्ञान द्वारा सिद्ध की जाती है जो उस वस्तु की अर्थक्रिया कारित्व को सिद्ध करता है। अर्थक्रिया जांचने वाला यह ज्ञान पहले ज्ञान के अतिरिक्त अथवा वाह्य है। अतः ज्ञान की प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता बाह्य है। इसकी आलोचना करते हुए स्वतः प्रामाण्यवादी कहते हैं कि यदि ज्ञान में प्रामाणिकता स्वतः नहीं है तो दूसरे ज्ञान द्वारा उसकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं की जा सकती क्योंकि दूसरा ज्ञान अपनी प्रामाणिकता के लिये तीसरे ज्ञान की अपेक्षा करेगा तथा तीसरा ज्ञान अपने प्रामाणिकता के लिये चौथे ज्ञान की अपेक्षा करेगा। इस प्रकार यहाँ अनवस्था दोष होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि दूसरा ज्ञान बिना स्वयं प्रामाणिक सिद्ध हुये पहले ज्ञान की प्रामाणिता को सिद्ध नहीं कर सकता और न ही तीसरा ज्ञान बिना स्वयं प्रामाणिक सिद्ध हुए उसे प्रामाणिक सिद्ध कर सकता है। इस प्रकार हर दूसरा ज्ञान अपनी प्रामाणिकता के लिये तीसरे ज्ञान की अपेक्षा करेगा।

काश्मीर शैव दार्शनिक परतः प्रामाण्यवाद की आलोचना में कहते हैं कि 'अर्थक्रिया' अथवा संवादी प्रवृत्ति के आधार पर ज्ञान की प्रामाणिकता नहीं सिद्ध की जा सकती है अथवा इसे प्रामाणिकता का आधार नहीं बनाया जा सकता। काश्मीर शैव दार्शनिक कहते हैं कि स्वप्न में भी हम वस्तु में अर्थक्रियाकारित्व देखते हैं अर्थात् स्वप्न में लगी प्यास भी स्वप्न के जल से बुझ जाती है अथवा स्वप्न में देखी गई कुर्सी पर हम बैठ भी सकते हैं। किन्तु जागने पर हम जानते हैं कि वास्तविक कुर्सी अथवा वास्तविक जल का अभाव था। इस प्रकार संवादी प्रवृत्ति को सत्यता को जानने का आधार नहीं माना जा सकता। काश्मीर शैव-दार्शनिक परतः प्रामाण्यवादियों के समान ज्ञान के अप्रामाण्य को वाह्य मानते हैं। उनके अनुसार हम दूसरे ज्ञान द्वारा ज्ञान की अप्रामाणिकता को जानते हैं। ज्ञान की प्रामाणिकता स्वयं प्रकाशित है। उसे अपने प्रामाणिकता के लिये दूसरे ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती।

ज्ञान की स्वतः प्रामाणिकता के सन्दर्भ में स्वतः प्रामाण्यवादी कहते हैं कि जब तक बाधक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता तब तक हमारा ज्ञान प्रामाणिक रहता है। जिस प्रकार स्वप्न ज्ञान स्वप्न की अवस्था तक प्रामाणिक रहता है तथा जागने पर अथवा बाधक ज्ञान उत्पन्न होने पर अप्रामाणिक सिद्ध होता है उसी प्रकार हमारा हर ज्ञान बाधक ज्ञान उत्पन्न होने से पूर्व तक प्रामाणिक रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि दूसरे ज्ञान द्वारा जो कुछ जाना जाता है वह ज्ञान की अप्रामाणिकता ही जानी जाती है।

इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि सांख्य दर्शन ज्ञान की प्रामाणिकता तथा अप्रामाणिकता दोनों को स्वतः मानता है। किन्तु यह मान्यता विरोधाभासी है। यह संभव नहीं हो सकता कि ज्ञान स्वयं ही प्रामाणिक और अप्रामाणिक दोनों हो। ऐसी स्थिति में प्रामाणिक और अप्रामाणिक में विभेद नहीं किया जा सकता। कुछ बौद्ध दार्शनिक यह मानते हैं कि ज्ञान उत्पत्ति के क्षणों में अप्रामाणिक होता है तथा इसकी प्रामाणिकता बाद में अनुमान आदि द्वारा निर्धारित होती है। किन्तु यह भी संभव नहीं है क्योंकि अप्रामाणिक ज्ञान को प्रामाणिक नहीं किया जा सकता। अप्रामाणिक को प्रामाणिक सिद्ध करने में भी अनवस्था दोष होगा।

भ्रम-सिद्धान्त :—अन्य भारतीय दर्शनों की भाँति काश्मीर शैव-दर्शन भी भ्रम की समस्या पर पर्याप्त विचार करता है। काश्मीर शैव-दर्शन में प्रस्तुत भ्रम सम्बन्धी विचार 'अपूर्णख्याति' से अभिहित है। अपूर्णख्याति की विवेचना भारतीय दर्शन के अन्य ख्यातिवादों के सन्दर्भ में करना उचित होगा।

न्याय-वैशेषिक के 'अन्यथा ख्यातिवाद' के अनुसार 'रज्जु-सर्प' भ्रम के उदाहरण में जिस सर्प का हम प्रत्यक्ष करते हैं, उसका अन्यत्र कहीं (अन्यथा) अस्तित्व रहता है। रज्जु में उस सर्प का प्रत्यक्ष ज्ञान-लक्षण-प्रत्यक्ष के कारण होता है। अतः सर्प का ज्ञान वास्तव में अन्य स्थान पर स्थित सर्प का ज्ञान है। रामानुज के 'सत्ख्यातिवाद' के अनुसार सर्प का ज्ञान वास्तविक है क्योंकि उनके 'पञ्चीकरण' सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु प्रत्येक वस्तु में उपस्थित है। सर्प जो अस्पष्ट रूप से रज्जु में उपस्थित है भ्रम के ज्ञान के समय चेतना को स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने लगता है। अतः रज्जु में सर्प का प्रत्यक्ष होना वास्तविक सर्प का प्रत्यक्ष (सत-ख्याति) होना है। मीमांसकों (प्रभाकर) के अनुसार भ्रम दो विभिन्न ज्ञान के विषयों में भेद न समझने के कारण है। रज्जु-सर्प ज्ञान में सर्प का ज्ञान स्मृति के कारण है तथा रज्जु प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है। रज्जु-सर्प भ्रम में प्रत्यक्ष ज्ञान तथा स्मृति ज्ञान का भेद न करके स्मृति ज्ञान के विषय को मान्यता प्रदान कर देना भ्रम (अख्याति) है।

उपरोक्त वस्तुवादी दर्शनों में विभिन्न प्रकार से भ्रम को भी यथार्थ ज्ञान ही प्रतिपादित किया गया है क्योंकि यह ज्ञान भी किसी विषय वस्तु का ही ज्ञान है। इसे भ्रम ज्ञान केवल इसलिये कहा जाता है कि यह अन्य विषय वस्तु के ज्ञान से मिश्रित हो गया रहता है। वास्तव में वस्तुवादी दार्शनिक भ्रम ज्ञान को मिथ्याज्ञान के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि ऐसी स्थिति में उन्हें जगत् को मिथ्या मानने की संभावना भी मान्य हो सकती है। अतः वस्तुवादी न केवल जगत् मिथ्यात्व की संभावना से इन्कार करते हैं अपितु रज्जु-सर्प भ्रम की भी संभावना नहीं मानते। वे जिस प्रकार जगत् के ज्ञान को यथार्थ प्रत्यक्ष का विषय मानते हैं उसी प्रकार भ्रम ज्ञान को भी यथार्थ प्रत्यक्ष का ही विषय मोनने का प्रयास करते हैं। अतः भ्रम की विभिन्न व्याख्याओं में वे यह नहीं मानते कि भ्रम ज्ञान का विषय मिथ्या है अथवा उसका अस्तित्व ही नहीं वरन् वे यह प्रतिपादित करते हैं कि भ्रम ज्ञान का विषय भी वास्तविक विषय है केवल हम एक वास्तविक विषय के स्थान पर दूसरे वास्तविक विषय का प्रत्यक्ष कर लेते हैं।

भ्रम के वस्तुवादी सिद्धान्तों की आलोचना करते हुए आभासवादी कहते हैं कि वास्तव में वस्तुवादी भ्रम के विषय का यथार्थ विषय के साथ तादात्म्य निरूपण करते हैं अथवा यथार्थ वस्तु का स्थान भ्रम वस्तु ग्रहण कर लेता है। 'रज्जु-सर्प' भ्रम के उदाहरण में रज्जु का प्रत्यक्ष नहीं होता वरन् सर्प का प्रत्यक्ष होता है; अर्थात् हम सर्प को देखते या जानते हैं न कि रज्जु को। किन्तु यह सत्य है कि वहाँ सर्प का अस्तित्व नहीं है वरन् रज्जु का अस्तित्व है। सर्प का अस्तित्व कहीं और हो सकता है किन्तु 'रज्जु-सर्प' भ्रम में सर्प का निश्चय अस्तित्व नहीं है। अतः सर्प का यह अस्तित्व हमारी मानसिक रचना का विषय है अथवा विषयीनिष्ठ सृष्टि है न कि वस्तुनिष्ठ यथार्थ सृष्टि। अतः सभी आभासवादी दर्शनों में भ्रम को विषयीनिष्ठ सृष्टि मानकर ही व्याख्या की गयी है यद्यपि उनके विश्लेषण का प्रयास भिन्न-भिन्न हो सकता है।

विज्ञानवादी बौद्ध दर्शन के अनुसार 'रज्जु-सर्प' भ्रम में जिस सर्प का हम प्रत्यक्ष करते हैं वह रज्जु में नहीं है वरन् हमारे (अथवा प्रत्यक्षकर्ता के) मन में है और उसे ही हम रज्जु पर प्रक्षेपित करते हैं। अतः भ्रम ज्ञान वास्तव में ज्ञाता के मन में स्थित विज्ञानों को ही बाह्य प्रक्षेपित कर जानना (आत्म ख्याति) है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार भ्रम 'अनिर्वचनीयाख्याति' का विषय है। 'रज्जु-सर्प' भ्रम में प्रत्यक्ष होने वाला सर्प सत्य नहीं है, फिर भी उसकी प्रतीति होती है अतः इसे न तो सत् ही कहा जा सकता है और न ही असत्। इसलिये सर्प की सत्ता अनिर्वचनीय है।

काश्मीर शैव-दार्शनिक कहते हैं कि भ्रम वस्तु को पूर्णतया मिथ्या नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह पूर्णतया नास्तित्ववान नहीं होती वरन् यह चेतना की वास्तविक चैतसिक सृष्टि अथवा प्रक्षेपण है। ज्ञाता से स्वतन्त्र 'रज्जु-सर्प के अस्तित्व को मानना 'रज्जु-सर्प' ज्ञान का अपूर्ण विचार है। इसका पूर्ण विचार यह है कि 'रज्जु-सर्प' का ज्ञान चेतना का (अथवा चेतन कर्ता का) मानसिक प्रक्षेपण है। भ्रम वास्तव में अपूर्ण ज्ञान (अपूर्ण ख्याति) का विषय है। भ्रम को इस प्रकार अज्ञान का विषय कहा जा सकता है किन्तु अज्ञान ज्ञान का सर्वथा विरोधी होना अथवा ज्ञान की सर्वथा अनुपस्थिति होना नहीं है। भ्रम ज्ञान को सर्वथा ज्ञान की अनुपस्थिति नहीं कहा जा सकता क्योंकि हमें सर्प का ज्ञान तो होता ही है। वास्तव में यह हमारे गलत ज्ञान का विषय है तथा गलत ज्ञान (wrong knowledge) से तात्पर्य अपूर्ण ज्ञान से है। तन्त्रालोक में अज्ञान को विषय का अपूर्ण ज्ञान कहा गया है।[1] जब हम रज्जु में सर्प को देखते हैं तो यहाँ ज्ञान की अनुपस्थिति नहीं है क्योंकि हम सर्प को देखते या जानते तो हैं ही, इसे भ्रम केवल इसलिये कहा जाता है कि हम सर्प को इसके वास्तविक रूप में नहीं देखते हैं। यह सर्प हमारे अपूर्ण ज्ञान का विषय है। सर्प की वास्तविकता यह है कि यह हमारे मन का प्रक्षेपण अथवा आभास है। जब हम यह जानते हैं कि सर्प का विषय रूप में हमारे मन से पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है तो हमारा ज्ञान पूर्ण ज्ञान होता है। उसी प्रकार स्वप्न-वस्तु को भी मन से पृथक् स्वतन्त्र वस्तु न मान कर मन से अभिन्न अथवा मन का आभास मानना पूर्ण ज्ञान है तथा इसके विपरीत मानना अपूर्ण ज्ञान है।

इस अपूर्ण ख्याति के आधार पर ही काश्मीर शैव-दर्शन में जगत् को आभास रूप में सत्य माना गया है। यह जगत् चेतना (शिवचैतन्य) का ही आत्म प्रक्षेपण है तथा इसे आत्म चैतन्य से पृथक मानना अज्ञान अथवा अपूर्ण ज्ञान है तथा जगत् को आत्म चैतन्य का ही प्रक्षेपण अथवा आत्मा से अपृथक् मानना पूर्ण ज्ञान अथवा जगत् को वास्तविक रूप में जानना है।

१—अतो ज्ञेयस्य तत्त्वस्य सामस्त्येनाप्रथात्मकम्। ज्ञानमेव तदज्ञानं शिवसूत्रेषु भाषितम्। त० आ०।१।२६

कारणता

अनेक दर्शन (जिनमें काश्मीर शैवशास्त्र भी है) जगत् को सृष्ट या कार्य रूप मानते हैं। कार्य मानने पर किसी स्रष्टा या कारण की अवधारणा आवश्यक हो जाती है। कारण की परिकल्पना के आधार पर ही कार्य का स्वरूप निश्चित किया जाता है। अतः सृष्टि विषयक मान्यता को कोई रूप देने के पूर्व प्रायः सभी दर्शनों में कारणता पर विचार किया गया है। कारण मीमांसा में जिन मुख्य समस्याओं पर विचार किया जाता है उनमें से एक यह है कि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में उपस्थित रहता है या नहीं। जो दार्शनिक मानते हैं कि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में विद्यमान नहीं रहता वरन् कार्य नई उत्पत्ति है, उन्हें असत्कार्यवादी कहा जाता है तथा जो यह मानते हैं कि कार्य पहले से ही कारण में रहता है, वे सत्कार्यवादी कहलाते हैं।

असत्कार्यवाद को मानने वालों में न्याय-वैशेषिक तथा बौद्ध दर्शन प्रमुख रूप से है। न्याय - वैशेषिक में असत्कार्यवाद पर आधारित आरम्भवाद का प्रतिपादन किया गया है जिसके अनुसार कार्य सर्वथा नवीन उत्पत्ति है इस सिद्धान्त के आधार पर परमाणुओं के संयोग द्वारा जगत् की सृष्टि की व्याख्या की गई है। बौद्ध दर्शन के अनुसार कार्य की उत्पत्ति हो जाने पर कारण का अस्तित्व नहीं रह जाता। प्रत्येक वस्तु हर क्षण परिवर्तित होती रहती है जो अपने पूर्ववर्ती के लिए कार्य है तथा परवर्ती के लिये कारण। बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार जगत् के कारण की सत्ता अनिवर्चनीय है।

सत्कार्यवाद को मानने वालों में परिणामवादी, विवर्तवादी और आभासवादी हैं। परिणामवाद के अनुसार कार्य कारण का ही परिणाम है। इस सिद्धान्त की मान्यता है कि कारण कार्य के रूप में परिणमित हो जाता है किन्तु वह सर्वथा नष्ट नहीं होता बल्कि कार्य के सार रूप में विद्यमान रहता है यथा घड़ा मिट्टी का परिणाम है, जिसमें सार रूप मिट्टी विद्यमान है। विवर्तवाद के अनुसार कार्य की वास्तविक रचना नहीं होती बल्कि यह (कार्य) कारण का विवर्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार कारण में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। कारण रूप आधार पर कार्य का आभास होता है जो आध्यारोपण मात्र है जैसे सीप में चाँदी का आभास होता है। आभासवाद के अनुसार भी कार्य आभास ही है, किन्तु यह विवर्तवादी

आभास से भिन्न है। विवर्तवादी आभास में कारण कार्य का मात्र आधार बनता है जबकि आभासवाद में कारण ही कार्य रूप में आभासित होता है। विवर्तवाद में कारण और कार्य का कोई तात्त्विक सम्बन्ध नहीं है जबकि आभासवाद में कारण और कार्य तत्त्वतः एक हैं।[1]

सांख्य दर्शन में और रामानुज के विशिष्टाद्वैत में सृष्टि-विचार परिणामवाद पर आधारित है। सांख्य के अनुसार जगत् प्रकृति का परिणाम है तथा रामानुज जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानते हैं। शंकराचार्य के अद्वैत-वेदान्त के विवर्तवाद के आधार पर जगत् को ब्रह्म का विवर्त माना गया है। काश्मीर शैव दर्शन अपने कारणता सिद्धान्त में आभासवादी है।

काश्मीर शैव दर्शन की मूल मान्यता है कि सार्वभौम शक्ति (चिति शक्ति) ही अपनी सृष्टि की इच्छा के प्रभाव से विश्व के असंख्य रूपों में प्रकट होती है। अपनी बाह्य अभिव्यक्ति के पूर्व सिसृक्षा सार्वभौम चेतना के अन्दर उसी प्रकार है जिस प्रकार हमारे विचार अभिव्यक्त होने के पूर्व हमारी चेतना में (अन्दर) रहते हैं। एक रस अद्वैत रूप परम चेतना से विश्ववैभिन्न्य उसी प्रकार प्रकट होता है जैसे मयूराण्ड के रस से (जो वैभिन्न्य रहित होता है) रंगवैभिन्न्य आता है।[2]

सामान्यतया सृष्टि के दो प्रकार समझे जा सकते हैं। एक वह जहाँ सृष्टि की अभिव्यक्ति का क्रम होता है। इसका पूर्वापर अनुक्रम सार्वभौम नियम के अनुसार नियति द्वारा निश्चित होता है। इस क्रम को व्यावहारिक दृष्टि से सामान्यतः कारण-कार्य मान लिया जाता है, जैसे बीज से विशालकाय वृक्ष-प्रकट हो जाता है।

---

१ — विवर्तवाद और आभासवाद में तत्त्व मीमांसा की दृष्टि से कोई भेद नहीं है क्योंकि दोनों में कार्य आभास रूप ही है। दोनों सिद्धान्तों में विभेद मात्र इस बात को लेकर है कि विवर्तवाद में कारण और कार्य में तात्विक सम्बन्ध नहीं हो सकता जैसे रज्जु सर्प भ्रम में रज्जु और सर्प में तात्विक सम्बन्ध नहीं है। किन्तु आभासवाद के अनुसार कारण और कार्य में तात्विक सम्बन्ध होता है। आभासवाद के लिए स्वप्न का उदाहरण दिया जाता है जिसके अनुसार स्वप्न-द्रष्टा और स्वप्न की वस्तुओं में तात्विक सम्बन्ध होता है।

१. मयूराण्डरस का जो दृष्टान्त दिया गया है वह दार्ष्टान्ति में भी स्पष्टतः लागू होता है, यह आवश्यक नहीं है कि दृष्टान्त शतप्रतिशत रूप से दार्ष्टान्त पर लागू हो। यहाँ भी मयूराण्डरस से जो चित्र वैचित्र्य प्रकट होता है उसमें मयूराण्ड का स्वातन्त्र्य नहीं होता; किन्तु शिव चैतन्य से जगत् का जो प्रकटीकरण होता है, उसमें शिव को पूर्ण स्वातन्त्र्य रहता है।

दूसरी सृष्टि इस नियम के विपरीत विना किसी नियमित अनुक्रम और वाह्य उपादान कारण के हो सकती है, जैसे योगी अपनी आध्यात्मिक शक्ति के वल से महलों, बागों और उसमें रहने वाले प्राणियों सहित सुन्दर नगर बना लेता है।

काश्मीर शैव शास्त्र जागतिक वस्तुओं में पहले ढंग का कार्य-कारण सम्बन्ध मानता है किन्तु शिव जो जगत् की सृष्टि करता है, वह बाद वाले ढंग का माना गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार कारण-कार्य सम्वन्ध औपचारिक मान्यता है। यह व्यावहारिक अनुभव के आधार पर अपनी सुविधा के लिये मान लिया गया है। अभिव्यक्ति कर्ता (स्रष्टा) और अभिव्यक्त (जगत्) के वीच का वास्तविक सम्बन्ध कारण-कार्य सम्वन्ध जैसा नहीं है जिसमें उपादान विषयक विभिन्न मान्यतायें सन्निहित हैं। अपितु यह विचारक और विचार के सम्वन्ध जैसा है।

पहले ढंग के कार्य-कारण सम्बन्ध में स्वातन्त्र्य नहीं होता, वह नियत (determined) होता है; किन्तु दूसरे ढंग के कार्य-कारण में कर्ता को पूर्ण स्वातन्त्र्य होता है; उसमें नियति (determinism) नहीं होती। शिव अपने पूर्ण स्वातन्त्र्य में जगत् की रचना करता है। इसलिये काश्मीर शैव दर्शन में जो सृष्टि-सिद्धान्त है, वह वस्तुतः स्वातन्त्र्य-सिद्धान्त है, नियतवादी (deterministic) कार्य-कारण सम्वन्ध का सिद्धान्त नहीं है।

काश्मीर शैव दर्शन में कारण विषयक विभिन्न मतों की आलोचना करते हुए अपना मत प्रतिपादित किया गया है। उसकी आलोचना की विशेषता है कि वह उन्हें (अन्य सिद्धान्तों को) सर्वथा व्यर्थ न कह कर तद्विषयक मात्र एक दृष्टि मानता है। उसके अनुसार उसका सिद्धान्त पूर्ण है, अन्य अंग मात्र हैं।[1]

१—काश्मीर शैव शास्त्र जो अन्य सिद्धांतों का खण्डन करता है, अथवा कोई भी एक सम्प्रदाय अन्य सिद्धान्तों का खण्डन करता है तो उस खण्डन-मण्डन का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जा सकता है कि सिद्धान्ती अपने विपक्षी को वस्तुतः खण्डित कर देने में सफल नहीं होता, वह वस्तुतः इस खण्डन-प्रक्रिया में अपने ही सिद्धान्त को स्पष्ट करता है। अतः यह कहना कि सिद्धान्ती ने विपक्ष का खण्डन कर दिया, तार्किक दृष्टि से उचित नहीं हो सकता। सभी सिद्धान्त अपने-अपने ढंग से सृष्टि की संभावित व्याख्या करते हैं; कौन व्याख्या सही है और कौन गलत, इसका निर्णय संभव नहीं है क्योंकि तार्किक दृष्टि से सभी व्याख्यायें समान रूप से संभव (Possible) हैं। हाँ, इतना अवश्य विचार किया जा सकता है कि कौन सिद्धांत भली प्रकार सृष्टि की व्याख्या कर पाता है और कौन नहीं कर पाता। इस दृष्टि से भी विभिन्न दार्शनिक

काश्मीर शैव दर्शन द्वारा अन्य कारणतावादों की आलोचना

आरम्भवाद :—न्याय-वैशेषिक दर्शन अपने कारणता सिद्धान्त में असत्कार्यवादी हैं। उनके अनुसार कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में उपस्थित नहीं रहता। कारण से कार्य की सर्वथा नयी उत्पत्ति होती है। इस सिद्धांत के आधार पर परमाणुओं के संयोग से सृष्टि की रचना मानी गई है। यह दर्शन सृष्टि के समय उपादान कारण और निमित्त कारण में भेद करता है। पृथ्वी, जल, तेज और वायु के नित्य परमाणु विश्व के उपादान कारण हैं। ईश्वर जीवों के हित के लिये मिट्टी से घड़े की भाँति अदृष्ट के माध्यम से परमाणु के द्वयणुक, त्र्यणुक आदि संयोगक्रम से जगत् को उत्पन्न करता है। इसे कर्मफल भोग के नियम के अनुसार चलाता है और फिर अन्त में परमाणुओं को पुनः अलग-अलग कर के विश्व का संहार भी वही करता है। इस प्रकार परमाणुओं के संयोग से जगत्-रूपी सर्वथा नवीन कार्य की उत्पत्ति होती है। कार्य की सर्वथा नवीन उत्पत्ति या आरम्भ मानने से इसे आरम्भवाद कहा जाता है।

असत्कार्यवाद की आलोचना करते हुए सत्यकार्यवादी कहते हैं कि अभाव से भाव या असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। राई से तेल निकलता है क्योंकि राई में तेल पहले से ही विद्यमान है। किन्तु बालू से तेल नहीं निकलता जिसमें तेल की पूर्वउपस्थिति नहीं है। काश्मीर शैव दार्शनिक आरम्भवादी सृष्टि की व्याख्या में जीवों के कर्मों और उनके मिथ्याज्ञान के अनादित्व का दोष पाते हैं। परमाणुओं के संयोग से सृष्टि मानने तथा परमाणुओं को नित्य मानने से सृष्टि और प्रलय का क्रम निरन्तर चल सकता है जिसमें मोक्ष की समुचित व्याख्या नहीं हो सकती।

न्याय वैशेषिक के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति हो जाने पर जीव अपने कर्मों के फल भोगते हैं और अपने अनादि मिथ्या ज्ञान को यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति से मिटा कर अपवर्ग की दशा को प्राप्त करते हैं। इस दशा में मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति से राग-द्वेष आदि दोषों से मुक्त हो जाने के कारण जीव प्रवृत्तिहीन हो जाते हैं। अपवर्ग

व्याख्याओं का मूल्यांकन किया जाय तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि प्रायः सभी दार्शनिक सम्प्रदाय सफल व्याख्या दे देते हैं। अतएव अन्ततः यही कहना उचित होगा कि सभी व्याख्यायें संभव हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में हमारा लक्ष्य यह दिखाना नहीं है कि काश्मीर शैव शास्त्र अन्य सिद्धान्तों का खण्डन कर देता है, वरन् हमारा लक्ष्य यह दिखाना है कि काश्मीर शैव-शास्त्र स्वयं क्या व्याख्या देता है तथा इसकी व्याख्याओं की क्या विशेषता है।

की अवस्था में जीव निष्क्रियता की दशा में होता है। वह कुछ जानता भी नहीं और कुछ करता भी नही।[1]

काश्मीर शैव दर्शन की सृष्टि में अपवर्ग की यह दशा उनकी (काश्मीर शैव शास्त्र की) सुषुप्ति[2] की एक निचली स्थिति के समान है। जिसमें पड़े हुए जीव परमेश्वर द्वारा की जाने वाली नई सृष्टि में पुनः जाग्रत हो जाते हैं।[3] अतः अपवर्ग-वाद मूल प्रकृति के नवीन क्षोभ की अवस्था के पूर्व तक ही सत्य है। परमाणुवाद भी ब्रह्मा की त्रैलोक्य सृष्टि की भूमिका तक ही सत्य है। उससे ऊपर की सृष्टि में अहंकार तत्त्व के तामस अंशों से परमाणुओं की भी सृष्टि होती है। अतः न्याय-वैशेषिक का ईश्वर द्वारा किया जाने वाला यह आरम्भ सृष्टि-प्रक्रिया का एक अंग ही हो सकता है। मूल सृष्टि तो परमशिव के पारमेश्वरी क्रिया द्वारा ही हो सकती है। इस प्रकार सृष्टि की पूर्ण व्याख्या न दे सकने के कारण काश्मीर शैव दर्शन की दृष्टि में आरम्भवाद एक निचली भूमिका ही हो सकने के कारण कारणता का समुचित समाधान नहीं कर सकता। आरम्भवाद मात्र एक दृष्टि हो सकता है, सिद्धान्त नहीं।

बौद्ध-सिद्धांत :—बौद्धों के अनुसार सत्ता का लक्षण अर्थ-क्रिया कारित्व अर्थात् किसी कार्य को उत्पन्न करने की सामर्थ्य है। यह सामर्थ्य प्रत्येक क्षण में एक ही परिणाम उत्पन्न नहीं करती। परिणाम उत्पन्न करने के क्षण में और परिणाम के बाद के क्षण में वस्तु की सत्ता परिवर्तित हो चुकी रहती है। परिणाम उत्पन्न करने के बाद के क्षण में वस्तु का अभाव हो जाता है। दही बन जाने के बाद दूध नहीं रह जाता। कारण से कार्य की उत्पत्ति हो जाने पर कारण का अभाव हो जाता है।

बौद्धों के क्षणिकवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु कारण और कार्य दोनो है। अपनी परवर्ती अवस्था के लिये कारण है और पूर्ववर्ती अवस्था का कार्य है। जो भी वस्तु का कार्यरूप या कारणरूप है वह क्षणस्थायी है। दूध और बीज क्रमशः दही और वृक्ष उत्पन्न करने के क्षण में और उत्पत्ति के दूसरे क्षण में एक

१—अपवर्गस्त्यागमोक्षयोः, क्रियावसाने साकल्य इति हयः। —न्याय मंजरी १-१-२२

२—सदासुषुप्तं.......वेदान्तविदक्षणपादसांख्यसौगतादिप्राया बहवोऽनुप्रविष्टाः।—स्पन्दनिर्णय, पृ० २९

३—सांख्यवेदादि संसिद्धान् श्रीकण्ठस्तदमुखे।
सृजत्येव पुनस्तेन न सम्यक् मुक्तरीदृशी॥
—तन्त्रालोक, ६—१२२

से नहीं रहते, परिवर्तित हो जाते हैं। क्षणिक वस्तुओं की इस अनादि और अनन्त परम्परा में एकता और एक वस्तु होने का हमें जो आभास होता है वह मात्र कल्पना और भ्रम है।

विज्ञानवादी बौद्धों के अनुसार क्षण में विलीन होते हुए चित्त के विज्ञानों की परम्परा को ही भ्रम के कारण, कल्पना के आधार पर स्थिर रहने वाला नित्य आत्मा समझा और कहा जाता है। कोई वास्तविक ज्ञाता और कर्ता नहीं है। क्षणिक चित्तों की इन परम्पराओं को अनादि वासनाओं के संस्कार घेरे रहते हैं। सभी चैत्त वस्तुएँ इस क्षणिक विज्ञानरूप चित्त की वासनाओं के संस्कार के कारण अवभासित होती हैं। जिस प्रकार चित्त की वासनाओं के संस्कार स्वप्न में विचित्र किन्तु असत्य जगत् का अवभासन करते हैं, उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में जगद्रूप वैचित्र्य का अवभासन भी केवल वासनाओं के कारण होता रहता है। इस प्रकार विज्ञानवादी बौद्धों के अनुसार चित्त के अतिरिक्त न तो जगत् ही कोई वस्तु है और न उस जगत् का अनुभव करने वाले किसी नित्य और स्थायी आत्मा की ही कोई सत्ता है। विज्ञान ही एक मात्र परमार्थ है। विज्ञान में पड़ी हुई वासनाओं की विविधतापूर्ण और सुविचित्र अभिव्यक्ति ही यह संसार है।

शून्यवादी बौद्धों के अनुसार शून्य ही परमतत्त्व और निरपेक्ष सत्ता है। यह समस्त नानात्मक प्रपंच इसी शून्य का आभास है। न वाह्यार्थ सत्य है न विज्ञान। अनिवर्चनीय सत्ता का आभास यह नानात्मक प्रपंच भी अनिवर्चनीय है। वस्तुओं के परावलम्बन को, उनकी निरन्तर परिवर्तनशीलता को तथा उनकी अनिर्वचनीयता को शून्य कहते हैं।[1]

काश्मीर शैव दर्शन क्षणिक्वाद और विज्ञानवाद पर आधारित बौद्धों के कारणता विषयक सिद्धान्त को अपूर्ण मानता है। इस बात पर कैसे विश्वास किया जा सकता है कि आभूषण की उत्पत्ति के क्षण के अनन्तर स्वर्ण स्वर्ण नहीं रह जाता अथवा तन्तुओं से पट वन जाने के दूसरे क्षण तंतु विनष्ट हो जाते हैं। स्मृति भंग भी क्षणिकवाद के निराकरण के लिए एक प्रवल व्यावहारिक प्रमाण है। क्षण-क्षण में उदय और विलीन होने वाले नश्वर विज्ञानों के कारण जो संस्कार पड़ते हैं उनके द्वारा ही सम्पूर्ण लोक व्यवहार चला करता है। इन संस्कारों का स्थिर और अवि-नाशी कोई आधार तो होना ही चाहिए। क्षणिक् विज्ञानों के मध्य परस्पर कोई सम्बन्ध न होने से स्मृति, कल्पना, अनुसंधान. उत्प्रेक्षा, प्रत्यभिज्ञा आदि ज्ञान के विविध व्यापारों और उन पर आश्रित संसार के समस्त व्यवहारों का सम्पन्न होना

१—सोगेन सिस्टम्स पृ० ११४, ११४, ११५

कथमपि संभव नहीं हो सकता ।[1] पदार्थ का स्मरण वही कर सकता है जिसने उसका अनुभव किया हो । क्षणिकवाद के अनुसार अनुभव का कर्ता कल रहने वाला देवदत्त है और स्मरण करता है आज का देवदत्त ।

पूर्वापर क्रम से आने वाली वस्तुओं को कारण-कार्य मान लिया जाता है । पर किसी नित्य सत्ता के अभाव में कारण-कार्य का निर्णय भी हो सकना संभव नहीं । निरपवाद रूप से पूर्वगामिता के कारण ही इसे कारण-कार्य नहीं कहा जा सकता वल्कि इसकी कारणात्मक क्षमता के कारण कहा जा सकता है । यह कारण इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसमें क्रिया को प्रभावित करने की क्षमता होती है । इस क्षमता के अभाव में कोई भी परिणाम नहीं होगा ।

परिणामवाद :—सांख्य दर्शन अपने कारणता सिद्धान्त में सत्कार्यवादी है । इसके अनुसार कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में उपस्थित रहता है । अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती और नहीं असत् कारण सत् कार्य को ही उत्पन्न कर सकता है । तिल से तेल उत्पन्न होता है क्योंकि वह पहले से ही तिल में विद्यमान रहता है । यदि तेल पहले से तिल में न होता तो यह किसी भी दशा में उत्पन्न न होता ।

कारणता के इस सत्कार्यवादी सिद्धान्त के आधार पर सांख्य दर्शन अपना सृष्टि विषयक सिद्धान्त प्रकृति परिणामवाद प्रस्तुत करता है । प्रकृति और पुरुष दो नित्य तत्त्व हैं । प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन । प्रकृति सत्त्व, रज और तम नामक तीन गुणों की साम्यावस्था है । प्रकृति की इसी साम्यावस्था में सम्पूर्ण विश्व अव्यक्त रूप में रहता है । पुरुष के संसर्ग से प्रकृति के गुणों में विक्षोभ होता है । जिसके फलस्वरूप प्रकृति के परिणाम से अव्यक्त विश्व व्यक्त हो जाता है । सत् प्रकृति का परिणाम जगत् भी सत् होता है । जगत् की नवीन उत्पत्ति या आरम्भ नहीं माना जा सकता क्योंकि जो पहले ही सत् रूप है उसका आरम्भ कैसे हो सकता है ।

काश्मीर शैव दर्शन को सांख्य का सत्कार्यवाद सामान्य रूप से स्वीकार्य है, किन्तु उसका प्रकृति-परिणामवाद नहीं स्वीकार्य है । काश्मीर शैव दर्शन सांख्य

१—एनमन्योन्यभिन्नानाम् परस्परवेदिनाम् ।
ज्ञानानामनुसन्धान जन्मा नश्येज्जनस्थितिः ॥
न चेदनतः कृताननन्तविश्वरूपो महेश्वरः ।
स्यादेकश्चिद्वपुर्ज्ञानस्मृत्यपोहनशक्तिमान् ॥
—ई० प्र० १, ३, ६, ८

के कारणता-सिद्धान्त का खण्डन द्वन्द्वात्मक तर्क (dialectical reasoning) से करता है। काश्मीर शैव दार्शनिक कहेगा कि यदि सांख्य के अनुसार कारण कार्य में तादात्म्य सम्बन्ध है तो बीज और वृक्ष तदनुरूप (identical) माने जायेंगे। ऐसा मानने पर उनका द्वैत अर्थहीन हो जाता है। उसे या तो बीज कहा जायगा या वृक्ष। एक को ही बीज और वृक्ष दोनों नहीं कहा जा सकता। तादात्म्य और अलगाव एक साथ नहीं रह सकता।[1]

प्रकृति को सृष्टि के विषय में उपादान कारण के रूप में काश्मीर शैव दार्शनिक स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार जड़ प्रकृति को जगत् का वास्तविक कारण नहीं माना जा सकता। जड़ पदार्थों का स्वयं का कोई अस्तित्व नहीं होता। पदार्थ अपने अस्तित्व के प्रकाशन के लिए स्वयं में सक्षम नहीं पाये जाते। बीज के अंकुर बनने में उसका कारण बीज, खाद, पानी या मिट्टी न होकर चैतन्य है क्योंकि वही जड़ तत्त्व के रूप में उसको परिपुष्ट कर[2] स्वयं ही अंकुर के रूप में आभासित होता है। साथ ही बीज में जो बढ़ने की स्थिति है वह ईश्वरेच्छा से है। पदार्थ अपने अस्तित्व के प्रकाशन के लिये चैतन्य के प्रकाश पर आश्रित होते हैं। यदि ये चैतन्य द्वारा प्रकाशित न किये जाँय तो इनका कोई अस्तित्व नहीं होगा। ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति जड़ को नहीं होती क्योंकि इनकी अपनी स्वतन्त्रता नहीं होती। जड़ पदार्थ का होना पूर्णतया चैतन्य पर आधारित है। अतः ज्ञान, क्रिया चेतन के ही कार्य हैं।[3] ये शक्तियाँ जड़ से संयुक्त नहीं हो सकतीं। अचेतन पदार्थों का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं हो सकता। उनका अस्तित्व केवल चेतन विषयों से सम्बद्ध होने पर या उन पर आश्रित होने से होता है। यदि घड़ा स्वयं को उत्पन्न कर सकता तो कुम्भकार की आवश्यकता न होती। जब कभी जड़ पदार्थ कारण के रूप में आभासित होता है, यह वास्तव में कुछ चेतन वस्तुओं पर अपने प्रस्तुतकर्ता के रूप में आश्रित होता है। घट की रचना में कुम्भकार प्रेरक कारण है जो स्वयं शिव रूप है। घट के निर्माण में चक्र आदि का घूमना मूलतः परम शिव की स्वतन्त्रेच्छा से है। इस प्रक्रिया द्वारा वह (शिव) अपनी नियति शक्ति को अभिव्यक्त करता है। इसके प्रभाव से चक्र आदि को घुमाने की आवश्यकता प्रतीत होती है। इसी कारण चक्र आदि कुम्भकार की इच्छा का अनुसरण करते हैं।[4]

---

१. ई० प्र० वि० II, १७३.
२. ई० प्र० वि० २-४-८ (पृ० १४६)
३. ई० प्र० वि०, १७-१९
४ ई० प्र० वि० II, ४-२-९।

विना किसी चेतन कर्ता के जड़ प्रकृति और निष्क्रिय, उदासीन पुरुष का संयोग भी नहीं हो सकता। जड़ पदार्थ स्वयं कोई भी रूप ग्रहण नहीं कर सकता। अतः प्रकृति स्वयं परिणमित भी नहीं हो सकती। इस प्रकार प्रकृति के विकास से सृष्टिविषयक अवधारणा की समुचित व्याख्या नहीं हो सकती।[1] विकास के लिये चेतन तत्त्व को मानना पड़ेगा क्योंकि जड़ प्रकृति को जगत् के विकास में कर्ता या प्रेरक नहीं माना जा सकता।[2] एकता और अनेकता दोनों जड़ के गुण नहीं हो सकते। ये दोनों गुण स्वयंप्रकाश चेतन के हो सकते हैं, जो काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार और कुछ नहीं चेतना की ही अभिव्यक्तियाँ हैं।

काश्मीर शैव दर्शन सांख्य के पुरुष प्रकृति और प्रकृति के वुद्धि से लेकर पृथ्वी तक पच्चीस तत्त्वों को स्वीकार करता है। परन्तु प्रकृति और पुरुष को सांख्य की तरह से अंतिम रूप से सत्य सत्ताएं मानने में सहमत नहीं हो पाता। सांख्य-दर्शन की प्रकृति के प्रत्येक परिणाम में कोई न कोई प्रयोजन अवश्य निहित होता है। प्रकृति में प्रयोजन के अन्तः अनुसंधान की सामर्थ्य नहीं है। इसलिये प्रकृति को अपने सुविचित्र परिणामों को प्रकट करने के लिये किसी चेतन प्रेरक की आवश्यकता होती है। ऐसा प्रेरक ईश्वर ही हो सकता है जिसका सांख्य में कोई स्थान नहीं है। केवल अचेतन प्रकृति के सहारे ऐसे सुविचित्र और सप्रयोजन परिणामों का होना संभव नहीं है।[3] ईश्वर की मान्यता इस प्रकार तार्किक आवश्यकता है जिसे योग में स्वीकार किया गया है।

विवर्तवाद :—अद्वैत-वेदान्त के अनुसार एकमात्र कारण की सत्ता अविनाशी एवं निर्विकार है। कार्य का केवल आभास होता है, यह मिथ्या है। कारण का कार्य रूप में कोई परिवर्तन या परिणाम नहीं होता। जिसकी कार्य रूप में प्रतीति होती है, उसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं; वह कारण का विवर्त है, इस कारणता सिद्धान्त पर प्रतिष्ठित जगत् विषयक अवधारणा में वेदान्ती जगत् की केवल व्यावहारिक सत्ता मानते हैं। उनके अनुसार परमार्थतः एक मात्र पर ब्रह्म ही सत्य है। जगत् केवल आभासित होता है, केवल प्रतीति मात्र है; इसकी वास्तविक सत्ता नहीं है। न केवल

---

१. अभिनवरूपस्य धर्मिणम सततप्रवहद्वहुतरधर्मभेदसमभेदस्वातन्त्र्यलक्षणम परिणमनक्रिया कर्तृत्वम यदुक्तम तत प्रधानादेर्ण युक्तम जड़त्वात्, जड़ो हि नाम परिनिष्ठितस्वभावः प्रमेयपदपतितः।"—ई० प्र वि० II, १७६–७

२. ई० प्र० वि०, १७-१९.

३. स च क्षोभः प्रकृतेस्तत्वेशाधिष्ठानादेव।
अन्यथा नियत पुरुष प्रतीति न सिद्धयेतः।—तंत्रसार, ५-८५

जगत् प्रत्युत् जीव और ईश्वर भी अनादि और अनिवर्चनीय अविद्या के प्रभाव से आभासित होते हैं। एक मात्र स्वप्रकाश अखण्ड चैतन्य सत्ता के अतिरिक्त सब कुछ आभास रूप मिथ्या है। जगत् माया का तो परिणाम है, परन्तु ब्रह्म का विवर्त है। उपादान कारण का समानधर्मी अन्यथाभाव परिणाम है और उपादान से विलक्षण अन्यथाभाव विवर्त है।[1] तात्त्विक परिवर्तन परिणाम कहलाता है और अतात्त्विक परिवर्तन को विवर्त कहते हैं। दही दूध का परिणाम है, परन्तु रज्जु-सर्प भ्रम में सर्प रज्जु का विवर्त है, क्योंकि दूध और दही की सत्ता एक प्रकार की है। (तात्त्विक है) किन्तु रज्जु तथा सर्प की सत्ता भिन्न प्रकार की है। सर्प की सत्ता काल्पनिक है, परन्तु रज्जु की सत्ता वास्तविक है।[2]

निर्विशेष, निर्लक्षण, शुद्ध चैतन्य स्वरूप ब्रह्म से सविशेष लक्षण जगत् की उत्पत्ति अविद्या या अनिवर्चनीया माया का कार्य है। माया अपने अपोहन शक्ति से ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का आच्छादन कर लेती है और फिर उसमें नाना प्रकार के जागतिक पदार्थों का आरोप कर लेती है। यह माया न तो सत् है न असत्, इन दोनों से विलक्षण होने के कारण उसे अनिवर्चनीय कहा जाता है। जीव, जगत् और ईश्वर का आभास इस अनिवर्चनीय माया का विवर्त है। ये तीनों परमार्थतः सत्य नहीं अतएव आभासमात्र हैं। एक मात्र ब्रह्म के अतिरिक्त सभी स्वप्नोपम हैं।[3]

काश्मीर शैव दार्शनिक विवर्तवाद में असंगतियाँ दिखाते हैं। उनके अनुसार असत् रूप का सत्ता के अभाव में प्रकाशन नहीं होता। असत् सद्रूप में प्रकाशित नहीं हो सकता। जगत् यदि असत् होता तो प्रमाता को उसका प्रकाश कथमपि संभव न था। परन्तु प्रमाता को जगत् का निर्भासन होता है। अतः जगत् को किसी प्रकार असत्य (असत्) नहीं कहा जा सकता।

अद्वैत-वेदान्ती जगत् को ब्रह्म का विवर्त बताने के लिए रज्जु-सर्प का दृष्टान्त देते हैं। रज्जु अपने आप में निष्क्रिय एवं तटस्थ है, सर्प तो बाहर से रज्जु पर मिथ्या आरोपण है। रज्जु इस मिथ्यारोपण के लिए आधार बनती है; सर्प उसका (रज्जु का) आत्म-प्रक्षेपण (Self-projection) नहीं है। इसी भाँति ब्रह्म

१—कारण सलक्षणोदन्यथाभावः परिणामः, तद्विलक्षणोविवर्तः।
—अप्पय दीक्षित, सिद्धान्तलेश, ५० परि० पृ० ५८

तथा— वेदान्तसार–४७, पृ० १२२.

२—ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, २-१-८.

३—धर्मा ये इति जायन्ते ते न तत्त्वतः।
जन्म मायोपमं तेषां, सा च माया न विद्यते।—गौड़पाद का० ४-५८.

तटस्थ एवं निष्क्रिय है; जगत् उस पर अविद्या के कारण अध्यारोपित है। जगत् ब्रह्म का आत्म-प्रक्षेपण नहीं है; बल्कि यह कहा जा सकता है कि जगत् ब्रह्म पर मानो बाहर की ओर से किया गया अध्यारोप है और ब्रह्म केवल इस अध्यारोप के लिये आधार मात्र बनता है। अब काश्मीर शैव-शास्त्र की ओर से यह आलोचना प्रस्तुत की जा सकती है कि रज्जु-सर्प वाला दृष्टान्त वस्तुतः ब्रह्म पर लागू नही होता क्योंकि रज्जु-सर्प में तो अध्यारोपण का कारण बाहरी है (रज्जु से बाहर कोई व्यक्ति है जो अज्ञानवश रज्जु में सर्प देखता है)। दूसरे शब्दों में, रज्जु-सर्प के दृष्टान्त मे रज्जु का और उसके बाहर खड़े अविद्याग्रस्त व्यक्ति का द्वैत आवश्यक है। किन्तु ब्रह्म में तो द्वैत हो नहीं सकता। रज्जु-सर्प के दृष्टान्त के अनुसार ब्रह्म पर बाहर से जगत् का अध्यारोपण माना जाय तो जिस बाहरी तत्त्व से यह अध्यारोपण हो रहा है, उसकी ब्रह्म से अलग स्वतन्त्र सत्ता हो जायेगी और इस प्रकार अद्वैत भंग हो जायेगा। अद्वैत की रक्षा तभी हो सकती है जब कि यह माना जाय कि जगत् ब्रह्म पर बाहर से अध्यारोपित नहीं है वरन् वह ब्रह्म का आत्म-प्रक्षेपण (Self-projection) है, जैसा कि स्वप्न या कल्पना में होता है।

अद्वैत-वेदान्ती उत्तर में यह कह सकते हैं कि जगत् ब्रह्म का वस्तुत; आत्म-प्रक्षेपण ही है क्योंकि माया, जिससे प्रक्षेपण होता है, ब्रह्म की शक्ति ही है; माया शक्ति का आश्रय लेकर ब्रह्म ही जगत् को प्रक्षिप्त करता है। यहाँ काश्मीर शैव दार्शनिक तब कहेगा कि ऐसा मानने पर ब्रह्म निष्क्रिय एवं तटस्थ नहीं रह जायेगा। दूसरे शब्दों में, क्रिया या शक्ति भी ब्रह्म के स्वरूप में ही स्थित होगी। साथ ही ऐसी अवस्था में ब्रह्म और ईश्वर का भेद करना भी अनावश्यक एवं अनुचित होगा।

उपर्युक्त समस्या ही अद्वैत-वेदान्त में ब्रह्म और ईश्वर का भेद बन कर आई हुई है और जो कठिनाई ऊपर है, वही यहाँ भी है। यदि ब्रह्म को निःशक्त माना जाय और जगत् को पूर्णतः रज्जु सर्प की तरह माना जाय तो यह कठिनाई उपस्थित होगी कि ब्रह्म और माया का द्वैत हो जायेगा। यदि माया को ब्रह्म की ही शक्ति मान कर जगत् को ब्रह्म का आत्म-प्रक्षेपण माना जाय तो फिर ब्रह्म और ईश्वर का भेद अनावश्यक हो जायेगा; फिर अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म निष्क्रिय न रह कर काश्मीर शैव शास्त्र के शिव के समान ही हो जायेगा।

विवर्तवाद के प्रति काश्मीर शैव दर्शन की ओर से एक और कठिनाई प्रस्तुत की जा सकती है; यदि जगत् विवर्त को पारमार्थिक दृष्टि से विमर्श (Ideation) माना जाय और जगत् की सत्यता (अर्थात् जड़रूपता) को असत् या तुच्छ माना जाय तब तो कोई कठिनाई नहीं होगी; किन्तु यदि जगत् की जड़रूपता के साथ-साथ

उसकी विमर्शरूपता को भी असत् या तुच्छ माना जाय तो इस मान्यता में आत्म-विरोध होगा। भ्रम की सत्ता का विश्लेषण किया जाय तो भ्रम की विमर्शात्मक सत्ता (Epistemic reality) तो अवश्य ही होती है; भ्रम-वस्तु जड़ रूप में अनस्तित्ववान होती है लेकिन चैतन्य के विमर्श के रूप में सत्य होती है। स्वप्न-वस्तु में पारमार्थिक दृष्टि से जो बात गलत है, वह इतना ही कि स्वप्न वस्तु सत्य जड़ की तरह दिखाई देती है। किन्तु स्वप्न वस्तु चैतन्य का आभास है, यह तो पारमार्थिक दृष्टि से भी सत्य है। स्वप्नावभास सत्य जड़ वस्तु के रूप में झूठ है किन्तु अवभास के रूप में तो वह विल्कुल सत्य है।[1] अतः स्वप्न वस्तु को पारमार्थिक दृष्टि से यह नहीं कहा जा सकता कि वह अवभास है। काश्मीर शैव शास्त्र में इस महत्त्वपूर्ण वात को स्पष्ट करने का भरपूर प्रयास किया गया है कि आभास आभास के रूप में तो पारमार्थिक दृष्टि से भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता, आखिर भ्रम को जो भ्रम या आभास कहा जाता है, वह स्वयं भ्रम की दृष्टि से नहीं वल्कि पारमार्थिक दृष्टि से ही तो कहा जाता है; भ्रम की दृष्टि से तो वह सत्य है, आभास नहीं। यदि आभासत्व को भी असत् कहा जाय तो इसमें आत्म-विरोध आ जायेगा क्योंकि जो आभासित हो रहा है, उसको शुद्ध रूप से असत्य कैसे कहेंगे।[2] जगत् देखने में तो सत्य और जड़-रूप है, इसकी सत्यता और जड़रूपता को झूठा वताने के लिये हम यही व्याख्या दे सकते हैं कि यह पारमार्थिक दृष्टि से चेतन तत्त्व का स्वप्न की भाँति अवभास है। अतः अवभासन के रूप में तो जगत् पारमार्थिक दृष्टि से भी सत्य है।[3]

विवर्तवाद की अवधारणा में ऐसा दीखता है मानो विवर्तवादी पारमार्थिक दृष्टि से जगत् को अवभास रूप में भी नहीं मानना चाह रहा है। वह जगत् को पारमार्थिक दृष्टि से शुद्ध रूप से असत् अथवा तुच्छ कहना चाहता है। किन्तु यदि ऐसा है तो इसमें विरोध है। सिनेमा के पर्दे पर जो दृश्य दिखाई देता है उसमें जो झूठ है वह इतना ही कि जो व्यक्ति या वस्तु वहाँ दिखाई दे रहे हैं वे सचमुच के व्यक्ति या वस्तु नहीं हैं; किन्तु इतना तो सच है ही कि वे चित्ररूप हैं जो पर्दे पर

१—इसी अर्थ में अभिनवगुप्त आभास को सत्य कहता है।

२—निर्भासते च असत्यं च इति कथमपि न चिन्तितम्।

—ई० प्र० वि० भा० १, पृ० ९.

३—प्लेटो का जो प्रसिद्ध कथन है कि छाया जगत् (world of shadow) सत्य में हिस्सा बँटाता है, वह भी इसी अर्थ में है कि छाया जगत् विज्ञानाभास (Idea) के रूप में सत्य है।

प्रक्षिप्त (projected) किये जा रहे हैं। उसी प्रकार पारमार्थिक दृष्टि से जगदावभास में इतनी ही गलती दिखाई जा सकती है कि जो देखने में सचमुच की वस्तु है वह सचमुच की नहीं है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वह चित्र या आभास भी नहीं है। यदि उसे चैतन्य का चित्र या आभास न माना जाय तो जगत् आभासित ही नहीं होगा। जगत् सत्य जड़ वस्तु के रूप में झूठ है किन्तु इतना तो सच है ही कि ब्रह्म-चैतन्य में जगदावभास की प्रक्रिया चल रही है।[1] स्वप्न जगत् सत्य वस्तु के रूप में झूठ है किन्तु मानसिक अवभासन (या चैतन्य के अवभासन) की प्रक्रिया के रूप में तो वह बिल्कुल सच है। इसलिये जगत् को जगत् रूप में भले ही झूठ मान लिया जाय किन्तु उसे अवभासन की प्रक्रिया रूप में नहीं नकारा जा सकता और फलतः यह मानना ही होगा कि यह अवभासन सत्य में ही हो रहा है। दूसरे शब्दों में, अवभासन को अवभासन के रूप में पारमार्थिक दृष्टि से सत्य मानना पड़ेगा।

यदि जगत् को पारमार्थिक दृष्टि से अवभासन रूप भी न मान कर शुद्ध असत् रूप या तुच्छ माना जाय तो मुक्त पुरुष और ईश्वर की स्थिति में कठिनाई उपस्थित होगी। मुक्त पुरुष को जगत् दिखलाई देगा ही नहीं फिर वह जगत् में व्यवहार कैसे करेगा? इससे भी अधिक कठिनाई ईश्वर में होगी। यदि शुद्ध बुद्ध रूप ईश्वर को जगत् दिखलाई ही न दे तो उसके ईश्वरत्व का कोई अर्थ नहीं होगा। अतः यही मानना उचित होगा कि मुक्त पुरुष अथवा ईश्वर (जो पूर्ण ब्रह्मज्ञानी है) को जगत् दर्पण में प्रतिविम्ब की भाँति आभास रूप में दिखाई देता है। दूसरे शब्दों में, जगत् की आभास रूप में सत्ता ब्रह्म की दृष्टि से भी है।[2]

१—यहाँ अद्वैत-वेदान्त की ओर से यह आक्षेप हो सकता है कि यदि शिव चैतन्य में जगदावभास की प्रक्रिया चल रही है तो शिव की एकरूपता, एकरसता तथा अद्वैतता समाप्त हो जायेगी। इसके उत्तर में काश्मीर शैव दार्शनिक कहेंगे कि जगदावभास की प्रक्रिया होने से शिव की अद्वैतता भंग नहीं होगी वरन् जगदावभास को अपने से भिन्न मानने पर अद्वैत की हानि होगी। जगत् को अपना ही प्रसार मानने से अद्वैत अक्षुण्ण रहेगा। दर्पण में प्रतिबिम्ब को अपने से भिन्न (दूसरा) मानने पर तो द्वैत होगा किन्तु उसे अपना ही प्रतिबिम्ब मानते रहने पर द्वैत नहीं होगा। शिव जगत् को प्रतिबिम्बवत् अवभासित करता है तथा जगत् को आभास रूप में अपना ही प्रसार होने का ज्ञान उसे (शिव को) रहता है, अतः अद्वैत की हानि नहीं होगी।

२—जगदाभास पारमार्थिक दृष्टि से दिखाई देने मात्र से यह आवश्यक नहीं है कि

काश्मीर शैव दर्शन में परमशिव ही जगत् का मूल कारण है। वह जगत् का निमित्त कारण तथा उपादान कारण दोनों है। वह उपादान कारण इसलिए है कि जगत् उसके भीतर से ही प्रकट होता है, अथवा दूसरे शब्दों में, जगत् जिस उपादान का बना है वह चैतन्य (शिव) ही है। शिव निमित्त कारण भी इसलिए है कि जगत् को अपने में से स्वयं ही बनाता है—बनानेवाला भी वही है और बननेवाला भी वही है। जगत् की सृष्टि में शिव की 'स्वतन्त्र इच्छा' ही प्रमुख कारण है। परम शिव अपनी इच्छा के द्वारा लीला के लिये इस विश्व की रचना करता है। जगत्-रचना के लिये परम शिव को किसी उपादान या अधि-करण की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह कार्य मात्र उसकी इच्छा से संपादित हो जाता है, उसी तरह जैसे योगी अपनी इच्छा शक्ति के बल से विना किसी उपादान का अवलम्बन लिये मानसी सृष्टि कर लेता है।[1]

शिव ही जगत् का कारण माना गया है क्योंकि काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार जागतिक पदार्थों का अपना कोई अस्तित्व नहीं होता। अपनी अभिव्यक्ति के लिये वे सदैव विषयी (चैतन्य) पर आश्रित होते हैं। इसलिए परमतत्व को ही सभी अभिव्यक्तियों का वास्तविक कारण माना जा सकता है। विषयों की रचना और कुछ नहीं बल्कि उनका चेतन में प्रकाशन है जो उनके आन्तरिक व बाह्य अस्तित्व का एक मात्र कारण है।

आभास परमचैतन्य का स्वरूप लक्षण है; यदि परम चैतन्य अपने स्वातन्त्र्य से आभास को प्रक्षिप्त करता है तो आभास उसका तटस्थ लक्षण हो सकता है। काश्मीर शैवशास्त्र जगदाभास को शिव का स्वातन्त्र्य मानता है; शिव यदि जगत् को अवभासित करना न चाहे तो जगदाभास नहीं होगा। यदि आभास को स्वरूप लक्षण मान लिया जाय तो यह अद्वैत-वेदान्ती को अग्राह्य होगा, किन्तु यह तो काश्मीर शैव शास्त्री को भी अग्राह्य होगा। काश्मीर शैव शास्त्री नहीं कह रहा है कि जगदाभास शिव का स्वरूप लक्षण है, यहाँ भी जगदाभास तटस्थ लक्षण ही है, किन्तु काश्मीर शैव दार्शनिक इस बात पर ध्यान ले जाना चाहता है कि शिव अपने स्वातन्त्र्य से जगत् को प्रक्षिप्त करेगा तो उस समय जगत् जड़ रूप में भले ही सत्य न हो किन्तु अभास रूप में तो सत्य होगा ही।

१. चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशादबहिः।
योगीनं निरूपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥—ई० प्र० का० १-५-७.

जगत् की सृष्टि इच्छा, ज्ञान और क्रिया के तीन स्तरों पर होती है जिसे कुम्भकार के उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है।[1] घड़े का निर्माण होने के पूर्व सर्वप्रथम कुम्भकार के मन में घड़ा बनाने की इच्छा उत्पन्न होती है, तदुपरान्त उसके मन में घड़े का चित्र बनता है (अर्थात् किस प्रकार के घड़े का निर्माण करना है), यह ज्ञानावस्था है। जब मन में उपस्थित घड़ा कुम्भकार द्वारा बाहर बना दिया जाता है तो यह घड़े की क्रिया अवस्था है। इसी प्रकार सर्वप्रथम शिव में सृष्टि करने की इच्छा उत्पन्न होती है फिर यह इच्छा जगत् के स्वरूप में परिणत होती है जो ज्ञानावस्था है तथा जगत् जब बाहर आभासित होने लगता है तो यह क्रिया-अवस्था है।

सत्कार्यवादी दृष्टि से देखने पर जब कुम्भकार घड़ा बनाता है तो घड़ा पहले ही कुम्भकार के हृदय में संस्कार के रूप में स्थित रहता है। वह (घड़ा) कुम्भकार की चेतना से एकाकार रहता है। यही अन्तःकरण स्थित घट जब कुम्भकार की इच्छा के कारण बाह्य रूप में आभासित होता है तो घट की रचना होती है। इस प्रकार बाह्य का घड़ा कुम्भकार के आन्तरिक तत्त्व (संवित्) का ही (जड़ रूप में) आभास है। उसी प्रकार शिव के अन्दर स्थित (उत्थित) विश्व ही बाह्य जगत् के रूप में आभासित होता है और यही अन्तःकरणाभास तथा बाह्यकरणाभास को काश्मीर शैव दर्शन में कार्य-कारणता कहा गया है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि जगत् शिव में से ही बाह्य आभासित होता है किन्तु जगत् का आभासित होना शिव के स्वभाव (या स्वरूप) में अनुस्यूत नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि सृष्टि की इच्छा उत्पन्न ही हो, आवश्यक नहीं है। सृष्टि की इच्छा का उत्पन्न होना भी शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है। सत्कार्यवाद के अनुसार केवल इतना कहा जा सकता है कि जगत् शिव में से निकलता है न कि जगत् बीज रूप में शिव में नित्य उपस्थित रहता है। जगत्-बीज का निर्माण (अर्थात् इच्छा का उत्पन्न होना) शिव में ही होता है, किन्तु इसके निर्माण में शिव स्वतन्त्र है। कहने का तात्पर्य यह है कि सत्कार्यवाद के अनुसार यह नहीं समझना चाहिए कि जगत् शिव में

---

१ कुम्भकार हृदये अन्तर्मनोगोचरत्वात् पूर्वमपि स्वसंविदेकात्मतया विचित्रत्वेन विश्वस्य भेदाभेदात्मना परिवर्तमानस्य स्पन्दनेन स्फुरतः यत् अन्तःकरण बहिष्करणद्वयवेद्यत्वमाभास्यते, एषैव सा कार्य-कारणता।

—ई० प्र० वि० II, पृ० १४०

सर्वदा या आवश्यक रूप से उपस्थित रहता है। काश्मीर शैव दर्शन में शिव के स्वातन्त्र्य पर बार-बार आग्रह किया गया है।

यह संसार चैतन्य के अन्दर ही स्थित है परन्तु बाह्य प्रतीत होता है। परमशिव सर्वथा स्वतन्त्र है। वह अपनी स्वतन्त्रेच्छा से जगत् का निर्माण करता है। वह संसार को अपने से भिन्न प्रतीत कराता है; जबकि वास्तव में अभिन्न है। दर्पण में पदार्थ अवस्थित न रहते हुए भी दिखाई देते हैं। दर्पण उन पदार्थों से अछूता रहता है। शिव भी अपने सृष्टि के पदार्थों से इसी प्रकार अछूता रहता है। अन्तःस्थित अद्भुत शक्ति द्वारा आत्माओं के रूप में प्रकट होता है। परमात्मा ही आत्मा है। अनन्त तथा निर्मल आत्मा ही एक मात्र यथार्थ सत्ता है। यह विश्व का एकमात्र आधार है जिसका स्पन्दन समस्त प्रकार के भेदों का कारण है।

शिव की सृष्टि को व्यक्तिगत रचना के विश्लेषण से समझा जा सकता है। व्यक्ति के कार्य उसके विचारों की वाह्य अभिव्यक्ति हैं जो अपने मूलावस्था में अपनी चेतना के साथ एक रहते हैं। जब व्यक्ति जागता है, उसके विचारों की व्यक्तिगत सृष्टि आरम्भ होती है। उसी प्रकार सार्वभौम सृष्टि भी सर्वोच्च सत्ता की जागृति के साथ (अर्थात् सृष्टि की उन्मुखता के साथ) प्रारम्भ होती है जो और कुछ नहीं बल्कि सार्वभौम चेतना का उन्मेष या बाह्यीकरण है।[1] जब व्यक्ति सोने लगता है, उसके जाग्रत जीवन के सभी विचार और कार्यों की अभिव्यक्ति समाप्तप्राय होने लगती है और पुनः आत्म-चेतना में मिल जाती है। उसी तरह सृष्ट विश्व का संहार परम चेतना का निमेष है जो उसकी नींद के रूप में समझा जा सकता है।[2] विश्व शिव में निष्क्रिय रूप से विद्यमान रहता है।[3] जब शिव जगता है और उसका

---

१. स्वान्तनिमग्नः पदार्थसमूहः तस्य भासने अहमिति स्वान्तः प्रदेशात् इदमिति बहिरभासने"

— भास्करी I, पृ० ४७.

२. भास्करी II, पृ० २२१.

३ विश्व का शिव में होने का तात्पर्य यह नहीं है कि विश्व आवश्यक रूप से शिव में विद्यमान है जैसाकि विशिष्टाद्वैती, हेगेल आदि मानते हैं। वरन् इसका अर्थ इतना ही है कि विश्व शिव के स्वातन्त्र्य से उत्पन्न होता है। चूँकि विश्व शिव से भिन्न किसी बाहरी सत्ता से प्रकट नहीं होता है बल्कि शिव अपनी स्वतन्त्रेच्छा से प्रकटित करता है। इसीलिए कहा जाता है कि विश्व शिव में निष्क्रिय रूप से वीज रूप में विद्यमान रहता है। तात्पर्य यह है कि विश्व का शिव में सत्तात्मक अस्तित्व (Ontological Existence) नहीं

शक्ति अंश अभिव्यक्त होना प्रारम्भ हो जाता है तो निष्क्रिय विश्व सक्रिय होने लगता है। शिव की जाग्रतावस्था में जगत् अस्तित्व में रहता है और जब वह सोता है, उसमें मिल जाता है।[1] इस तरह सृष्टि चेतना के साथ सदैव एक रहती है।[2]

काश्मीर शैव दर्शन के कारणता सिद्धान्त की आलोचना जिन बातों को लेकर होती है उनमें से एक यह है कि किस प्रकार शिव जगत् का उपादान कारण हो सकता है? यह आलोचना विशेषकर शैव-सिद्धान्त द्वारा प्रस्तुत की जाती है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार शिव जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकता क्योंकि चेतन (शिव) से जड़ (जगत्) की उत्पत्ति नहीं हो सकती। सत्कार्यवाद के अनुसार कारण के अनुरूप ही कार्य का स्वरूप होता है। जगत् जड़ रूप है अतः इसका कारण (उपादान) भी जड़ ही हो सकता है, चेतन (शिव) नहीं। काश्मीर शैव शास्त्र भी सत्कार्यवाद के इस सिद्धान्त को मानता है कि कारण के अनुरूप कार्य का स्वरूप होता है; किन्तु इस मान्यता के आधार पर काश्मीर शैव दर्शन की अभिन्न निमित्तोपादान कारणता में आत्म-विरोध नहीं देखा जा सकता क्योंकि यहाँ जगत् जड़ न होकर आभास रूप (चेतन) है।[3] चेतन शिव से जड़ जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः जगत् चेतन (आभास रूप) है।

शिव से अवभासित जगत् में अन्तःस्थित समस्त चेतन और जड़ आभासमय हैं। अपने स्वातन्त्र्य से परमशिव स्वयं अनन्त ग्राह्य-ग्राहकों के रूप में अवभासित होता है। इस प्रकार सभी आभास मूलतः संविद् के साथ एक हैं। अपने प्रकाशन के लिये वे आत्मा पर आश्रित होते हैं। कोई भी विषय एक दूसरे से स्वतन्त्र होकर स्वयं प्रकाशित नहीं हो सकता। प्रमेय जड़ रूप होने से भी स्वयं प्रकाशित नहीं हो सकता। यदि इसका प्रकाश या प्रमाता से सम्बन्ध न हो तो इसका ज्ञान भी नहीं

है। इसे वैसा ही समझना चाहिये जैसे बच्चा अपनी स्वतन्त्रेच्छा से घरौंदा बनाता है, यह कह सकते हैं कि घरौंदा बच्चे के मन में था, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि घरौंदा बच्चे के मन का अंग है।

१ शिव के लिये सोने और जागने का प्रयोग नहीं किया जा सकता। यहाँ इसका प्रयोग शिव के निमेष और उन्मेष को समझने के लिये किया गया है।

२ महागुहान्तर्निमग्नभाव जातप्रकाशकः।
ज्ञानशक्ति प्रदीपेन यः सदा तं स्तुमः शिवम्॥ भा०, १, पृ० १९८

३. काश्मीर शैव दर्शन जड़वाद का खण्डन करता है तथा जगत् एवं जागतिक पदार्थों को आभासरूप मानता है, जिसकी विवेचना अगले अध्याय 'आभासवाद' में की गई है।

हो सकता। चूँकि प्रमेय का ज्ञान दूसरों से संयुक्त होने पर ही हो सकता है इसलिये प्रमेय दूसरों पर आधारित होने से प्रकाशित होता है। परन्तु दूसरा प्रमेय, जिस पर यह अपने प्रकाशन के लिए आश्रित होता है, जड़ नहीं हो सकता क्योंकि तब इसका प्रकाशित होना संभव नहीं होगा। इस प्रकार दूसरा प्रमेय जिस पर यह अपने प्रकाशन और ज्ञान के लिये आश्रित होता है, मूलतः चैतन्य है।

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार सभी व्यक्तियों का अपना व्यक्तिगत संसार होता है। ये व्यक्तिगत संसार न तो मिथ्या प्रतीत होने वाले हैं और न वे केवल हमारी कल्पना की रचना हैं। वे आभासों से निर्मित वास्तविक संसार हैं। इन आभासों की अभिव्यक्ति शिव की नियति द्वारा नियन्त्रित की जाती है। परमशिव ही अपनी शक्ति से इन अभासों को एक या अलग-अलग कर सकता है। इसके बीच कारण-कार्य सम्बन्ध की स्थापना भी परमतत्त्व के ही कारण होती है जो उसकी इच्छा-स्वातन्त्र्य से संपादित है।

शिव तथा शिव द्वारा आभासित जगत् में तादात्म्य है। दर्पण में नगर के समान स्वरूपात्मक भित्ति से अभिन्न होते हुए भी भिन्न के समान अनन्त (विविध) जगत् को वह उन्मीलित करता है। अन्तःस्थित पदार्थों का (जो इच्छा रूप हैं) प्रकटीकरण ही उन्मीलन है। कार्यात्मक समस्त विश्व मूल में प्रकाश के साथ एकात्म रूप से स्थित है। यह जगत् चित् से भिन्न किसी भी दशा में नहीं है। काश्मीर शैव दर्शन में इस बात को दर्पण और उसमें अंतःस्थित प्रतिविम्ब के दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है। दर्पण से अतिरिक्त प्रतिबिम्ब की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, इसलिये दर्पण से पृथक् इसका कोई देश भी नहीं होता। प्रतिबिम्ब कोई स्थूल मूर्ति (जड़ पदार्थ) नहीं है जिससे इसका दर्पण से पृथक् देश होने की संभावना भी नहीं होती। काल से भी इसका सम्बन्ध नहीं है[१] क्योंकि कालयोग किसी पूर्वापर भाव की अपेक्षा से पृथक् सत्ता वाले पदार्थ में ही देखा जाता है।[२]

१—शुद्ध अध्वा तक की सृष्टि देश और काल के विना होती है। केवल अशुद्ध अध्वा की सृष्टि में देश और काल का योग होता है।

२— न देशो नो रूपं न च समययोगो न परिमा,
नचान्योन्यासङ्गो न च तदपहानिर्नं घनता।
नचावस्तुत्वं स्यान्न च किमपि सारंनिजमिति,
ध्रुवं मोहः शाम्येदिति निरादिशद्दर्पण विधिः॥
—तंत्रालोक—२३।

यह दृष्टान्त दार्ष्टान्त पर पूरी तरह लागू नहीं होता। इससे केवल दर्पण और प्रतिविम्ब की एकता को समझा जा सकता है, विम्ब और दर्पण तथा प्रतिविम्ब की एकता को नहीं समझा जा सकता। इस दृष्टान्त में विम्ब की दर्पण से पृथक् सत्ता होती है। किन्तु शिव स्वयं विम्ब, दर्पण और प्रतिविम्ब तीनों हैं। शिव अपने ही स्वरूपात्मक भित्ति (दर्पण) पर स्वयं को ही (विम्ब को) प्रतिविम्बित करता है। विम्ब और प्रतिविम्ब में तात्त्विक एकता है, किन्तु विम्ब पूरी तरह प्रतिविम्ब नहीं है और प्रतिविम्ब पूरी तरह विम्ब नहीं है क्योंकि विम्ब वास्तविक सत्ता है जब कि प्रतिविम्ब उसका आभास है। इसी तरह शिव और जगत् में एकता है (अर्थात् जगत् शिव रूप है) किन्तु जगत् पूरी तरह शिव न होकर शिव का आभास है।

चेतना की अभिव्यक्ति और दर्पण की अभिव्यक्ति में पर्याप्त अन्तर है। दर्पण को प्रतिविम्ब के प्रकाशन के लिए प्रकाश आदि पर आश्रित होना पड़ता है क्योंकि उसकी अपनी कोई शक्ति नहीं है। चेतना स्वयं प्रकाश होने से अपनी स्वतन्त्र इच्छा से पदार्थ को प्रकाशित करती है। दर्पण और चिति के प्रकाशन में प्रमुख अन्तर यही है कि दर्पण में वस्तु को प्रतिविम्बित करने का स्वातन्त्र्य नहीं है जब कि चिति में स्वातन्त्र्य है।[1] काश्मीर शैव शास्त्र के अनुसार स्वातन्त्र्यहीन चेतना को सृष्टि का कारण नहीं माना जा सकता। स्वतन्त्रेच्छा की अनुपस्थिति में किसी भी प्रकार की सृष्टि नहीं हो सकती।[2] चिति जगत् को अपनी ही भूमि पर अपनी स्वतन्त्र इच्छा से प्रकाशित करती है न कि किसी और वस्तु से।[3] प्रत्येक वस्तु चेतना की भूमि पर ही प्रकाशित होती है, कोई भी वस्तु इससे बाहर प्रकाशित नहीं हो सकती।[4] सभी अभिव्यक्त और अभिव्यक्त होने वाले पदार्थ स्वतन्त्र इच्छा में चिति के साथ अद्वैत रूप में अवस्थित रहते हैं। चिति इन्हें अपने 'कर्म करने की इच्छा' के रूप में व्यक्त करती है। अभिव्यक्त जगत् और शिव में तादात्म्य है जो अभिव्यक्ति के उपरान्त भी बना रहता है।

काश्मीर शैव दर्शन के कारणता सिद्धान्त की आलोचना में प्रमुख रूप से एक यह भी प्रश्न होता है कि किस प्रकार शिव जो विषयी है विषय रूप (जगत् रूप)

१—ई० प्र० वि० २।४।१९
२—भास्करी, २ (२०१-६)
B—अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह, यद्वद्विचित्ररचनामकुरान्तराले बोधः पुनर्निजविमर्शन सारवृत्त्या, विश्वं परामृशति नो मकुरस्तथा तु.—अभिनवगुप्त
३—ई० प्र० वि० II, ४-२०
४—भास्करी, २, पृ० २०८

हो जाता है अथवा किस प्रकार शिव विश्वमय होकर भी विश्वोत्तीर्ण रहता है ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि विषयी का विषय के रूप में प्रकट होना चेतना की स्वतन्त्रता से संभव होता है। चेतना अपनी स्वतन्त्रता के ही कारण विभिन्नता के रूप में अभिव्यक्त होती है और उससे अप्रभावित भी रहती है। एक अभिनेता की तरह विषयी विषय जगत् की अभिव्यक्ति के नाटक में आनन्द लेता है। राजा भिखारी का अभिनय करता है जबकि वह जानता है कि वह भिखारी नहीं राजा है। इसी तरह शिव पूर्णज्ञान रखते हुए भी नाटक के लिये सीमित विषयी या अज्ञानी हो जाता है। जिस प्रकार राजा अभिनय की दृष्टि से भिखारी है तथा अपने राजा होने का ज्ञान होने के कारण राजा भी है वैसे ही शिव जगत् रूप में आभासित होने से विश्वमय है तथा आत्म-ज्ञान भी रहने से विश्वोत्तीर्ण है। आभासवाद के अनुसार किसी भी वस्तु का वास्तविक सृष्टि या संहार नहीं होता। विभेद सृष्टि के चिह्न हैं और समग्रता या अभेद प्रलय के लक्षण हैं।

अभिव्यक्त और अभिव्यक्त होने वाले विषय विषयी से न तो अलग हैं और न ही किसी प्रकार भिन्न अन्यथा उनका अभिव्यक्त होना ही संभव नहीं हो सकता। कोई स्वतन्त्र या वास्तविक विषय नहीं है। वस्तुओं की सृष्टि शिव की वैचारिक या विमर्शात्मक अभिव्यक्ति है। सृष्टि चेतना की एकता में भिन्नता की अभिव्यक्ति है। सृष्टि इस प्रकार मूलतः परमतत्त्व की स्व—अभिव्यक्ति है। विभिन्न प्रकार के विषयी-विषय के रूप में अभिव्यक्त होते हुए परमतत्त्व स्वयं ही प्रकाशित होता है[1]।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि शिव सृष्टि के अभिव्यक्ति क्रम में किसी प्रकार के प्राकृतिक नियम द्वारा वाध्य नहीं होता। शिव सर्वथा स्वतन्त्र है और अपने स्वातन्त्र्य से सृष्टि रूप में अभिव्यक्त होता है। अपने स्वातन्त्र्य से ही वह सृष्टि के पालन, संहार आदि पञ्चकृत्यों को करता है। चिन्मात्र स्वभाव परमशिव पूर्ण निराशंस रूप में सृष्टि के आदि में विद्यमान रहता है। चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया इन पंच शक्तियों से भरित होने के कारण शिव पूर्ण है। अन्य की आकांक्षा या अपेक्षा न होने के कारण स्वतन्त्र; चिन्मात्र स्वरूपता के कारण निराशंस रूप में शिव को अभिहित किया जाता है। अपने स्वातन्त्र्य की महिमा से वे पूर्वोक्त शक्तिपञ्चक की शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्ध विद्या रूप तत्त्व दशा का आभासन करते हैं।[2]

१—भास्करी II, पृ० १५०

२—स्वातन्त्र्यभासितभिदा पञ्चधा प्रविभज्यते।
चिदानन्देषणाज्ञानक्रियाणां सुस्फुटत्वतः॥
शिव शक्ति सदेशानविद्याख्यं तत्वपञ्चकम्॥५०॥ —तंत्रालोक आ० ९

शिव-शक्ति स्वरूप

विश्व का कारण परमशिव की ही एकमात्र सत्ता काश्मीर शैव दर्शन में है। वह प्रमाता और प्रमेय अथवा ज्ञाता और ज्ञेय दोनों है। शिव अनुभवकर्ता भी है और स्वयं अनुभूत पदार्थ भी है[1] क्योंकि अनुभव करने वाला आत्मा तथा अनुभूत होने वाला जगत् दोनों है। अपने अन्दर स्वरूप में ही निहित अद्भुत शक्ति के माध्यम से वही स्वयं को ब्रह्माण्ड के रूप में प्रकट करता है तथा विभिन्न अवस्थाओं को धारण करने पर भी वह अपने यथार्थ स्वरूप से च्युत नहीं होता।[2]

शिव अनिवर्चनीय (Indeterminate) सत्ता है क्योंकि निर्गुण होने से शिव का निर्वचन (determination) नहीं हो सकता। शिव तीनों गुणों (सत्त्व, रज, तम) से परे निर्गुण निराकार है। मन-वाणी से अगम तथा अगोचर है। शिव को बुद्धि द्वारा नहीं जाना जा सकता क्योंकि बुद्धि की सीमा है, जबकि शिव असीम है। बुद्धि गुणोत्पादित होने के कारण मायीय है तथा इसकी क्षमता सीमित है। इस प्रकार मानव-बुद्धि के लिए शिव अज्ञेय है। ऐसी स्थिति में समस्या उत्पन्न होती है कि शिव का स्वरूप विवेचन (description) कैसे हो सकता है, जबकि वह अज्ञेय है।

शिव का निर्वचन (Description) करने के लिए काश्मीर शैव दार्शनिक आगम का सहारा लेते हैं। उनके अनुसार आगम आप्त वचन हैं। शिवत्व को प्राप्त व्यक्तियों के अनुभवों के आधार पर शिव का स्वरूप विवेचन अथवा शिव का ज्ञान किया जा सकता है। यहाँ द्वन्द्वात्मक प्रश्न एक यह उठता है कि यदि शिव बुद्धि द्वारा बिल्कुल अज्ञेय है तो आगम के आधार पर भी नहीं जाना जा सकता क्योंकि स्वयं आगम को भी बुद्धि द्वारा ही ग्रहण किया जायेगा। ऐसी स्थिति में अप्रत्यक्ष रूप से बुद्धि का ही प्रयोग शिव-ज्ञान के लिये होगा। इस प्रकार यदि शिव आगम द्वारा ज्ञेय है तो वह बुद्धि द्वारा भी ज्ञेय होगा। किन्तु शिव बुद्धि द्वारा ज्ञेय नहीं हो सकता क्योंकि बुद्धि गुणोत्पादित होने से सीमित है। यदि आगम द्वारा भी शिव अज्ञेय और अनिवर्चनीय है तो आगम का उपयोग भी नहीं है।

१—स्पन्दकारिका पृ० २९.

२—स्पन्दकारिका पृ० ३-४

काश्मीर शैव दार्शनिक शिव को अज्ञेय तथा अनिवर्चनीय मानते हैं किन्तु शिवत्व प्राप्त होने पर शिव का ज्ञान हो सकता है तथा शिवत्व की प्राप्ति होने में आगम का उपयोग हैं। आगम की उपयोगिता शाखा चन्द्र-न्याय से है। जिस प्रकार बच्चे को चन्द्रमा दिखाने के लिये कहा जाता है कि चन्द्रमा शाखा पर है, तथा शाखा पर देखने से चन्द्रमा दिख जाता है जबकि वास्तविकता यह है कि चन्द्रमा शाखा पर नहीं है। आगम का भी उपयोग कुछ इसी प्रकार का है। आगम के आधार पर शिवत्व प्राप्त कर शिव का ज्ञान किया जा सकता है।

यद्यपि वास्तविकता का ज्ञान शिवत्व प्राप्ति पर ही हो सकता है किन्तु बुद्धि द्वारा प्रयास किया जा सकता है। बुद्धि द्वारा इतना तो जाना ही जा सकता है कि वह बुद्धि की सीमा के परे है। काश्मीर शैव दर्शन में इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है। अभिनवगुप्त कहता है कि हम शिव के विषय में जो कुछ कहते हैं; शिव उससे परे है। हम अपनी बुद्धि द्वारा जितना जानते हैं; वही कहते हैं। दूसरे शब्दों में, यों कहा जा सकता है कि हम शिव के विषय में जो भी कहते हैं वह अपने शिव (अर्थात् बुद्धि की सीमा के अन्तर्गत) के विषय में कहते हैं; वास्तविक शिव इससे परे हैं। यदि हम उसे छत्तीस तत्त्वों में सोचते हैं तो वह सैंतीसवाँ है और यदि उसे सैंतीस में सोचते हैं तो वह अड़तीसवाँ है। उसका जितना भी निर्वचन (Description) किया जाय, वह उससे परे है। इसलिये उसे सत्-असत् की कोटियों में भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह अनुत्तर है।[1] किन्तु शिव का स्वरूप विवेचन तार्किक दृष्टि से असंगत अथवा अनुचित नहीं कहा जा सकता; इससे सत्य तक पहुँचा जा सकता है।

काश्मीर शैव दार्शनिक शिव की सत्ता के लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं मानते क्योंकि उनके अनुसार सब प्रकार के प्रमाण उसे मान लेते हैं।[2] शिव आत्मा ही है तथा आत्मा की सत्ता स्वतः सिद्ध है।[3] ज्ञाता, कर्ता तथा स्वयं आत्मा के

१— न सन्न चासत्सदसन्न च तन्नोभयोज्झितम्।
दुर्विज्ञेया हि सावस्था किम्प्येतदनुत्तरम्॥ —तंत्रालोक २-२८
समस्त लक्षणायोग एव यस्योपलक्षणम्।
तस्मै नमोऽस्तु देवाय कस्मैचिदपि शम्भवे॥
—शिवस्तोत्रावली २-६

२—शिव सूत्र विमर्शिनी, पृ० ५

३—तेन आत्मादेर्निराकरणे साधने वापि अवश्यमेव साधयिता पूर्वकोटावावतिप्र: सिद्धः। नहि साधयितारमन्तरेण अर्थानां साध्यतैव स्यात्, स च स्वतः सिद्धः प्रकाशात्मा परमार्थरूपः परमेश्वरः शिव एव। —ई० प्र० १-२८ टीका

निराकरण में निराकरण कर्ता के रूप में आत्मा के अस्तित्व को नकारा नही जा सकता।[१] यहाँ आक्षेप हो सकता है कि आत्मा की सत्ता स्वतः सिद्ध है किन्तु इस आधार पर कैसे मान लिया जाय कि आत्मा ही शिव है ? इसके उत्तर में काश्मीर शैव दार्शनिक कहेंगे कि यह बात आगम द्वारा ही प्रमाणित होती है। अद्वैतवादी आगमों में शिव और आत्मा का तात्त्विक भेद नहीं माना गया है। समस्त पदार्थों में विद्यमान आत्मा ही शिव है। परमार्थतः वाह्य जगत् में ग्राह्य और ग्राहकादि भेद नहीं है; विश्वगत अनन्त वैचिश्य रूप में वही एक तत्त्व स्फुरित हो रहा है।[२]

शिवचित् रूप :—शिव चित् स्वरूप (consciousness) है।[3] शिव का कोई रूप अथवा आकार नहीं हो सकता क्योंकि जड़ पदार्थ के रूप अथवा आकार होते हैं; चेतना का रूप अथवा आकार नहीं होता। काश्मीर शैव-दर्शन में परमतत्त्व परिपूर्ण[४] और सर्वसम्पन्न सत्ता है जो सब कुछ है तथा सभी सीमित वस्तुओं से परे और समग्र सत्ता भी है। शिव आत्म रूप[५] होते हुए भी परमसत्ता[६] (Absolute) है क्योंकि वह निराकांक्ष एवं सभी बद्धताओं से स्वतन्त्र सत्ता है।

शिव सत्, चित्, आनन्द है। उसे सत् कहा जाता है क्योंकि सत् (सत्य) रूप है; उसे चित् कहा जाता है क्योंकि वह चेतन (consciousness) है।[७] काश्मीर शैव दार्शनिक परमतत्त्व का कोई रूप अथवा आकार नहीं मानते। उनके यह मानने का तात्पर्य है कि शिव विना उपाधि और गुण का है क्योंकि इन सबों से सीमित नहीं किया जा सकता। सीमित अवस्था में भी (अर्थात् आत्मारूप में भी) इसका असीम से तादात्म्य बना रहता है। इसी स्थिति में उसके रूप का निर्धारण नहीं हो सकता। इसी अर्थ में परमसत्ता को अनिर्वचनीय कहा जाता है।

१—कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धेमहेश्वरे। —ई० प्र० वि०

२—श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण विश्वात्मक परमानन्दमय प्रकाशैकघनस्य·····। अखिलं अभेदेनैव स्फुरति। —प्रत्यभिज्ञा हृदयम्

३—विज्ञानस्य विभोरसौ·········। —तंत्रालोक २-४.

४—तावान्पूर्णस्वभावोऽसौ परमः शिव उच्यते। —तंत्रालोक १-१०८.

५—अस्मद्रूप समाविष्टः स्वात्मनात्मनिवारणे।
शिवः करोतु निजया नमः शक्त्या तदात्मने॥

—शिवदृष्टि १-१

६—तस्य देवातिदेवस्य परापेक्षा न विद्यते।
परस्य तदपेक्षत्वात्स्वतन्त्रोऽयमतः स्थितः॥

—तंत्रालोक १-५९.

७—[illegible] दार्शनिक, २१

काश्मीर शैव दर्शन में सत्ता और चेतना को एक साथ होना माना गया है। विना चेतना के अस्तित्व स्वयं में कुछ नहीं होता। इसीलिये शैव और वेदान्ती दोनों ही सत्ता और चेतना को एक दूसरे से द्रव्य-गुण की तरह सम्बन्धित नहीं मानते। उनके अनुसार सत्ता और चेतना मूलतः तदनुरूप (Identical) हैं। सत्ता चेतना है और चेतना सत्ता है। चेतना को मूलतः स्वयं प्रकाश कहा गया है।[1] यदि यह किसी दूसरी वस्तु से प्रकाशित होती तो चेतना चेतना न होती। इसलिए यही माना जाता है कि चेतना ही स्वयं को प्रकाशित करती है।

चित् असीम है। परमतत्त्व के सत्, चित् में निहित शक्ति स्वातन्त्र्य है जो स्वयं में असीम है। काश्मीर शैव दर्शन में शिव के स्वातन्त्र्य पर विशेष आग्रह है।[2] चेतना अपने मूल रूप में चित् शक्ति है। वेदान्ती चेतना को शुद्ध चैतन्य मानते हैं। किन्तु शैवी इसे मूलतः स्वतन्त्र चेतना मानते हैं। उनके अनुसार यदि चेतना स्वतन्त्रता से अलग होती तो यह विश्व की अभिव्यक्ति का स्रोत न होती। परमतत्त्व को सत् और चित् कहने के अतिरिक्त वेदान्ती और शैव उसे 'आनन्द' भी कहते हैं। ससीमता कष्ट है। स्वतन्त्रता या पूर्णता आनन्द है। आनन्द परमशिव का मूल-स्वरूप है जहाँ आनन्द का अनुभव भी है। वेदान्त में परमतत्त्व आनन्द स्वरूप है किन्तु इसमें आनन्द की कोई चेतना नहीं होती क्योंकि उसमें विषय-विषयी का कोई सम्बन्ध नहीं होता। जिस प्रकार अस्तित्व का कोई अर्थ विना अस्तित्ववान् के तथा चेतना का कोई अर्थ बिना चेतन के नहीं होता, उसी प्रकार आनन्द का भी कोई तात्पर्य नहीं जब तक कि आनन्द का अनुभव न हो।

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार स्वातन्त्र्य का तात्पर्य अन्य निरपेक्षता है। इसे ही आनन्द, सर्वमात्मवशं सुखम् कहा जाता है। जहाँ द्वितीय नहीं है और द्वितीय की अपेक्षा भी नहीं है, वहाँ स्वरूप स्वभावतः आनन्द रूप है, यही सच्चिदानन्द है, यही सत्यं शिवम् सुन्दरम् है। यह विशुद्धतम् सत् हो कर भी असत् नहीं है। अभिव्यक्ति की दृष्टि से वह चित् है एवं रसास्वाद की दृष्टि से वही आनन्द है। वह अप्रमेय होने पर भी स्वप्रकाश है एवं स्वप्रकाशता के कारण स्वयं आनन्द भी है तथा अपने स्वरूपानन्द का स्वयं आस्वादन भी करता है।[3]

शक्तिरूपता :—अद्वैतवादी आगमिक परंपरा का प्रमुख दर्शन होने से काश्मीर शैव दर्शन में इस परंपरा की विशिष्टतायें स्पस्ट रूप से इंगित होती हैं। इन

१—संवित्तत्त्वं स्वप्रकाशम्................. । —तंत्रालोक, २-१०

२—शिव के स्वतान्त्र्य का विवेचन आगे किया गया है।

३—तांत्रिक वांङ्मयमें शाक्त दृष्टि—कविराज

विशेषताओं में प्रमुखहै परमतत्त्व की अवधारणा में शक्ति का समावेश। यह विशेषता ही काश्मीर शैव दर्शन को अन्य दर्शनों से पृथक् करती है। अद्वैत-वेदान्त में ब्रह्म केवल ज्ञानस्वरूप तथा निष्क्रिय हैं। ब्रह्म में क्रिया का समावेश नही माना जा सकता क्योंकि अद्वैत-वेदान्त के अनुसार ब्रह्म में क्रिया का होना अपूर्णता का द्योतक होगा। किन्तु काश्मीर शैव दार्शनिक शिव को ज्ञानस्वरूप मानने के साथ क्रिया रूप भी मानते हैं। उनके अनुसार कर्म अपूर्णता के द्योतक हैं न कि क्रिया। परमतत्त्व में निहित क्रिया उनकी स्वाभाविक क्रिया, स्पंद है जो अपूर्णता का द्योतक नहीं है।[१]

परमशिव शिव और शक्ति का समन्वित रूप है।[२] शिव में अन्तर्निहित शक्ति ही शिव की क्रिया रूपता है। यही शिव का स्पन्द है जो शिव से भिन्न नहीं है। शिव के स्वरूप में स्वीकृत इस शक्ति में ही काश्मीर शैव दार्शनिक अपने दर्शन की कतिपय अन्य प्रमुख विशेषताओं की व्याख्या करते हैं यथा—शिव की विश्वमयता, शिव में आत्म-चेतना आदि।

काश्मीर शैव दर्शन में शिव विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय दोनों है। शिव विश्वमय है क्योंकि शिव और विश्व में तात्त्विक दृष्टि से अभेद है। शिव विश्वोत्तीर्ण भी है क्योंकि जगत् शिव का आभास है तथा शिव को इसका ज्ञान भी रहता है। शिव ही जगत् के रूप में अवभासित होता है तथा सृष्टि-प्रक्रिया में स्वयं अवतीर्ण भी होता है, किन्तु इन सारी प्रक्रियाओं से अप्रभावित भी रहता है अर्थात् सम्पूर्ण परिवर्तनों का स्रोत होते हुए भी शिव अपरिवर्त्य है।

यहाँ आक्षेप हो सकता है कि सृष्टि-प्रक्रिया में स्वयं अवतीर्ण होकर भी शिव अपरिवर्त्य कैसे रह सकता है? अथवा तात्त्विक दृष्टि से विश्वमय होते हुए भी किस प्रकार शिव को विश्वोत्तीर्ण कहा जा सकता है? इसके उत्तर में काश्मीर शैव दार्शनिक कहेंगे कि सृष्टि यथार्थ सृष्टि नहीं है बल्कि शिव की काल्पनिक, (विमर्शात्मक) सृष्टि है। जिस प्रकार व्यक्ति अपने कल्पनालोक का निर्माण कर लेता है और स्वयं इस लोक से परे और अप्रभावित भी रहता है, उसी प्रकार शिव जगत् की सृष्टि करता है तथा जगत् से परे और अपरिवर्त्य भी रहता है। समस्या तब उत्पन्न होती जब शिव इस सृष्टि में लिप्त होता तथा उसे यह ज्ञान न होता कि यह उसकी काल्पनिक सृष्टि है, किन्तु शिव को अपना ज्ञान भी रहता है।[३] शिव में आत्म-ज्ञान का होना काश्मीर शैव दर्शन की दूसरी प्रमुख विशेषता है।

१—इस बात पर प्राथमिक अध्याय में विचार किया जा चुका है।

२—शिव-शक्ति सम्बन्ध का विवेचन आगे किया गया है।

३—प्रकाशस्यात्म विश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः। —तन्त्रालोक १-५५ टी० में उद्धृत

शिव में आत्मचेतना—अद्वैत वेदान्ती ब्रह्म में आत्मचेतना नही मानते क्योंकि उनके अनुसार आत्म ज्ञान के लिए द्वैत का होना आवश्यक है जिसके विरुद्ध आत्मचेतना हो। परमतत्त्व की आत्म-चेतना सम्बन्धी यह अवधारणा वास्तव में आत्मा का अनात्म से भेद पर आधारित है। ब्रह्म शुद्ध अद्वैत है जिसके अतिरिक्त अन्य की सत्ता नहीं है। इसलिए उसे अपना ज्ञान नहीं होता।

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार अनात्म का वोध केवल अपने को अन्य से अलग करने के लिऐ आवश्यक है। केवल अपने अस्तित्व वोध के लिये अनात्म का वोध आवश्यक नहीं है। यहाँ क्रिया आवश्यक है। शिव में शक्ति क्रिया रूप है जिससे उसे आत्म चेतना होती है।

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार यदि परमतत्त्व में आत्म-चेतना नहीं है तो यह परमतत्त्व न होकर अचेतन जड़ के समान होगा। यह ठीक उस भौतिक प्रकाश (दीपक) के समान होगा जो स्व प्रकाशित तो हैं लेकिन उसे अपने स्वप्रकाशित होने का वोध नहीं है। क्रिया और आत्म-चेतना से रहित परमतत्त्व अवोधगम्य हो जाता है। विना आत्म-चेतना के आनन्द की कोई अनुभूति नहीं हो सकती क्योंकि आनन्द चेतना की आन्तरिक क्रिया है। इस प्रकार यह परमतत्त्व किसी मूल्य का नहीं रह जाता। वेदान्त में आनन्द को चित् की स्थिर अवस्था माना गया है किन्तु काश्मीर शैव दर्शन में यह चेतना का सहज उच्छलन है। यहाँ आनन्द क्रिया रूप है।

शांकर वेदान्त में ब्रह्म में आत्म-चेतना इसलिये भी नहीं हो सकती क्योंकि विषय-विषयी का सम्वन्ध वहाँ नहीं माना गया है। ब्रह्म मिथ्यात्व के विरोध में सत् है, जड़त्व के निषेध में चित् है, परिच्छिन्नत्व या ससीमता के विरोध में परम आनन्द है। सत्, चित् आनन्द ब्रह्म के गुण नहीं कहे जा सकते क्योंकि वहाँ द्रव्य-गुण सम्बन्ध नहीं है। सत् चित् और आनन्द स्वरूप है—'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म। सत्तैव वोधः। वोधैव सत्ता। भूमैव सुखम्। सत्, चित् और आनन्द समान और पूर्णतः ब्रह्म हैं। उनमें से कोई एक अलग से परमतत्व को नहीं प्रस्तुत करता; वे सभी एक ही सत्ता का विभिन्न प्रकार से संकेत करते हैं। सत् ब्रह्म को असत् से अलग करता है, चित् और आनन्द, जड़ और कष्ट से अलग करते हैं। शैव दर्शन के अनुसार परमशिव सगुण (Personal) और निर्गुण (Impersonal) ईश्वर दोनों ही है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया सच्चिदानन्द के मूल स्वरूप को अभिहित करते हैं। जगत् इसकी वास्तविक अभिव्यक्ति है। परमतत्व की सत् चित और आनन्द अवस्थितियाँ गोचर और अगोचर स्तर पर पूर्णतः अभिव्यक्त हैं। परमतत्त्व की इच्छा शक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रिया शक्ति केवल सृष्टि के समय ही अभिव्यक्त होती हैं। चित् शक्ति और आनन्द

शक्ति दोनों अतीन्द्रिय ओर आनुभविक स्तर पर पूर्णतः अभिव्यक्त रहती हैं। इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ केवल सृष्टि के समय में ही अभिव्यक्त होती हैं।

परमशिव परा प्रमाता, सर्वोच्च अहम् है जो सभी वस्तुओं को अपने में समाहित किये हुए है। यह स्वयं को ज्ञाता और ज्ञात दोनों रूपों में एक साथ अभिव्यक्त करता है। निग्रह और अनुग्रह दोनों कार्यों को करता है। परमतत्त्व शुद्ध चैतन्य[1] नहीं क्योंकि तव यह किसी चीज को अभिव्यक्त नहीं कर सकता। परम-आत्मा को सीमित नहीं कहा जा सकता। वहाँ कुछ नहीं है जिससे आत्मा को अलग किया जाय। यह पूर्ण सत्य है और इससे स्वतन्त्र कोई चीज नहीं है। प्रमाता और प्रमेय में अन्तर स्वयं सार्वभौम चेतना पर आश्रित है जहाँ अहं और अनहं का कोई विरोध नहीं है। पर आत्मा अहम् और अनहं का मात्र समन्वय नहीं है। परम अहम् में स्वयं में कोई विषय-विषयी सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि वस्तु स्पष्टतः एक दूसरे से भिन्न है, वास्तव में आत्मा, जो स्रष्टा और आत्म चैतन्य है, और सृष्टि में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि वे अन्ततः अहम् पर ही आधारित हैं। आत्मा सभी वस्तुओं का अन्तिम आधार है। आत्मा में स्थित रहने से सभी वस्तुएँ अहम्-चैतन्य जैसी ही प्रकाशित होती हैं। आत्मा या परम अहम् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है। शैव दर्शन के अनुसार शुद्ध अहम् निर्वचनीय नहीं है क्योंकि निर्वचनीयता द्वैत की अपेक्षा करता है और आत्मा में कोई द्वैत नहीं है।[2] परमशिव में आत्मचेतना है क्योंकि वह सगुण (Personal) और निर्गुण (Impersonal) दोनों है। अपने 'विमर्श' स्वरूप में यह सगुण (Personal) और प्रकाश स्वरूप में निर्गुण (Impersonal) भी है। यह सत्ता और संभवन, अतिभौतिक और अन्तर्भूत दोनों है। विश्वोत्तीर्ण भी है और विश्व भी। परमतत्त्व की अतीन्द्रिय अवस्थित (शिव) और प्रकृति परमतत्व की स्वयं की अभिव्यक्तात्मक शक्ति है। यह सगुण (Personal) ईश्वर परम अहम् है जिसे स्वयं की चेतना है और उसी समय यह निर्गुण (Impersonal) है जो पूर्णतः अनिर्वचनीय और सभी अभिव्यक्तियों से परे है। इसे निर्गुण और सगुण दोनों कहा जा सकता है।

१—परम शुद्ध चैतन्य है किन्तु अद्वैत-वेदान्त के ब्रह्म के समान केवल चैतन्य ही नहीं बल्कि स्पंद रूप चैतन्य है।

२— अहंप्रत्यवमर्शो यः प्रकाशात्मापि वाग्वपुः।
नासौ विकल्पः स ह्युक्तो द्वयाक्षेपी विनिश्चयः॥

ई० प्र० का०, I ६२;।

शिव प्रकाश-विमर्श रूप :—उपर्युक्त बातों के विश्लेषण में काश्मीर शव दार्शनिकों के सामने कोई कठिनाई नहीं आती क्योंकि शिव प्रकाश विमर्शमय है। शिव प्रकाश स्वरूप है। जिस प्रकार प्रकाश से सभी वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं उसी प्रकार शिव से सब प्रकाशित है। उसके ही प्रकाशित होने से सभी वस्तुएँ प्रकाशित हैं। यहाँ आक्षेप किया जा सकता है कि भौतिक पदार्थ यथा सूर्य और हीरा भी अन्य को प्रकाशित करते हैं फिर शिव और इनके प्रकाशित होने में क्या अन्तर है? इस अन्तर को स्पष्ट करने के लिये काश्मीर शैव दर्शन में कहा गया है कि शिव केवल प्रकाश ही नहीं वल्कि विमर्श भी है। यह अन्यों को प्रकाशित करने के अतिरिक्त स्वयं को भी प्रकाशित करता है, इसलिये यह विमर्श भी है। शांकर वेदान्त में भी परमसत्ता को प्रकाश कहा गया है। परन्तु वह शुद्ध प्रकाश है। पराप्रावेशिका' के अनुसार यदि परम सत्ता विमर्श भी न होके केवल प्रकाश होता तो यह शक्तिहीन और जड़ होता।[1] यह शुद्ध अहंचेतना या विमर्श ही है जिससे सृष्टि, पालन और संहार होता है।

शिव तत्त्व को मूलतः स्वतन्त्र सत्ता कहा जाता है। स्वातन्त्र्य परमेश्वर की पराशक्ति है। शक्ति शिव से सर्वथा अभिन्न है। चित् अपने को चिद्रूपिणी शक्ति के रूप में प्रकाशित करता है। चिद्रूपिणी शक्ति के रूप में अपने को प्रकाशित करना ही विमर्श है। आनन्द इसका अपर पर्याय है। यह परमात्मा का ऐश्वर्य है। यह स्वातन्त्र्य से भिन्न नहीं है। अपने स्वातन्त्र्य या ऐश्वर्य से अनन्त रूपों में स्फुरित होता हुआ भी परमेश्वर स्वरूपतः अखण्ड एवं पूर्ण रहता है। उसकी इच्छा का अनभिहत प्रसार ही उसका स्वातन्त्र्य है।[2] जिसे परमात्मा का ऐश्वर्य या स्वातन्त्र्य कहा जाता है वही विमर्शात्मा चिति है। शिव प्रकाशात्मा चिति है। दोनों अविभक्त और अविनाभूत हैं। यही दशा परमशिव से अभिहित है।

यद्यपि स्वातन्त्र्य, शक्ति, अहंता, स्फुरत्ता, विमर्श आदि पद परमशिव की स्पन्दात्मक अवस्थिति का प्रतिनिधित्व करते हैं पर उनमें से सभी स्पन्द के एक ही समान रूप पर बराबर जोर नहीं देते। अहंता समग्रता की गति पर जोर देता है, स्फुरत्ता अभिव्यक्त के अभिव्यक्ति का संकेत करता है। इसी तरह विमर्श अनिर्वचनीय की वचनीयता को व्यक्त करता है और स्वातन्त्र्य असंभव के निर्माण की क्षमता के लिये प्रयुक्त होता है। परम प्रकाश निष्क्रिय नहीं क्योंकि वहाँ भी तदनुरूप शक्ति रहती है और यह शक्ति क्रिया से अभिन्न है। इस क्रिया का कर्ता

१—यदि निर्विमंशः स्यात् अनीश्वरो जड़श्च प्रसज्येत।

२—स्वातन्त्र्यं च नाम यथेच्छं तत्रेच्छाप्रसरस्य अविघातः।— ई०प्र०वि०वि०

परमशिव है। इस तरह यह क्रिया कर्तृत्वमयी है। यही शिव का विमर्श है। इस विमर्श की दो अवस्थाएँ हैं। जब यह आत्म स्वरूप में स्थित मात्र है तब उस विमर्श का नाम है शुद्ध विमर्श (वहाँ अहंविमर्श है) दूसरा जब यह क्षोभ का अनुभव करता है अर्थात् जब इसमें विकल्पों का उन्मेष होता है; तब विचित्र प्रपञ्च का स्फुरण होता है,[1] वहाँ अहमिदम् है।

परमतत्त्व की दोनों अवस्थितियों को प्रकाश विमर्श कहा जाता है। प्रकाश शुद्ध, अपरिवर्तनीय, साक्षी, सार्वभौम चैतन्य की अवस्थिति है। विमर्श वह शक्ति है जो आत्म-चेतना, इच्छा, ज्ञान और क्रिया को क्रम से बढ़ाती है। विमर्श प्रमाता के स्वयं को जानने की क्षमता है। यह आत्म-चेतना की शक्ति या ईश्वर की पूर्ण अहंता है और इसे अहंविमर्श कहा जाताहै। प्रकाश और विमर्श सर्वदा एक रहते हैं। प्रकाश हमेशा विमर्श के साथ रहता है। विमर्श भी प्रकाश के बिना कभी नहीं पाया जाता। वे दोनों एक साथ आत्म-प्रकाश और आत्म-चेतना के वास्तविक स्वरूप का प्रतिनिधित्व करते हैं। परम सत्ता केवल चेतन नहीं है बल्कि चेतन जो स्वयं को प्रकाशित करता है। चित् स्वयं को चिद्‌रूपिणी शक्ति के रूप में प्रकाशित करता है। इसलिये विमर्श को पराशक्ति, परावाक्, स्वातन्त्र्य, ऐश्वर्य, कर्तृत्व, स्फुरत्ता, सार, हृदय, स्पन्द आदि कहा जाता है।

शक्ति

शक्ति की परिकल्पना प्राचीन साहित्य से ही मिलती आ रही है। किसी न किसी रूप में शक्ति का संकेत अवश्य मिलता है। वेदों में परम पुरुष के ब्रह्म और शक्ति दो रूप माने गये हैं। परम पुरुष स्रष्टा ने विश्व निर्माण की इच्छा से ही अपने को दो रूपों में प्रकट किया। ऋग्वैदिक मन्त्रों के अनुसार सारा जगत् शक्ति निर्मित है। चराचर विश्व के सभी पदार्थों का आदि और अन्त वही महाशक्ति है। संसार के सारे पदार्थ उसी के रूप हैं। अतः वही महाशक्ति परमेश्वर है जो सर्वभूतों में मातृ एवं शक्ति रूपेण संस्थित है।[2] शक्ति के बिना सारे पदार्थ निष्क्रिय हैं। अतः चराचर में प्रति क्षण उसी महाशक्ति के विविध रूप चरितार्थ हो रहे हैं। भौतिक विज्ञान में प्रकाश, विद्युत, ताप तथा चुम्बक आदि शक्ति के विविध रूप हैं। शक्ति अदृश्य है, किन्तु उसके विभिन्न रूप अपना प्रभाव तथा

१—तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि—कविराज

२—या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।

—दुर्गासप्तशती ७१, ७२, ७३

चमत्कार प्रदर्शित करते हैं। शक्ति न तो शून्य से उत्पन्न की जा सकती है और न शून्य में उसका लय ही हो सकता है। अविनाशी द्रव्य अविनाशी शक्ति का रूपान्तरण है। अतएव समस्त चराचर के स्थूल और सूक्ष्म पदार्थ शक्ति के ही परिवर्तित रूप हैं।

शाक्त मत में परमेश्वर को स्त्रीरूप में माना गया है और उसी को शक्ति या पराशक्ति कहा गया है। उस पराशक्ति के लिये 'आनन्द-भैरवी' 'महाभैरवी', 'त्रिपुर सुन्दरी', 'ललिता' आदि नाम प्रयुक्त किये गये हैं। वेदों, उपनिषदों, पुराणों में ब्रह्म की त्रिगुणात्मिका प्रकृति को शक्ति माना गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद के अनुसार सत्त्व, रज और तम यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही शक्ति है। इसी का मूल ऋग्वेद में मिलता है।[1] ऋग्वेद के रात्रिसूक्त, देवी सूक्त तथा श्रीसूक्त में एवं अथर्ववेद के 'देव्यथर्वशीर्ष' में भगवती की शक्ति और आराधना का विकसित रूप विद्यमान है। वैदिक प्राकृतिक सौन्दर्य-बोध शक्ति की भावानुभूति का ही प्रतीक है। यही प्रकृति-परक उपासना शक्ति की उपासना में परिवर्तित हो गयी है।

साधना के क्षेत्र में महाशक्ति की कल्पना भवानी, काली, दुर्गा आदि रूपों में की गयी है। वह परमेश्वर की ही शक्ति है जो भोग में भवानी, योग में कुण्डलिनी, कोप में काली और समर में दुर्गा है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार समस्त सृष्टि के मूल में एक ही शक्ति तत्त्व है और उसके अभिव्यक्त होने के अनेक रूप हैं। सृष्टि, स्थिति और संहार में शिव शक्ति के बिना समर्थ नहीं हो सकता।

शक्ति का अर्थ :—शिव की क्रिया रूपता को ही शक्ति कहा जाता है। शिव ज्ञान रूप है। काश्मीर शैव दर्शन में ज्ञान भी क्रिया रूप है। शक्ति के लिये प्रयुक्त विमर्श, स्पन्द आदि शिव की क्रिया रूपता का ही संकेत करते हैं। शक्ति को विमर्श कहने का तात्पर्य है कि शिव का प्रकाश विमर्शमय है जो स्वयं को भी प्रकाशित करता है। शक्ति के लिये स्पन्द का प्रयोग होता है क्योंकि शिव स्वभावतः स्पन्दनशील है। शिव के स्वरूप में ही क्रिया निहित है जो अनायास (effortless) होती है। शिव का स्पन्द ऐच्छिक अथवा स्वाभाविक क्रिया से भिन्न है; वह शिव का स्वातन्त्र्य है। शिव को स्पन्दनशील कहने का तात्पर्य यही है कि शिव कभी भी निष्क्रिय (गतिहीन) नहीं कहा जा सकता। सृष्टि अथवा प्रलय की अवस्था में

१—अग्ने यन्ते दिवि वर्च्यः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वायजत्र।
येनान्तरिक्षमुवति तन्यन्वेषं सा भानुरर्णवो नृचक्षाः।
ऋग्वेद,

न होने पर भी शिव का अहंविमर्श चलता रहता है। शक्ति के लिये प्रयुक्त विभिन्न नाम शिव की क्रिया रूपता को ही व्यक्त करते हैं।

शक्ति को विन्दु या वाक्शक्ति कहा जाता है जिसके परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी-चार स्तर हैं। इन स्तरों से ही वाक् सृष्टि की व्याख्या की जाती है। ये स्तर शक्ति के विकास अथवा प्रकाशन के चार स्तर हैं। परा अवस्था चित्-आनन्द की अवस्था है, पश्यन्ती इच्छा-अवस्था है, मध्यमा ज्ञान की अवस्था है तथा वैखरी क्रिया की अवस्था है। ये अवस्थाएँ शिव तत्त्वों (शुद्ध अध्वा) में स्थित शक्ति की अस्वथाएँ हैं। परा शिव-शक्ति की अवस्था है, पश्यन्ती सदाशिव की, मध्यमा ईश्वर की तथा वैखरी सद्विद्या की अवस्था है। परा अवस्था शुद्ध एकता अथवा अभेद की अवस्था है। यहाँ शुद्ध तादात्म्य है जहाँ अहम् विमर्श है। पश्यन्ती भेदाभेद अवस्था है जिसमें अहमिदम् विमर्श है। मध्यमा भी भेदाभेद अवस्था है, किन्तु यहाँ इदमहम् विमर्श है। वैखरी में एकता और भेद दोनों है जिसमें अहम् च इदञ्च विमर्श है। वैखरी अवस्था में शिव का स्पंद क्रिया रूप में स्पष्टतः प्रकाशित हो जाता है।

शक्ति को कुण्डलिनी भी कहा जाता है जो शरीर के मूलाधार में रहती है। कुण्डलिनी के तीन स्तर—बोध कुण्डलिनी, नाद कुण्डलिनी तथा प्राण कुण्डलिनी हैं। ये स्तर भी शक्ति की अभिव्यक्ति के विभिन्न स्तर हैं। बोध कुण्डलिनी स्पन्द रूप है जो शिव के स्वरूप में ही निहित है। नाद तथा प्राण कुण्डलिनी ज्ञान और क्रिया के स्तर हैं।

शक्ति एक ही है जो शिव की अभिव्यक्तियों के अनुसार अनेक रूपों में प्रकाशित होती है। शिव की अभिव्यक्तियाँ ही शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। विना शक्ति के शिव अभिव्यक्त भी नहीं हो सकता क्योंकि निष्क्रिय, शक्तिहीन शिव जड़ पदार्थ के समान होगा। इसीलिये काश्मीर शैव दर्शन में शिव-शक्ति की भिन्न परिकल्पना नहीं की गयी है।

शिव-शक्ति सम्बन्ध

शिव और शक्ति में तादात्म्य सम्वन्ध है। शक्ति शिव से अलग नहीं है, बल्कि अपनी सर्जनात्मक स्थिति में स्वयं शिव है। शक्ति शिव का अहंविमर्श है। शक्ति की उन्मुखता ही शिव की सृष्टि करने की प्रवृत्ति है।[1] शक्ति

१—स एव विश्वमेषितुं ज्ञातुं कर्तुं चोन्मुखोभवन्। महार्थमंजरी, और—यदा स्वहृदय-वर्तिनमुक्त रूपर्थंतत्त्वं बहिः कर्तुमुन्मुखो भवति तदा शक्तिरिति व्यवह्रियते।"—महार्थमंजरी।

की संस्थिति शिव के चिन्मय तथा स्पन्दात्मक स्वरूप में ही है। चित् या परासंवित् में अहम् और इदम् की अभेद्य एकता होती है। शिव तत्त्व में इदम् शक्ति तत्त्व के क्रियाशील होने से प्रकाशित होता है। इस इदम् अंश को बाहर कर लिया जाय अथवा यदि इदम् अंश प्रकाशित न हो तो ऐसी स्थिति को अनाश्रित शिव[1] कहा जाता है जिसमें केवल अहम् अंश होता है। किन्तु यह 'अहम्' भी अहम् विमर्श है। कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसी दशा में (अथवा किसी भी दशा में) शिव शक्ति से रहित नहीं होता, उसकी स्वरूप शक्ति भी (चित्-शक्ति) सदैव विद्यमान रहती है। शक्ति को इस रूप में मानना ही काश्मीर शैव दर्शन की विशेषता है।

शिव और शक्ति का सम्बन्ध सामरस्य या शिव और शक्ति का समन्वय है जो परमतत्त्व का स्वरूप ही है। परमशिव दोनों का संगुटीकरण नहीं बल्कि एक मूल एकता है जिसकी ये दोनों शाश्वत अभिव्यक्तियाँ हैं। अभिव्यक्ति के स्तर पर ये अलग-अलग प्रतीत होते हैं जबकि वास्तव में ये कभी अलग नहीं होते। ये परमतत्त्व के द्विविध अभिव्यक्ति को प्रस्तुत करते हैं। परमतत्त्व न तो शिव और न शक्ति के प्राधान्य का स्तर है। बल्कि यह पूर्ण समन्वय का स्तर है, जहाँ शिव और शक्ति का भेद नहीं किया जा सकता।

शिव तथा शक्ति मूलतः एक ही हैं। जो परमशिव है, वही परमशक्ति है। शक्ति के विना शिव इच्छाहीन, ज्ञानहीन, क्रियाहीन और स्पन्दन में असमर्थ शव मात्र होगा और प्रकाशात्मक शिव के विना शक्ति आत्म प्रकाश में भी असमर्थ होगी। दोनों ही चिद्रूप होने के कारण स्वरूपतः अभिन्न हैं एवं एक को छोड़कर दूसरा रह भी नहीं सकता। शिव और शक्ति शब्दार्थ तथा चन्द्र-चन्द्रिका के समान तत्त्वतः एक हैं। शिव में शक्ति और शक्ति में शिव है।[2]

अग्नि के विना दाहकता और दाहकता के विना अग्नि का सत्ता बोध होना संभव नहीं हो सकता।[3] उसी प्रकार शिव के विना शक्ति और शक्ति के विना शिव की

१—श्री परमशिवः पूर्वंचिदैक्याख्यातिमयामाश्रितशिव पर्याय शून्यातिशून्यात्मक प्रकाशाभेदेन प्रकाशमानतया स्फुरति।—क्षेमराज

२—शिवस्यामान्तरे शक्तिः शक्त्येरभ्यन्तरे शिवः।
अन्तरं नैव जानीयात् चन्द्रं चन्द्रिकयोरिव ॥—सिद्ध-सिद्धान्त संग्रह

३—न शिवेन विना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः।
अन्योन्यं च प्रवर्त्तन्ते अग्निधूंमौ यथाप्रिय।
न वृक्षरहिता छाया नच्छाया रहितो द्रुमः ॥—सि॰सि॰ सं॰

परिकल्पना नहीं हो सकती। 'शिव' शब्द में इकार शक्ति की संपृक्तता का ही द्योतक है।[१] शिव की इच्छा शिव की शक्ति है, शिव का ज्ञान शिव की शक्ति है तथा शिव की सारी क्रियाशीलता ही शिव की शक्ति है।[२]

शिव और शक्ति पर अलग-अलग विचार करने पर शिव चेतना का शुद्ध प्रकाश है तथा शक्ति चेतना की शक्ति या स्वातन्त्र्य है। जब परम सत्ता सीमित आत्मा के रूप में प्रकट होती है तब चेतना में और स्वातन्त्र्य में अन्तर प्रकट होता है। वास्तव में न तो प्रकाश विना रूप के हो सकता है और न रूप ही विना प्रकाश के। अन्तर केवल व्यावहारिक क्षेत्र में संभव है। यदि प्रकाश अपने को प्रकाशित नहीं करता है तो यह प्रकाश नहीं रह जायेगा। प्रकाश अपने नानाविध रूपों में प्रकाशित होता है। सूर्य और उसकी किरणों की तरह प्रकाश और इसका रूप सदैव अविभाज्य है। परिवर्तन या विविधता के विचार से परमतत्त्व को शक्ति और सत्ता या एकता के विचार से इसे शिव कहा जाता है। अपने आप में यह शिव और शक्ति दोनों है। जिस तरह अग्नि और इसकी दहनशीलता व्यावहारिक दृष्टि से अलग-अलग वोले जाते हैं जवकि वास्तव में वे तदनुरूप (identical) हैं; उसी प्रकार परम सत्ता को केवल आनुभविक दृष्टि से शिव और शक्ति कहा जाता है।[3]

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार विना प्रकाश के विमर्श नहीं और विना विमर्श के प्रकाश नहीं रह सकता। विमर्श प्रकाश से अलग होकर अस्तित्व में नहीं आ सकता और उसी प्रकार प्रकाश भी विना विमर्श के प्रकाश नहीं कहा जा सकता। प्रकाश और विमर्श के समान शिव और शक्ति मूलतः अविभाज्य हैं। शिव विना आत्म-वोध के शुद्ध प्रकाश है। शिव को विना शक्ति के अपना बोध भी नहीं हो सकता। इस प्रकार शक्ति से अलग होकर शिव जड़ होगा और परिणामस्वरूप शव होगा। शिव अपने को शक्ति द्वारा जानता है तथा शक्ति भी अपने कार्य सम्पादन के लिये शिवाश्रित रहती है। दोनों ही मूल रूप से एक दूसरे पर आश्रित हैं। उपासना में यद्यपि ईश्वर और देवी दो रूप व्यक्त हैं, किन्तु मूलतः दोनों एक हैं। शुद्ध निर्गुण तत्त्व जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आधार है, पुलिंग में चित्

१—शिवोऽपिशवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जितः।—देवीभागवत का कवच

२—शिवोऽपि शक्ति रहितः कर्तुं शक्तो न किंचन,
शिवः स्वशक्ति सहितो समासोद्भासको भवेत्।
—सि० सि० सं०

३—शिवदृष्टि । ३ ।। ४ ।।

कहा गया है और स्त्रीलिंग में चिति कहा गया है। जबकि वास्तव में परमतत्त्व में लिंगभेद नहीं किया जा सकता; क्योंकि वह अलिंग है।[1]

शिव-शक्ति सम्बन्ध के लिये शंकर-पार्वती या पति-पत्नी अथवा अर्द्धनारीश्वर का प्रतीक प्रयुक्त होता है। किन्तु ये प्रतीक शिव-शक्ति सम्बन्ध को पूर्ण रूपेण व्यक्त नहीं करते। पति-पत्नी के प्रतीक से यह समझा जा सकता है कि दोनों दो हैं और एक साथ अथवा एक सूत्र (harmony) में रहते हैं, किन्तु शिव-शक्ति दो नहीं हैं; ये तत्वतः एक हैं। अर्द्धनारीश्वर के प्रतीक से यह समझा जा सकता है कि शिव का आधा भाग शिव का तथा आधा शक्ति का है। किन्तु शिव-शक्ति को इस प्रकार नहीं समझा जा सकता क्योंकि शिव (सम्पूर्ण) ही शक्ति है और शक्ति (सम्पूर्ण) ही शिव है। शिव और शक्ति में अन्तर शुद्ध रूप से काल्पनिक और निर्मूल है।[2] वास्तव में उनमें अन्तर किया ही नहीं जा सकता।

शक्ति के भेद :—मुख्यतया दो प्रकार से शक्ति का भेद किया जा सकता है। एक प्रकार की वे शक्तियाँ जो शिव के स्वरूप में ही निहित हैं तथा दूसरे प्रकार की वे शक्तियाँ जिन्हें शिव सृष्टि की अभिव्यक्ति के क्रम में स्फुटित करता है अथवा जो शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर हैं। चित् शक्ति और आनन्द शक्ति को शिव की स्वरूप शक्ति कहा जा सकता है। इन शक्तियों के कारण ही शिव विमर्शमय तथा आनन्द रूप हैं। इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों को शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति कहा जा सकता है जिन्हें वह सृष्टि की अभिव्यक्ति के क्रम में प्रकट करता है। इन शक्तियों को स्वरूप शक्ति नहीं कहा जा सकता क्योंकि तब सृष्टि कार्य शिव का स्वातन्त्र्य नहीं रह जायेगा।

१—चित्शक्ति (consciousness force) :—चिदात्मा की प्रकाश-रूपता ही उसकी चित् शक्ति है।[3] चेतना का स्वरूप ही शक्तिरूप है, इसलिए इसे चित् शक्ति (consciousness force) कहा जाता है। चेतना की इस विशेषता के कारण ही शिव को स्वप्रकाश तथा आत्म-चेतना से युक्त कहा जाता है। इस शक्ति से ही परमतत्त्व अपने को प्रकाशित करता है तथा इस प्रकाश स्वरूप से

१—शिवो देवः शिवा देवी शिव ज्योतिरिति त्रिधा।
अलिंगमपि तत्तत्वं लिंगभेदेना कथ्यते।"—बृहणी। कुमार तत्व प्रकाश व्याख्या डा० गोपीनाथ कविराज द्वारा 'तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि' में उद्धृत,

२—तंत्रालोक, आ० १, पृ० १०९

३—प्रकाशरूपता चित्शक्तिः।—तंत्रसार पृ० ६

ही वह सर्वत्र प्रकाशित होता है और इसी प्रकाशरूप आश्रय में विश्व के समस्त तत्त्वों का प्रकाशन होता है।

२-आनन्द शक्ति :—काश्मीर शैव दर्शन में आनन्द भी स्पन्दन या क्रिया रूप है। इस शक्ति (क्रिया रूप आनन्द) के द्वारा ही शिव आनन्दमय है तथा आनन्द की अनुभूति भी करता है। इसे स्वातन्त्र्य भी कहा जाता है।[1] यह परम इच्छा है जो विना किसी बाह्य वस्तु की सहायता के सब कुछ करने में समर्थ है। प्रकाशरूपता का विमर्श ही उसका स्वातन्त्र्य है जिससे आत्मा पर-निरपेक्ष[2] होकर स्वात्ममात्र की पूर्णता में विश्रान्त रहता है। पर-निरपेक्ष आत्म-पूर्णता की प्रतीति ही उसका आनन्द है।[3]

आनन्द शक्ति की अवस्थिति में परमशिव शक्ति से अभिहित होता है। चित् और आनन्द को शिव का स्वरूप ही कहा जा सकता है क्योंकि चित् अंश शिवभाव है और आनन्द अंश शक्ति भाव है। चित् अंश (प्रकाश) और आनन्द अंश (विमर्श) का सामरस्य ही परमभाव है।[4] यह अवस्था परमशिव कही जाती है। इस अवस्था से किसी एक अंश को अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि चित् आनन्द स्वरूप है और आनन्द विना चित् के रह नहीं सकता। बाकी अन्य शक्तियों को उनकी शक्ति कहा जा सकता है।

३-इच्छाशक्ति :—शिव में सर्जनात्मक इच्छा का स्फुरण ही इच्छा शक्ति है। इसके द्वारा शिव अपने आनन्द के प्रकाशन की इच्छा करता है।[5] इस इच्छा शक्ति से ही परमेश्वर विभिन्न ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय रूपों में आत्म-अवभासन की इच्छा करता है। इस अवस्थिति में परमशिव सदाशिव से अभिहित होता है।

४-ज्ञान-शक्ति :—परम शिव की इच्छा शक्ति जब ज्ञेयता धारण करती है अथवा कार्योन्मुखी होती है तो उसकी प्रकाशन शक्ति ज्ञानशक्ति से अभिहित होती है।[6] परमशिव स्वयं ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान स्वरूप है। शिव की सिसृक्षा का जब शिव

१—स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः—तन्त्रसार आ० १

२—अन्यनिरपेक्षतैव परमार्थतः आनन्दः —ई० प्र० वि० I, पृ० २०७

३—स एव परानपेक्षः पूर्णत्वादानन्द रूपो।

—शिवदृष्टि वृत्ति, पृ० ६

४—डा० गोपीनाथ कविराज—कल्याण-शिवांक

५—तच्चमत्कार इच्छा शक्तिः—तन्त्रसार, पृ० ६

६—परतस्तस्मिन् विश्वलक्षणे कार्ये यज्ज्ञानं, तत्प्रकाशनशक्तिरूपता सा ज्ञान शक्तिः—शिवदृष्टिवृत्ति पृ० १८

को ज्ञान होता है तो इस अवस्थिति को ही ज्ञान शक्ति[1] कहते हैं। इस अवस्थिति में शिव ईश्वर से अभिहित होता है।

५-क्रिया-शक्ति :—इच्छा शक्ति ही जब क्रियारूप में वाह्य प्रकट हो जाती है तो क्रिया शक्ति कही जाती है। इस शक्ति के कारण शिव कोई भी रूप अभिव्यक्त कर सकता है। मालिनी विजयोत्तर वार्तिक में कहा गया है कि परमशिव जिस शक्ति के द्वारा विश्वात्मक भाव से नाना पदार्थों का भेद अवभासन करता है उस 'भासना' को ही शास्त्रों में क्रिया शक्ति कहा गया है।[2] यह समस्त विश्व क्रिया शक्ति का ही स्वरूप है।[3] इस अवस्थिति में परमशिव सद्विद्या से अभिहित होता है।

शक्ति के इन पाँचों प्रकारों से सम्पन्न शिव अपने आप समस्त विश्व को अभिव्यक्त करते हैं। वस्तुतः यह जगत् शिव की शक्ति ही का विस्तृत रूप है, जिसे परमशिव ने अपने में स्वेच्छा से अभिव्यक्त किया है। शक्ति शिव से अलग नहीं है। विना शक्ति के शिव जड़वत् है क्योंकि शक्ति से ही शिव को 'अहम्' का बोध होता है। उसी प्रकार विना शिव के शक्ति भी नहीं रह सकती क्योंकि उसके लिये आधार का होना आवश्यक है। शिव और शक्ति को सृष्टि अथवा प्रलय किसी भी अवस्था में अलग नहीं किया जा सकता।

१—आमर्शात्मकता ज्ञान शक्तिः।—तंत्रसार पृ० ६

२—भासना च क्रियाशक्तिरिति शास्त्रेषु कथ्यते।—१।९०।

३—क्रियाशक्तेरेव अयं सर्वो विस्फारः। —ई० प्र० वि० भा० २, पृ० ४२

शिव का सृष्टि से सम्बन्ध

काश्मीर शैव दर्शन में एक मात्र तत्त्व 'परमशिव' है। वह सब कुछ है। न तो उसके अलावा कुछ है और न ही उससे भिन्न। सृष्टि उसी का आत्म-प्रसार है। उससे ही सभी पदार्थ आविर्भूत होते हैं और फिर उसी में विलीन भी हो जाते हैं। सृष्टि शिव का उन्मीलन मात्र है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जब उसकी इच्छा होती है तो उसी में से वह बाह्य प्रकट हो जाता है।[1] यहाँ विश्व के बाह्य प्रकट होने का तात्पर्य यह नहीं कि वह एक दम से बाहर निकल जाता है या उससे अलग हो जाता है, बल्कि यह है कि जो विश्व शिव में अव्यक्त (इच्छारूप) रहता है वह व्यक्त हो जाता है अथवा उसकी अभिव्यक्ति होने लगती है। शिव स्वयं को जगत् रूप में अभिव्यक्त करता है। अपनी व्यक्तावस्था में भी जगत् शिव से भिन्न नहीं होता, इसकी प्रतीति मात्र भिन्न होती है। जगत् सदैव शिवमय बना रहता है।[2]

काश्मीर शैव दर्शन में भी अन्य दर्शनों यथा अद्वैत-वेदान्त के समान अज्ञान और माया का समावेश है, किन्तु यहाँ ये स्वतन्त्र नहीं हैं। ये परमतत्त्व के आधीन हैं। उसकी इच्छा से ही इनका उदय और लय होता है। अज्ञान के उदय होने पर भी परमतत्त्व के परम स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। परमतत्त्व अपनी स्वतन्त्रेच्छा से सृष्टि करता है और स्वयं सृष्टिदशा में अवतीर्ण होता है। असीम होकर भी अपने को सीमित अभिव्यक्त करता है। सृष्टि करने में उसका कोई प्रयोजन निहित नहीं है। यह उसका स्वभाव (स्वातन्त्र्य) है। वह सदा पंचकृत्यकारी है। अपनी लीला के लिए परमशिव सृष्टि करता है और स्वयं को बन्धन में डालता है। पर वास्तव में वह बन्धन में या सीमित दशा में भी असीम और परमतत्त्व ही रहता है। उसके स्वरूप में कोई भी वास्तविक परिवर्तन नहीं होता। सारे परिवर्तन प्रतीति मात्र होते हैं। माया तथा उससे सृष्टि सभी उस परमशिव की लीला ही है।

१—यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थः विश्वमेतच्चराचरम्।

—क्षेमराज (पराप्रावेशिका)

२—शुद्धं तत्त्वं परमशिवाख्यं तत्र यदा विश्वमनुसन्धते तन्मयमेवतत।

—शिवसूत्रविमर्शिनी पृ० ३५

सृष्टि का उद्देश्य :—परमशिव स्वयं में परिपूर्ण है। उसे अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं हो सकती। फिर प्रश्न उत्पन्न होता है कि उसे सृष्टि करने की आवश्यकता ही क्यों पड़ी अथवा नानावैचित्र्य सम्पन्न इस सृष्टि को करने में उसके क्या उद्देश्य निहित हो सकते हैं। परमशिव पंचकृत्यकारी है। सृष्टि स्वयम् में एक कार्य है। कार्य या तो किसी निमित्त के लिये होते हैं अथवा स्वभावतः। परमसत्ता असीमित शक्तियों से युक्त है जिनसे सब कुछ हो सकता है। अपने को अभिव्यक्त करना परमशिव का स्वभाव (स्वातन्त्र्य) है। आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि यदि परमशिव सृष्टि न करता और अकेले में ही पड़ा रहता तो यह 'परमतत्त्व' न होकर घट, पट जैसा कुछ होता।[1]

शक्ति और शिव अभिन्न हैं। शक्ति संकोच प्रसारात्मिका है। यही इसका आनन्दमय उच्छलन है और यही सृष्टि एवम् संसार की क्रीड़ा है। शक्ति शिवता है और शिवता शिव का स्वभाव है। अतः सृष्टि-संहार स्वभावतः हो रहा है।[2] स्वभावसिद्ध कार्य में निमित्त का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।[3] जब कोई क्रिया किसी निमित्त से नही होती और फिर भी होती है तब उसका कारण 'स्वभाव में' ही निहित होता है। यह एक प्रकार का आनन्द होता है। इस आनंन्द के लिये ही परमशिव सृष्टि और प्रलय करता रहता है। जब विश्राम चाहता है तो प्रलय कर लेता है और जब आत्मरमण चाहता है तो आत्मप्रसार अथवा सृष्टि कर लेता है। दोनों ही उसके स्वातन्त्र्य शक्ति की लीला है।

अपने स्वभाव के कारण ही वह विश्व का अभास करने में पूर्णतः निरपेक्ष है।[4] उसके स्वभाव के सम्बन्ध में प्रश्न करना अग्नि की दाहकता पर प्रश्न करना

१—अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः
महेश्वरस्त्वं संवित्त्वं तदत्यक्ष्यद् घटादिवत्। —तन्त्रालोक, आ० ३ श्लो० १००

२—काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि को शिव द्वारा स्वभावतः होना कहा गया है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सृष्टि होना शिव के स्वरूप में ही है अथवा आवश्यक (Logical Necessity) है। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि सृष्टि शिव द्वारा अनायास (effortlessly) स्वाभाविक ढंग से होती है। वास्तव में सृष्टि का होना या न होना शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है।

३—महाप्रकाशः रूपाहि येयं संविद् विजृम्भते।
सा शिवः शिवर्तवास्य वैश्य रूप्यावभासिता॥
—तंत्रालोक भा० ९। आ० १५।२६५-२६६

४—एवं स्वभावत्वादेव च अस्य न अत्र परापेक्षा इति।
—तंत्रालोक टीका, भा० ६; पृ० १३१

होगा। जलना अग्नि का स्वभाव है और उसके इस स्वभाव में निमित्त नहीं खोजा जा सकता।[1] अतएव जैसे दाहकता अग्नि का स्वभाव है[2] उसी प्रकार विश्व का आभास करना परमशिव का स्वभाव है।[3] परमशिव का यह स्वतन्त्र स्वभाव ही उसकी पंचकृत्यकारी क्रीड़ा है, जिसका उद्देश्य उसके स्वात्म-उल्लास के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता है। निराकांक्ष एवं परिपूर्ण परमशिव की स्वातन्त्र्य-क्रीड़ा के उद्देश्य को समझाते हुए आचार्य सोमानन्द ने 'शिवदृष्टि' में लिखा है कि जैसे अपरिमित ऐश्वर्य के चमत्कार (वोध) से परितृप्त कोई सार्वभौम राजा सब प्रकार के वाहन आदि साधनों के स्वाधीन होने पर भी अपने पूर्ण तृप्त स्वभाव की स्वतन्त्र लीलावश पैदल चलता है अथवा पैदल चलने की क्रीड़ा करता है; यहाँ पैदल चलना उसकी क्रीड़ा ही हो सकती है क्योंकि उसके पैदल चलने का उद्देश्य स्वात्म-विनोदन के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। उसी प्रकार परमेश्वर स्वात्मपूर्णता के स्वातन्त्र्य के कारण अपने आपके आनन्द में ही स्पन्दित सा रहता है और अपने अन्दर अपनी स्वतन्त्र इच्छामात्र से ही उन्मीलित शिवतत्त्व से लेकर पृथ्वीतत्त्वपर्यन्त अपने स्वरूपभूत प्रमातृ-प्रमेय, विषयी-विषय आदि भिन्न रूपों से क्रीड़ा करता रहता है।[4] विश्वाभास की सृष्टि संहारात्मक यह क्रीड़ा ही

१—देव एव तथासौ चेद् स्वरूपं चास्य तादृशम्।
तादृक्प्रथास्वभावस्य स्वभावे कानुयोज्यता॥
—तंत्रालोक, भा० ८, आ० १३।१०७

अतत्स्वभाववपुषः स स्वभावो न युज्यते।
—तंत्रालोक भा० ६, आ० ९।१४

२—सृष्टि को शिव का स्वाभाविक कृत्य कहने के लिये काश्मीर शैव दर्शन में इस प्रकार की अनेक उपमाओं का प्रयोग किया गया है, जिससे यही ध्वनित होता है कि सृष्टि करना शिव के लिये आवश्यक कार्य है। किन्तु यह अर्थ स्वातन्त्र्यवाद के विपरीत है। सृष्टि को शिव का स्वभाव उसी अर्थ में कहा जाता है जिस अर्थ में यह कहा जाता है कि खेलना बच्चे का स्वभाव है। बच्चा स्वभावतः खेलता रहता है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि बच्चा सदैव खेलता ही रहता है अथवा खेलने में उसका स्वातन्त्र्य नहीं है।—इस विषय की विस्तृत विवेचना 'स्वातन्त्र्यवाद' के सन्दर्भ में आगे की गई है।

३—तथाभासन योगोऽतः स्वरसेनास्य विजृम्भते। तं० आ० ९, आ० १५।२६६

४—यथानृपः सार्वभौमः प्रभावामोद भावितः।
क्रीडान्करोति पादात धर्तास्तद्धर्म धर्मतः।
तथा प्रभुः प्रमोदात्मा क्रीडत्येव तथा तथा॥ —शिवदृष्टि आ० १।१३७-३८

उसका स्वातन्त्र्य[1] है और यह स्वातन्त्र्य ही जगत् आभास का एकमात्र हेतु है।

शिव विना किसी प्रयोजन के सृष्टि करता है, किन्तु काश्मीर शैव दर्शन के सृष्टि विचार में कई समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, यथा—किस प्रकार निरपेक्ष तत्त्व (शिव) सापेक्ष हो जाता है अथवा किस प्रकार एक अनेक हो जाता है; किस प्रकार चित् जड़ रूप हो जाता है, किस प्रकार विषयी (Subject) विषय (Object) हो जाता है; किस प्रकार कारण कार्य हो जाता है, किस प्रकार ज्ञानी अज्ञानी (जीव-रूप) हो जाता है, किस प्रकार सत्य (Reality) आभास (Appearance) हो जाता है? इन समस्याओं के समाधान में काश्मीर शैव दार्शनिक अपना स्वातन्त्र्य-वाद प्रस्तुत करते हैं।[2] शिव के स्वातन्त्र्य द्वारा सब कुछ सम्भव होता है।[3]

इन समस्याओं के मूल में प्रश्न उत्पन्न होता है कि किस प्रकार शिव जगत् से प्रभावित नहीं होता? अथवा विना शिव में परिवर्तन हुए किस प्रकार सृष्टि हो जाती है? इस सम्बन्ध में दो विकल्प हैं। यदि शिव अपरिवर्त्य है तो कोई वास्तविक सृष्टि नहीं हो सकती अर्थात् सृष्टि प्रतीति मात्र होगी और यदि वास्तविक सृष्टि होती है तो इसकी व्याख्या शिव को अपरिवर्त्य मान कर नहीं की जा सकती। काश्मीर शैव दार्शनिक पहले विकल्प को मानते हैं, जिसके अनुसार सृष्टि प्रतीति मात्र अथवा आभास रूप है तो किन्तु यह अद्वैत-वेदान्त की सृष्टि के समान मिथ्याभास अथवा अध्यारोपण नहीं है बल्कि शिव का सक्रिय आत्म-प्रक्षेपण (Self-projection) है।

सृष्टि से शिव को अप्रभावित बताने के लिए काश्मीर शैव दार्शनिक कहते हैं कि जिस प्रकार हम अपना कल्पना लोक बना लेते हैं और उस कल्पनालोक में भी रहते हैं तथा उससे परे और उससे अप्रभावित रहते हैं, उसी प्रकार शिव जगत् प्रक्षिप्त करता है तथा उससे परे और अप्रभावित भी रहता है। हम अपने कल्पना लोक की वस्तुओं को वाह्य प्रकट नहीं कर सकते (क्योंकि हम सीमित हैं) किन्तु शिव जगत् को वाह्य प्रकट कर देता है जैसे योगी अपनी इच्छा मात्र से वस्तुओं को

१—एष देवोऽनया देव्या नित्यं क्रीडारसोत्सुकः।
विचित्रान्सृष्टि संहारान्विधत्ते युगपद् विभुः॥

—बोधपंचदशिका श्लो० ६

२—स्वातन्त्र्यवाद की विवेचना आगे 'स्वातन्त्र्यवाद' में की गई है।

३—तस्य स्वातन्त्र्यभावो हि किं किं यन्न विचिन्तयेत्।

तंत्रालोक १-१३६

बाह्य प्रकट कर देता है। यह कार्य शिव किस प्रकार संपादित करता है, इसे काश्मीर शैव दार्शनिक लीलावाद द्वारा प्रस्तुत करते हैं।

लीलावाद :—काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि शिव का लीला विलास है। इस दर्शन के अनुसार परमशिव ही नाना प्रकार की विचित्रताओं के साथ सर्वत्र स्फुरित[1] हो रहा है और उससे भिन्न न तो कोई वस्तु है और न किसी वस्तु की कल्पना भी की जा सकती है।[2] परमशिव का स्पन्द रूप आनन्द उसके अपने ही परमेश्वरता के विलास का विमर्शरूप है।[3] इस स्वात्म आनन्द में सदा विभोर रहता हुआ परमशिव आनन्द में स्पन्दमान रहता है और उसका यह आनन्द-स्पन्दन ही विश्व बन जाता है।[4] वह अपने स्पन्द-स्वातन्त्र्य से विभिन्न विचित्र रूपों में प्रकाशित होकर भी वस्तुतः अविचित्र होकर अकेला ही रहता है।[5] सृष्टि और प्रलय शिव की क्रीड़ा है जिसे उसके विमर्शरूपता का उन्मेष और निमेष कहा जाता है।[6]

बन्धन और मोक्ष शिव की स्वातन्त्र्य कल्पना[7] अथवा लीला-विलास है। वास्तव में न तो बन्धन कोई वस्तु है और न ही उससे मुक्ति की कोई बात है। परमशिव अपनी इच्छामात्र ही से अपने अनाच्छादित स्वरूप को आच्छादित करने में भी समर्थ है और आच्छादन को आत्मस्वरूप में विगलित कर पुनः परिशुद्ध स्वरूप के प्रकाशन में भी सक्षम है। दूसरे शब्दों में, वह कल्पित प्रमातृ- भाव में अपने आप को बाँधने में भी समर्थ है और उस बन्धन को हटाकर अपने कल्पित बद्ध-स्वरूप को मुक्त करने में भी सक्षम है।[8]

१—तस्मादनेक भावाभिः शक्तिसृदभेदतः।
एक एव स्थितः शक्तः शिव एव तथा तथा।

—शिवदृष्टि आ० ४.५

२—स एक विविधेन रूपेणावस्थितो न हि तत्प्रकाशातिरिक्ता कापि कस्यापि कदापि सत्ता अस्तीति। —स्वच्छ० तं० टी० भा० ६, पृ० २९

३—स्पन्द निर्णय, पृ० ३।४

४—शिवस्तो० १३-१५

५—मा० वि० वा० का० १-७६

६—स्पन्द निर्णय पृ० ४

७—ई० प्र० वि० भा० १, पृ० ३८

८—तंत्रालोक भा० ८, आ० १३-१०४-१०५

विश्व की सृष्टि और प्रलय, बन्धन और मोक्ष की कल्पना उसका स्वातन्त्र्य स्वभाव है।[१] इस स्वातन्त्र्य स्वभाव के कारण ही काश्मीर शैव दर्शन में उसे पूर्ण स्वतन्त्र आनन्दघन परम ईश्वर कहा गया है।[२] अपने इस स्वातन्त्र्य से ही वह कहीं क्रम से, कहीं अक्रम से अभेद, भेदाभेद और भेदरूप तीनों दशाओं में अपने आभासन की लीला करता है।[३] विभिन्न भूमिकाओं में स्वेच्छावश लीला-अभिनय करने के कारण ही उसे नर्तक कहा गया है। अपने इस अप्रतिहत स्वातन्त्र्य के कारण ही परमशिव अपने स्वरूप को प्रमाता-प्रमेय आदि नाना रूपों में कल्पित कर अनतिरिक्त को भी अतिरिक्तवत स्वात्मभित्ति पर आभासित करता है।[४] जगत् का अपने अन्दर यह आभास और फिर उस आभासित जगत् का अपने अन्दर विलय ही उसका स्वातन्त्र्य रूप कर्तृत्व है।[५] इसी कर्तृत्व स्वभाव से वह सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान (निग्रह) और अनुग्रह रूपात्मक पंचकृत्यों को करता है।[६]

आत्म विलास के हेतु पंचकृत्य करते हुए भी वह अपने परिपूर्ण स्वातन्त्र्य से कभी च्युत नहीं होता अर्थात् उसके परिशुद्ध स्वभाव को अशुद्ध भाव संस्पर्श नहीं कर पाता। क्योंकि उसे यह ज्ञान रहता है कि जगत् उसकी लीलामात्र है। वह नित्य पूर्ण अहंता के विमर्श में ही रहता है।[७] सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह उसका स्वातन्त्र्य है।[८] इन कृत्यों को करने के लिए शिव कहीं से वाध्य नहीं है। इस लीला में वह अपनी स्पन्द शक्ति से पूर्ण समर्थ है। अपने स्वातन्त्र्य से ही वह विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण है।

जगत् से शिव का सम्बन्ध :—जगत् शिव से अभिन्न है। विश्व शिव में से ही वाह्य अभिव्यक्त होता है और अभिव्यक्ति के उपरान्त भी इसका तादात्म्य शिव से वना रहता है। दोनों में अभेद्य एकता है। व्यक्त होने के पूर्व अव्यक्त दशा में सृष्टि वैसे ही शिव से सम्वन्धित रहती है जैसे हमारे विचार व्यक्त होने के पूर्व

१—ई० प्र० वि० भा० १, पृ० ३१
२—ई० प्र० वि० भा० १०, पृ० १०
३—परमार्थसार (अभिनवकृत) टीका, पृ० ३-४
४—ई० प्र० वि० भा० १, ११५।१६
५—तंत्रालोक भा० ६, आ० ९।२२
६—बोधपंचदशिका, श्लो० ४
७—स्वच्छन्द तं० टीका भा० ३, पृ० ९६
८—ई० प्र० भा०, आ० ५।१३

हमारे मन में रहते हैं।[1] अभिव्यक्त होने के उपरान्त भी सृष्टि का शिव से तादात्म्य बना रहता है क्योंकि जगत् जिस तत्त्व का बना है वह शिव ही है अर्थात् शिव और जगत् में तात्त्विक एकता है।

काश्मीर शैव शास्त्र में शिव और सृष्टि के सम्बन्ध को बताने के लिये सागर और उसकी लहर का दृष्टान्त दिया गया है। कहा गया है कि जिस प्रकार शान्त निस्तरंग महासमुद्र अपने स्वरूपभूत जल को अपने अन्तर्गत ही असंख्य लहरों के रूप में आभासित करता है, उसी प्रकार परमशिव अपनी अखण्ड प्रकाशरूपता के अन्तर्गत अपनी स्पन्दरूपा इच्छाशक्ति को उल्लसित कर के अपने स्वरूप को ही विश्वभाव से आभासित करता है।[2] लहरों के रूप में उल्लसित जल अपने आधार रूप जल संघात से पूर्णतः अभिन्न होते हुए भी तरंग रूपों में भिन्न प्रतीत होता है। वैसे ही विश्वरूप में भासमान प्रकाश अपने स्वरूप अर्थात् आधारभूत महाप्रकाश से सर्वथा अभिन्न होते हुए भी प्रमाता-प्रमेय आदि रूपों में परस्पर भिन्नवत आभासित होता है। वीचित्व विशिष्ट जल और आधारभूत जल में व्यवहार के लिए भेद मानने पर भी वस्तुतः जैसे जलत्व की दृष्टि से कोई भेद नहीं है, उसी प्रकार विश्वमय चैतन्य और विश्वोत्तीर्ण चैतन्य में भी भेद नहीं है।[3] सृष्टि विश्वातीत और विश्वात्मक का ही आत्म प्रकाश है। मूल सत्ता और विश्व के बीच मूलतः (तत्त्वतः) कोई भेद नहीं है, केवल व्यवहार के लिए दो नाम प्रयुक्त हैं।[4]

परमशिव ही शिव तत्त्व से लेकर धरणिपर्यन्त सर्वत्र अपने स्वरूप का ही आभासन करता है।[5] परमशिव से जगत् की अभिन्न स्थिति को स्पष्ट करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है कि जिस प्रकार दर्पण में परस्पर पृथक् रूप से

१—स्पन्दकारिका विवृति (रामकण्ठ कृत) पृ० ५

२—तेन बोधिमहासिन्धोरुल्लासिन्यः स्वशक्तयः।
आश्रयन्त्यूर्मय इव स्वात्मसंघट्टाचित्रताम्॥

तं० लो० भा० २ आ० ३।१०२।१०३.

३—परमेश्वरः वस्तुतः क्रमरहित्येऽपि विश्व सृष्टौ आभासनमात्रसारेण पारमार्थिक कार्यकारणभावेन क्रममपि उद्भावयन, अनाख्यत्वेऽपि स्वेच्छयैव स्वात्मभित्तौ तत्तच्छिवादितत्वाभिख्यम् अवभासयति।

—षट्त्रिंशत्तत्वसंदोह पृ. १

४—यथाम्बुधेस्तरंगाणां चैक्येऽपि व्यवहारभेदः तथा शिवस्य विश्वस्य च।

—शिवदृष्टिवृत्ति पृ. ११३

५—तंत्रालोक टी. भा. १, पृ. २०९

प्रतिविम्बित ग्राम, नगर, नदी, वृक्ष आदि दर्पण से अभिन्न होते हुए भी भिन्नवत् अवभासित होते हैं, उसी प्रकार परमशिव अपने स्वातन्त्र्य-माहात्म्य से अपने अन्तर्गत अभिन्न भाव से अवस्थित विश्व वैचित्र्य को भिन्नवत् अवभासित करता है।[१]

शिवेच्छा ही जगत् रूप धारण करती है :—शिव के साथ जगत् की इस तात्त्विक एकता को बताने के लिये काश्मीर शैव दार्शनिक कहते हैं कि शिव की इच्छा ही जगत् रूप में अभिव्यक्त होती है। शिव को जगत् की सृष्टि करने के लिये किसी साधन या उपादान की आवश्यकता नहीं होती। शिव सर्वशक्तिमान है। वह अपनी इच्छा को ही विषयों के रूप में अभिव्यक्त कर देता है।[२] सृष्टि की अभिव्यक्ति के लिये वह किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा भी नहीं कर सकता क्योंकि उसके अतिरिक्त अन्य का सर्वथा अभाव है। अतः वह स्वयं को ही अपनी स्वतंत्र इच्छा के माध्यम से अभिव्यक्त करता है।[3]

शिवेच्छा का सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त होने में कोई तार्किक कठिनाई भी नहीं है क्योंकि काश्मीर शैव दर्शन में इच्छा विमर्शरूप अथवा क्रिया रूप है। क्रिया भी और कुछ नहीं वल्कि परमतत्त्व की इच्छा है जो आत्म चैतन्य-स्वरूप एवं पूर्ण स्वातन्त्र्य की अवाधित शक्ति है।[४] क्रियाशक्ति परमशिव की सर्वशक्तिमत्ता है। यह स्वतन्त्र चैतन्य स्वरूप है जिसमें अन्य सभी शक्तियाँ भी अन्तर्विष्ट हैं।[५] इच्छा की अभिव्यक्ति क्रिया द्वारा ही हो सकती है क्योंकि इच्छा का पता भी विना अभिव्यक्ति के नहीं हो सकता। विना अभिव्यक्ति के इच्छा मात्र इच्छा ही रह जाएगी। उसके लिये उसका अभिव्यक्त होना आवश्यक है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अपनी अभिव्यक्ति के पूर्व इच्छा क्रिया रूप नहीं है; अपनी अभिव्यक्ति के पूर्व इच्छा विमर्श रूप है, क्योंकि यदि ऐसा नहीं है तो इच्छा की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार क्रिया भी मूलतः परमतत्त्व की इच्छा की बाह्य अभिव्यक्ति है क्योंकि विना इच्छा के क्रिया का होना भी असम्भव ही है। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् दिव्य इच्छा की रचना है। स्वतन्त्र इच्छा की यह सृष्टि साधारण जीवन में भी

१—तंत्रालोक भा. २, आ. ३।४
२—भास्करी, भा. २, ४ श्लो. १
३—भास्करी, भा. १, ५।१५
४—भास्करी, भा. २ पृ. २४
५—ई. प्र. वि. भा. १, ४ पृ. १५

देखी जा सकती है। योगी अपनी इच्छा शक्ति के प्रभाव से विभिन्न वस्तुओं की सृष्टि कर लेता है।[1]

परमेश्वर की इच्छाशक्ति का उन्मेष होने पर विश्व बाह्य रूप में प्रकट होता है। विश्व के बाह्य रूप में प्रकट होने का तात्पर्य है इच्छारूप विश्व का ज्ञान रूप धारण करना। इच्छाशक्ति के स्फुरण के उपरान्त ज्ञानशक्ति का प्रादुर्भाव होता है। ज्ञानशक्ति का आविर्भाव होने पर विश्व जो इच्छारूप में होने के कारण अव्यक्त दशा में रहता है, अब व्यक्त होने लगता है। इच्छा रूप अव्यक्त विश्व ज्ञानशक्ति के विकास से ज्ञानस्वरूप में स्थित होता है। फिर वही ज्ञान की तरंगित अवस्था में ज्ञेय रूप से पृथक् आकार में अपने को प्रकट करता है। इसके पश्चात् क्रियाशक्ति का उन्मेष होने पर वह आकार ज्ञान से च्युत होकर कार्य का आकार धारण करता है। यही परमतत्त्व की जागतिक अवस्था है।

इच्छा का कार्य में रूपान्तरण ही सृष्टि है। यह कार्य चेतना के विषयीकरण में निहित है। चेतना का विषयीकरण चाह या इच्छा के भाव के उत्पन्न होने से होता है। यह भाव तब उत्पन्न होता है जब सर्वोच्च आत्मा अपने को अपनी स्वेच्छा से सीमित अभिव्यक्त करता है।[2] यह विश्व को उसी तरह अपने से बाहर उत्पन्न करता है जैसे पीपल का बीज पीपल के वृक्ष को उत्पन्न करता है।[3] पीपल के बीज में वृक्ष को उत्पन्न करने की क्षमता (Potentiality) पहले से ही विद्यमान है जो वृक्ष रूप में अभिव्यक्त होती है। उसी प्रकार सृष्टि से पूर्व जो जगत् शिव में इच्छा रूप में अवस्थित है, बाह्य प्रकट हो जाता है। यहाँ स्पष्ट कर देना उचित् है कि काश्मीर-शैव शास्त्र में ऐसे अनेक कथन अथवा दृष्टान्त मिलते हैं जिनसे ऐसा लगता है कि जगत् शिव में बीजरूप में विद्यमान है जो बाह्य प्रकट होता है। किन्तु काश्मीर शैव दर्शन का यह आशय कत्तई नहीं है। शिव में जगत् का इच्छा रूप में आविर्भाव होता है जो शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है। पीपल के बीज के दृष्टान्त के आधार पर तो जगत् का शिव में से निकलना तार्किक बाध्यता हो जायेगी। ऐसी स्थिति में शिव का स्वातन्त्र्य नहीं रह जायेगा। किन्तु काश्मीर शैव दर्शन का शिव के स्वातन्त्र्य पर विशेष आग्रह है।

१—यथा योगिनां सर्वभावत्त्रमिच्छ यानेकात्मत्वं वा भवतीति इष्टं तथा परमेश्वरस्यापि मन्तव्यम्। —शिवदृष्टि, पृ १११'

२—शिवदृष्टि १०

३—प्रत्यभिज्ञा हृदयम् ४

सृष्टि दशा आत्म-चेतना के विल्कुल भूल जाने की अवस्था है।[१] दिव्य शक्ति सर्वोच्च अहंता के अनुभव को समाप्तप्राय करने के वाद जगत् को अभिव्यक्त करती है। यह आत्म-चेतना (शिव रूप चेतना) के निषेध की अवस्था है। इस अवस्था में असीमित चेतना अपने को अनस्तित्व की प्रतीति में तन्मय कर देती है और सीमित आत्मा के प्राकट्य में मिल जाती है। असीम चेतना को सीमित आत्मा के रूप में प्रस्तुत करती है और विभिन्न प्रकार के कष्टों, आनन्द और प्रेम, घृणा, विभेद आदि का अनुभव करने लगती है।

यह कार्य इच्छा द्वारा ही सम्पादित हो जाता है क्योंकि परमेश्वर की इच्छा-शक्ति उसकी स्वातन्त्र्य शक्ति है जिसमें ज्ञानशक्ति और क्रिया शक्ति सदैव अभेद रूपता मे स्फुरित होती हैं।[२] इस प्रकार आत्मा ज्ञातृकर्तृ रूप है। प्रत्येक क्रिया का कोई कर्ता होता है और प्रत्येक क्रिया कर्ता में होती है। वह कर्ता उस क्रिया का आश्रय होता है। कर्ता ज्ञानरूप है; अतः ज्ञान और क्रिया अभिन्न और एक ही हैं। इसी कारण काश्मीर शंव दर्शन में कहा गया है कि जो ज्ञान है वह क्रियाशून्य नहीं हो सकता और जो क्रिया है वह ज्ञानरहित नहीं हो सकती है।[१] ज्ञान को क्रियारूप मानना ही काश्मीर शैव दर्शन की विशेषता है। वस्तुतः ज्ञान और क्रिया एक ही पारमेश्वरी इच्छा का उत्तरोत्तर विकास है। इसी से शिव से लेकर पृथ्वी तक छत्तीस तत्त्वों में अभेदरूप से स्फुरित आत्मा का इच्छा-प्रसार ही उसका विश्वात्मक रूप है।[२]

शिव और जगत् में स्वरूप अथवा अवस्था भेद है :—शिव और जगत् में तात्त्विक एकता होते हुए भी स्वरूपगत अथवा अवस्था भेद है। जगत् शिव-मय अथवा शिवरूप है किन्तु शिव ही नहीं है। शिव सत्य (Reality) है, किन्तु जगत् को शिव के समान सत्य नहीं माना जा सकता। यदि जगत् भी शिव के समान

१—शिव स्वयं को कभी भूल नहीं जाता, वह भूल जाने का अभिनय अथवा लीला करता है। शिव को अपना ज्ञान रहता है अर्थात् वह जानता रहता है कि यह उसकी लीला है। वह लीला करते हुए भी लीलावस्था से परे भी रहता है। लीलावस्था में ही पदार्पण कर अपने को भूल जाने का अभिनय ही उसका जीव रूप ग्रहण करना है।

२—ई० प्र० वि० भा० १—१।८।११

१—न क्रिया रहितं ज्ञानं न ज्ञान रहिता क्रिया।

—नेत्रतंत्र—उद्द्योत टीका भा० २, पृ० ४२

२—पराप्रावेशिका पृ० ३

ही सत्य है तो जगत् की स्वतन्त्र सत्ता होगी और इस प्रकार अद्वैत भंग हो जायेगा। इसलिये काश्मीर शैव दर्शन में जगत् को शिव का आभास माना जाता है।

जगत् का शिव से तात्त्विक एकता वताने के लिये कहा जाता है कि जगत् शिव का प्रतिविम्ब है। यहीं जगत् और शिव का स्वरूप भेद देखा जा सकता है। प्रतिविम्ब परोक्षरूप से विम्ब ही है, किन्तु प्रतिविम्ब सर्वथा विम्ब ही नहीं है। विम्ब वास्तविकता (reality) है तथा प्रतिविम्ब आभास (Appearance) है। जिस प्रकार प्रतिविम्ब तात्त्विक दृष्टि से विम्ब ही है किन्तु सत्ता की दृष्टि से आभास है, उसी प्रकार जगत् तात्त्विक दृष्टि से शिव ही है किन्तु सत्ता की दृष्टि से शिव का आभास है।

जगत् की अभिव्यक्ति शिव का स्वातन्त्र्य है जिसे पदार्थों की आभास सारता के विचार से आभास संज्ञा दी गयी है। विश्व के समस्त पदार्थों को इसलिये भी आभास रूप कहा जाता है क्योंकि ये परमशिव द्वारा आभासित किये जाते हैं।[१] इस आभासन से परमशिव के स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता क्योंकि परमेश्वर में जो इदम् रूपात्मक आभास्य है उसी का उन्मेष और निमेष होता है।[२] यह उन्मेष और निमेष ही क्रमशः सृष्टि और संहार कहा जाता है।[३] इसलिये सृष्टि, संहार आदि को आभास्यनिष्ठ होने के कारण आभास कहा गया है।

काश्मीर शैव दर्शन में व्यक्तिगत आत्मा (आत्मा) और सार्वभौम आत्मा (शिव) तदनुरूप (Identical) माने गये हैं। आत्मा चेतन है। व्यक्तिगत अभिव्यक्ति जिस तरह व्यक्तिगत चेतना से सम्वन्धित है ठीक उसी तरह सार्वभौम अभिव्यक्ति भी सार्वभौम चेतना से सम्बन्धित है। व्यावहारिक अनुभव में देखा गया है कि हमारे विचार विना किसी वाह्य सहायता के चेतना की भित्ति पर प्रकट होते हैं और फिर उसी में मिल जाते हैं। चेतना की जाग्रत और स्वप्न अवस्था में ये विचार वाहरी उद्दीपन से प्रभावित हो सकते हैं पर इनका नियन्त्रण चेतना द्वारा ही होता है। तुरीय और तुरीयातीत अवस्था में ये विचार शुद्ध और अप्रभावित कहे जाते हैं। ये स्वयमेव उत्पन्न होते हैं और पुनः वहीं मिल जाते हैं, जहाँ से आते हैं जैसे समुद्र में लहर मिल जाती है। इस तरह ये विचार उत्पत्ति से पूर्व और उत्पत्ति के वाद भी चेतना में ही अवस्थित होते हैं।

१—तंत्रालोक टीका, भा० २, पृ० २९—३०

२—स्पन्दसंदोह, पृ० ११.

३—स्पन्दकारिका ११.

इस प्रकार जगत् सार्वभौम चेतना की वैचारिक अथवा विमर्शात्मक सृष्टि है। छत्तीस तत्त्वों में प्रसरित यह विश्व परमशिव के प्रकाशात्मक भित्ति पर अवभासित होता है।[१] यहाँ आभासन का तात्पर्य यह है कि जगत् अपनी आन्तरिक अवस्था से वाह्य अवस्था में आ जाता है। यह आभास कहा जाता है क्योंकि यह आभासित किया जाता है। इसी प्रकार व्यक्ति (पशु) भी तत्त्वतः शिव ही है किन्तु आपाततः शिव से भिन्न है क्योंकि शिव असीम एवं पूर्ण स्वतन्त्र है जबकि व्यक्ति असीम एवं अपूर्ण स्वतन्त्र है।[२]

१—तत्त्वान्त्राणि षट्त्रिंशत अनाश्रित शिव पर्यन्तानि परभैरवानु प्रवेशासादित तथा भाव सिद्धीनि।

—परात्रिंशिका विवरण—अभिनवगुप्त

२—व्यक्ति को अपूर्ण स्वतन्त्र कहने का तात्पर्य है कि व्यक्ति सीमित अथवा बन्धन में होने पर भी कर्म करने के लिए स्वतन्त्र है। इसकी विवेचना आगे की जायेगी।

आभासवाद

काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि को शिव का आभास कहा गया है। परमशिव की ही एक मात्र सत्ता है। सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् शिव का प्रतिबिम्ब (Ideal appearance) है। जगत् की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, वरन् शिव ही जगत् में आभासित है। इस प्रकार सृष्टि की आभासवादी व्याख्या होने के कारण आभासवाद का विवेचन आवश्यक हो जाता है।

आभासवाद के अनुसार जगत् अथवा जागतिक पदार्थों की यथार्थ (जड़वादी) सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती। आभासवादी जागतिक पदार्थों को आभासरूप (Ideal appearances) मानते हैं। वस्तुओं को आभासरूप मानने में आभासवादी जड़वादी सिद्धान्तों का खण्डन करते हैं तथा यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि वस्तुओं की यथार्थ सत्ता नहीं हो सकती। यों तो अनेक दर्शनों में (यथा अद्वैत-वेदान्त, विज्ञानवादी बौद्ध, बर्कले, प्लेटो आदि में) वस्तुओं की आभासवादी सत्ता ही मानी गई है, किन्तु काश्मीर शैव दर्शन की विशेषता यह है कि वस्तुओं का आभासित होना शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है।

सम्पूर्ण विश्व शिव चैतन्य में शक्तिरूप (इच्छा-शक्ति रूप) स्थित है तथा यही प्रक्षिप्त होकर बाह्य जगत् के रूप में प्रकाशित होता है। जगत् का बाह्य रूप में प्रकाशन भी शिव चैतन्य के अन्दर ही होता है। चैतन्य से बाहर अथवा अलग वस्तु की सत्ता नहीं है। चैतन्य में अवस्थित पदार्थ चेतन ही हो सकता है, जड़ नहीं। इसलिये काश्मीर शैव दार्शनिक पदार्थों की जड़वादी सत्ता का निषेध करते हैं तथा पदार्थों की आभासवादी सत्ता का प्रतिपादन करते हैं। अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए काश्मीर शैव दार्शनिक यह दिखाते हैं कि संसार में जिस-जिस वस्तु का ज्ञान हमें होता है, वह कुछ नहीं हमारे अन्तर्ज्ञान का ही बहिराभास है। यह ज्ञान हमारी संवित् में स्थित संस्कार या वासना के ही कारण होता है। जड़ तत्त्व के रूप में आभासित विषय, विषयी चेतन मन के ही अन्दर स्थित रहता है जिसकी सत्ता आभासित होने पर निर्भर है।[1] वस्तु के आभासित होने का तात्पर्य उसका ज्ञान रूप धारण करना है। अतः वस्तु ज्ञान रूप (आभास रूप) ही है न कि जड़ रूप।

१—ईश्वर प्रत्यभिज्ञा (अभिनवकृत) २ अ० ३ आ० पृ० ६२-६५

जड़वादी पक्ष :—वस्तुओं को आभास रूप मानकर आभासवादी वस्तुओं की जड़रूपता का खण्डन करते हैं। अतः आभासवादी तर्कों पर विचार करने से पूर्व वस्तुओं की जड़वादी अवधारणा को समझ लेना आवश्यक है।

जड़वादी वस्तुओं की जड़रूपता के समर्थन में जो तर्क देते हैं उसका सामान्य रूप अथवा सामान्य तात्पर्य यह है कि वस्तु को हम देखते हैं इसलिये वस्तु है तथा वस्तु सत्य है क्योंकि हमें सत्यरूप में ही दिखायी देती है अथवा अनुभूत होती है।

इसी बात को पारिभाषिक शब्दावली में यों कहा गया है कि वस्तु सत्य है क्योंकि वस्तुओं में अर्थक्रियाकारित्व या सम्वादि प्रवृत्ति है। प्यास लगने पर जल से प्यास बुझाई जाती है अथवा जितनी भी वस्तुएं है उनका उपयोग होता है और यह उपयोग हम नित्य प्रति अनुभव करते हैं। इस प्रकार वस्तु में अर्थक्रियाकारित्व होने से वस्तु को झूठा अथवा आभास या प्रत्यय् मात्र नहीं माना जा सकता।

इन तर्कों के आधार पर जड़वादी द्वारा वस्तुओं की जड़रूपता सिद्ध करने का आशय यह है कि वस्तु ज्ञान निरपेक्ष है। वस्तु की सत्ता ज्ञान होने पर आधारित नहीं है, वरन् वस्तु ज्ञाता अथवा ज्ञान से स्वतन्त्र रूप में अस्तित्ववान् है। यथार्थवाद के अनुसार ज्ञान की सम्भावना इस बात पर निर्भर है कि ज्ञेयतत्त्व ज्ञान से या ज्ञात होने से स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है और हम उसे उसके इसी स्वतन्त्र रूप में जानते हैं।[1] इसका तात्पर्य यह है कि जानने की क्रिया ज्ञेय पदार्थ को प्रभावित या विकृत नहीं करती, वह पदार्थ के पहले से निश्चित स्वरूप को प्रकट मात्र कर देती है। ज्ञाता से सम्बन्ध होने से पहले ज्ञेय की जो दशा होती है, ज्ञाता के ज्ञान में प्रविष्ट होने के बाद भी उसकी वही दशा रहती है। ज्ञेय पदार्थ न तो अपने अस्तित्व के लिए और न अपने स्वरूप के लिए ज्ञाता पर निर्भर करता है। यदि संसार से सारे चेतन ज्ञाताओं को निकाल दिया जाय तो भी ज्ञेय-विश्व में कोई परिवर्तन न होगा, यह जैसा है वैसा ही बना रहेगा। ज्ञाता से सम्बद्ध होना ज्ञेय के लिये महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। ज्ञेय किसी भी अर्थ और किसी भी अंश में अपनी सत्ता या स्वरूप के लिए ज्ञाता की अपेक्षा नहीं करता। कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तु की सत्ता चैतन्य के अन्दर नहीं है, वरन् बाहर है। ज्ञान द्वारा वस्तु का चैतन्य से सम्बन्धित होना आकस्मिक (accidental) है न कि आवश्यक (necessary)।

जड़वादी पक्ष का खण्डन :—जड़वाद के समर्थन में दिये गये इन तर्कों के खण्डन में आभासवादी कहते हैं कि ये सारी बातें भ्रम अथवा स्वप्न में भी देखी जाती हैं। भ्रम में भी हम वस्तु को यथार्थ रूप में ही देखते (अथवा समझते)

१—बोसांक्वेट, लाजिक, पार्ट II, पृ० ३०५ पर उद्धृत

हैं तथा रज्जु-सर्प भ्रम में सर्प रूपी रज्जु से उसी प्रकार भयभीत होते हैं जिस प्रकार वास्तविक सर्प से। स्वप्न में भी हम वस्तु को सत्य रूप में ही देखते हैं तथा स्वप्नावस्था की प्यास स्वप्नावस्था के जल से बुझ भी जाती है। किन्तु भ्रम अथवा स्वप्न के वाध हो जाने पर हम जानते हैं कि जिसे हम सत्य समझते थे वह वास्तव में आभास (Idea) मात्र ही था।[1] अतः वस्तु को देखने या उसमें अर्थ-क्रियाकारित्व या सम्वादि प्रवृत्ति होने मात्र से वस्तु को सत्य नहीं माना जा सकता क्योंकि भ्रम या स्वप्न में भी वस्तुओं में अर्थक्रियाकारित्व देखा जाता है।

वस्तु की ज्ञान निरपेक्षता का खण्डन करते हुये आभासवादी कहते हैं कि वस्तु ज्ञान सापेक्ष है। हमारे लिये वस्तु का अस्तित्व वही है, जिस रूप में हम वस्तु को जानते हैं। वस्तु का अस्तित्व उसकी ज्ञेयता से स्वतंत्र भिन्न रूप नहीं है। आभासवादी मानते हैं कि जानने की क्रिया ज्ञेय पदार्थ को प्रभावित कर के अथवा उसे अपने अनुसार ही ग्रहण करती हैं। वस्तु का जो भी ज्ञान होता है वह उसकी ज्ञान रूपता का ही ज्ञान होता है। ज्ञानरूपता से इतर वस्तु का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। भ्रम में वस्तु का जो भी ज्ञान होता है वह ज्ञान की संवेदनाओं के अनुरूप ही होता है। ज्ञान के साँचे में ही ढल कर वस्तु ग्राह्य होती है। रज्जु-सर्प भ्रम में रज्जु सर्प रूप में बदल कर ग्राह्य होती है। यद्यपि भ्रम के वाध हो जाने पर रज्जु-रज्जु रूप में ही ग्रहण होती है किन्तु इस दृष्टान्त द्वारा इस संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वस्तु ज्ञान की क्रिया द्वारा प्रभावित होती है। स्वप्न में मन वस्तु को निर्मित कर लेता है। स्वप्न निर्मित वस्तु को किसी भी तरह जड़ नहीं कहा जा सकता। स्वप्न में वेस्तु का अस्तित्व उसकी ज्ञेयता पर ही निर्भर है। इस दृष्टान्त द्वारा ज्ञेयता को ही वस्तु का अस्तित्व मानने की संभावना को इन्कार नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार यदि भ्रम अथवा स्वप्न में वस्तु की ज्ञेयता को ही उसका अस्तित्व स्वीकार किया जाता है तो यह सम्भव है कि हम संसार में जिस-जिस वस्तु का अनुभव करते हैं वह उस वस्तु की ज्ञेयता ही है। वस्तु की ज्ञेयता का ही अनुभव होने से यह माना जा सकता है कि वस्तु ज्ञान रूप है। ज्ञानरूपता के अतिरिक्त वस्तु की जड़रूपता को स्वीकार नहीं किया जा सकता, जो ज्ञान से स्वतन्त्र हो। इस प्रकार यह भी नहीं माना जा सकता है कि वस्तु को अपनी सत्ता या स्वरूप के लिये ज्ञाता की अपेक्षा न हो।

१—ई० प्र० (अभिनवकृत) २ अ० ३ आ० पृ० ७४-७५

आभासवादी पक्ष :—सामान्य रूप से भी वस्तु हमारे पास उसी रूप में आ सकती है जिस रूप में हम उसे देखते हैं।[1] हमारे अनुभव से इतर वस्तु के अस्तित्व की संभावना भले ही हो किन्तु वस्तु के जिस रूप अथवा सत्ता को हम जानते हैं, वह उसकी ज्ञान रूपता ही है। वस्तु की ज्ञानरूपता और कुछ नहीं हमारे मन (Consciousness) में स्थित प्रत्यय (Ideas) ही हैं जो बाह्य प्रक्षिप्त (project) होकर वस्तु का ज्ञान कराते हैं। इस प्रकार वस्तु आभास रूप (Ideal appearance) ही है। ज्ञेय अर्थात् ज्ञान का विषय होने वाले पदार्थों पर विचार करके इस परिणाम पर स्पष्ट रूप से पहुँचा जा सकता है कि वे पदार्थ हमारे मन के प्रत्यय ही हैं। इन पदार्थों के ज्ञान या तो हमारे इन्द्रिय ज्ञान के प्रत्यय हैं या मानसिक वृत्तियों के ज्ञान के प्रत्यय हैं अथवा स्मृति और कल्पना के प्रत्यय हैं। ये प्रत्यय ही ज्ञान के विषय हैं; इन प्रत्ययों से भिन्न किसी बाह्य जगत् का ज्ञान होता ही नहीं, अतः बाह्य जगत् की कल्पना अनुचित है। जो कुछ है वह प्रत्यय रूप में मन में ही है[2], अतः विश्व मनोमय है।

१—जर्मन दार्शनिक कांट ने बाह्य वस्तु के विषय में कहा है कि जिस जगत् का हमें अनुभव होता है वह हमारी बुद्धि की ज्ञानात्मक संरचना है। अपने यथार्थ या परमार्थ रूप में वस्तुएँ अज्ञेय हैं और वस्तुओं के जिस रूप से व्यावहारिक जगत् में हम परिचित होते हैं वह वस्तुओं का वास्तविक रूप नहीं है; हम उनके जिस रूप को जानते हैं वह उनका वह रूप है जो हमारी बुद्धि के ग्रहण में आता है। पारमार्थिक वस्तुएँ जिन सम्वेदनों को उत्थित करती हैं उन्हें हमारी बुद्धि सम्भवतः देश, काल, कारणता आदि के ढाचों में ढालती है जिसके फलस्वरूप दृश्य जगत् का अविर्भाव होता है। इस प्रकार काण्ट मानो यह मानता है कि जिस विश्व के ज्ञान की बात हम करते हैं वह यथार्थ ज्ञान नहीं है। अपनी यथार्थता में विश्व अज्ञेय है।

२—प्रत्ययवाद के विरुद्ध आपेक्ष में यह कहा जाता है कि प्रत्यय भी वस्तु के आकार का होना चाहिए। किन्तु यदि हाथी का प्रत्यय भी हाथी के आकार का है तो किस प्रकार वह मन में रह सकता है? इसके उत्तर में प्रत्ययवादी कहते हैं कि प्रत्ययों और वस्तुओं में इस प्रकार की समानता नहीं हो सकती। प्रत्यय देश में रहने वाले या जगह घेरने वाले नहीं होते; वस्तुएँ जगह घेरती हैं, वस्तुएँ जड़ हैं, प्रत्यय चेतन। एक प्रत्यय प्रत्यय (Idea) के ही समान हो सकता है; प्रत्यय (Idea) से भिन्न चीज (Matter) के समान नहीं हो सकता। कोई चीज मेज या कुर्सी है का तात्पर्य यही है कि हमें कुछ खास प्रत्ययों (रूप,

आभासवाद के समर्थन में काश्मीर शैव दार्शनिक अपनी ज्ञान मीमांसा में कहते हैं कि ज्ञान के लिए ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्धित होना आवश्यक है। यदि ज्ञाता और ज्ञेय एक दूसरे से परस्पर तम और प्रकाश की भाँति विरोधी हैं तो ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञेय वस्तु जड़ नहीं हो सकती[1] क्योंकि जड़ होने से उसका सम्बन्ध चेतना से स्थापित नहीं हो पायेगा तथा ऐसी स्थिति में उसे ज्ञेय नहीं कहा जा सकता। वाह्य वस्तु के विषय में जो कुछ भी नील, पीत आदि ज्ञान होता है वह मन के अन्दर स्थित[2] प्रत्यय ही हैं, अतः वस्तु की सत्ता चैतन्य में ही है जो बाह्य प्रक्षिप्त होकर वस्तु के रूप में दिखाई देती है। बाह्य वस्तु का प्रकाशन तर्कतः तभी संभव है जब उसे चैतन्य में माना जाय।[3] यदि वस्तु का प्रत्यय चैतन्य में नहीं है तो ज्ञान के समय भी वस्तु प्रकाशित नहीं होगी। ज्ञान सापेक्ष होने के कारण चैतन्य या प्रकाश ही वस्तु का सार है।[4] वाह्य प्रतीत होने वाली वस्तु वास्तव में चैतन्य का प्रतिविम्व है।[5] ज्ञान की क्रिया में हम वस्तु के प्रतिविम्व को ही जानते हैं; वस्तु की यथार्थ सत्ता चैतन्य में ही है।

जड़वादी वस्तु को प्रतिविम्ववत् मानने के विरोध में कहते हैं कि यह मान लिया जाय कि हमें वस्तु के प्रत्यय या प्रतिबिम्ब का ही ज्ञान होता है किन्तु विना विम्व के प्रतिविम्व नहीं हो सकता।[6] यदि वस्तु का जो ज्ञान हमें होता है वह प्रतिविम्व ही है तो भी विम्व रूप में वस्तु की यथार्थ सत्ता को मानना ही होगा। यदि प्रतिबिम्व के लिए विम्बरूप वस्तु की यथार्थ सत्ता स्वीकार की जाती है तो क्यों न वस्तु की यथार्थ सत्ता को चैतन्य में अवस्थित न मानकर उस वस्तु को ही माना जाय जो हमें दिखायी देती है। ऐसी स्थिति में यह मान्य होगा कि वस्तु की यथार्थ सत्ता

रंग आदि) की चेतना होती है। इस प्रकार अस्तित्व प्रतीतिमूलक है। कोई चीज है इसका एक मात्र अर्थ यही है कि वह चीज देखी या अनुभव की जाती है।

१—ईश्वर प्रत्यभिज्ञा (अभिनवकृत) २ अ० ४ आ० १५ का० पृ० १७०

२—ईश्वर प्रत्यभिज्ञा (अभिनवकृत) २ अ० २ आ० २ का० पृ० ३२

३—ई० प्र० वि० वि० आ० ५ श्लोक १

४—इ० प्र० वि० अ० ५, श्लो० २

५—ज्ञेय भावो हि चिद् धर्मस्तच्छायाच्छादयेन्नताम्।

—तंत्रालोक १।१३६-३७

६. ननु बिम्बस्य विरहे प्रतिबिम्बं कथं भवेत्।

किं कुर्मो दृश्यते यदि ननु तद्बिम्बमुच्यताम्॥ तंत्रालोक ३।५२

ज्ञाता अथवा ज्ञान से स्वतन्त्र अपने-आप अस्तित्ववान है तथा ज्ञान की क्रिया उसे प्रकाशित मात्र कर देती है।

इस प्रश्न के उत्तर में आभासवादी यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि विना विम्व के भी प्रतिबिम्व हो सकता है। यद्यपि सामान्य रूप से विम्व द्वारा ही प्रतिविम्ब होता है, किन्तु वस्तु के प्रतिविम्वित होने के लिए विम्व का होना आवश्यक (Necessary) नहीं है। स्वप्न में जो भी वस्तु देखी जाती हैं उनका कोई विम्व नहीं होता वे मात्र प्रतिविम्व (Idea) ही होती हैं। चैतन्य में अवस्थित प्रत्यय ही स्वप्न में प्रतिविम्वित होते हैं। यदि स्वप्न में विना बिम्ब के वस्तु का प्रतिविम्वित होना सम्भव है तो इससे यह संभावना उद्भूत हो ही जाती है कि बाह्य जगत् विना विम्ब के भी प्रतिविम्वित हो सकता है।

जगत् को प्रतिविम्ववत् मानने में एक और प्रश्न उठता है कि प्रतिविम्वित होने के लिए चैतन्य में प्रत्यय कहाँ से आते हैं?[1] क्या ये प्रत्यय किसी सत्य जगत् को देखकर आते हैं अथवा ये प्रत्यय चैतन्य में स्वभावतः हैं? इस प्रश्न के उत्तर में आभासवादी मानते हैं कि प्रत्यय चैतन्य में स्वभावतः हैं। चेतना में से ही निकलकर प्रत्यय वस्तु का स्वरूप निर्माण करते हैं। इस सम्वन्ध में काश्मीर शैव दर्शन की मान्यता अन्य आभासवादिओं (हेगल आदि) से पृथक् है। हेगल आदि के अनुसार तत्त्व में प्रत्यय आवश्यक रूप से हैं तथा इसलिये इनका वस्तु रूप में आभासित होना आवश्यक है, किन्तु काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार तत्त्व में प्रत्यय का होना स्वाभाविक तो है किन्तु आवश्यक नहीं है तथा इसका वस्तु रूप में आभासित होना भी आवश्यक नहीं है, वल्कि चेतना के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है।

सम्पूर्ण जगत् शिव चैतन्य का प्रतिविम्व है। शिव अपने स्वातन्त्र्य से आत्मभित्ति पर ही प्रत्ययों को आभासित करता है।[2] सामान्य दर्पण क्रिया में विम्व की प्रतिविम्ब से अलग सत्ता आवश्यक होती है किन्तु सृष्टि-प्रतिविम्व में दर्पण, विम्व, प्रतिविम्ब

---

१. इस प्रश्न का उत्तर विभिन्न प्रत्ययवादी दार्शनिक विभिन्न प्रकार से देते हैं। प्लेटो वाह्य जगत् से अतिरिक्त एक पारमार्थिक जगत् की सत्ता मानता है। उसके अनुसार पारमार्थिक जगत् जाति प्रत्ययों (universals) का जगत् है जिसकी यह दृश्यमान जगत् छाया या नकल है।

२. अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीहे, यद्वद्विचित्ररचनामकुरान्तराले।
बोधः पुनर्निजविमर्शन सारवृत्त्या, विश्वं परामृशति नो मकुरस्तथा तु ॥
—अभिनवगुप्त (तन्त्रसार ३ आ०)

सब शिव ही है।[1] विना विम्व के भी प्रतिविम्व का प्रत्यय हो सकता है क्योंकि हम देखते हैं कि हमारे मन में विचार स्वभावतः उठते हैं। हम उन्हें प्रक्षिप्त नहीं कर सकते क्योंकि हम सीमित हैं। किन्तु शिव सर्वथा स्वतन्त्र तथा सर्वशक्तिमान् है, वह अपने चैतन्य में उद्भूत प्रत्ययों को प्रक्षिप्त कर वाह्य प्रकाशित कर देता है।

प्रतिविम्व होने में शिव की शक्ति ही निमित्त है।[2] शिव प्रत्ययों का प्रकाशन वस्तुरूप में विना किसी वाह्य कारण अथवा उपादान के वैसे ही कर लेता है जैसे योगी अपनी इच्छाशक्ति से वस्तुओं को वाह्य प्रदर्शित कर देता है।[3] वाह्यजगत् शिव चैतन्य में वैसे ही अवस्थित है जैसे स्वप्न हमारे चैतन्य में अवस्थित रहता है। स्वप्न के प्रत्यय मन में ही उठते हैं और स्वप्नावस्था में वाह्य दीखते प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार आभासवाद के अनुसार वस्तु की सत्ता भी स्वप्नवत् है।[4] जिस प्रकार वस्तु स्वप्न में प्रत्ययरूप (Idea) ही होती है, उसी प्रकार जागतिक वस्तुएँ प्रत्यय रूप (Idea) ही हैं; इनकी यथार्थवादी (जड़वादी) सत्ता नहीं है। चैतन्य में उद्भूत प्रत्यय ही वस्तु रूप ग्रहण करता है। तथा चैतन्य से भिन्न इसकी सत्ता नहीं होती। चैतन्य का प्रत्यय होने से वस्तु ज्ञान रूप ही है, जड़ नहीं। अज्ञानवश वस्तु को जड़रूप मान लिया जाता है।

इस प्रकार आभासवादी वस्तुओं के ज्ञान सापेक्ष होने के कारण वस्तुओं अथवा वस्तुओं से परिपूर्ण जगत् को आभास रूप (Ideal appearance) मानते हैं। यद्यपि पदार्थ की जड़वादी संभावना का विल्कुल निषेध नहीं किया जा सकता क्योंकि वस्तु के विषय में हम उतना ही कह सकते हैं जितना कि हम जानते हैं; हमारी ज्ञानेन्द्रियों की एक सीमा है, इस सीमा से परे वस्तु की स्थिति को हम नहीं जान सकते, किन्तु चूँकि स्वप्न में भी वस्तुएँ ठीक इसी प्रकार (वाह्य-जगत् के समान) प्रतीत होती हैं तथा वे प्रत्यय रूप (Ideas) ही हैं, अतः

---

१. प्रतिविम्व तावद्दर्पणातिरकेण स्वतंत्रया पृथक् सत्ता नोपलभत इत्युपपादितम्।
—तंत्रालोक ३/२६ Comm.

२. अतो निमित्तं देवस्य शक्तयः सन्तु तादृशे।—तंत्रालोक ३/६४-५

३—ई० प्र० वि० ज्ञानाधिकार आ० ५, श्लो० ७

४—अत एवान्तरं किञ्चिद्धीसंज्ञं भवतु स्फुटम्।
यत्रास्यविच्छिदाभानं संकल्प स्वप्नदर्शने॥
—तंत्रालोक ३।६४

आभासवादी संभावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। ज्ञानेन्द्रियों से परे वस्तु की क्या स्थिति है, यह शिवता प्राप्त करने के वाद ही ज्ञात हो सकता है। फिर भी स्वप्न के दृष्टान्त द्वारा आभासवादी अपनी संभावना को प्रतिष्ठित कर लेते हैं। किन्तु जगत् को स्वप्नवत् मानने पर जड़वादी कुछ आक्षेप करते हैं जिनका आभास वाद की ओर से निराकरण होना आवश्यक है।

जड़वादी आक्षेप :—जगत् को स्वप्नवत् मानने पर जड़वादियों का प्रथम आक्षेप यह है कि यदि जगत् स्वप्नवत् है तो इसे स्वप्नद्रष्टा के मन पर निर्भर होना चाहिए तथा सभी स्वप्नद्रष्टाओं को जगत् अलग-अलग दिखाई देना चाहिए। किन्तु हम देखते हैं कि जगत् व्यक्ति के मन पर निर्भर नहीं है, वरन् जगत् अपने आप अस्तित्ववान् है। हम स्पष्टतः देखते हैं कि प्रत्येक को जगत् एक सा ही दिखाई देता है, अलग-अलग नहीं; जवकि स्वप्नद्रष्टा व्यक्ति स्पष्टतः अलग-अलग हैं तथा उनके स्वप्न भी भिन्न-भिन्न होते हैं।

दूसरा आक्षेप यह है कि यदि जगत् स्वप्नवत् है तो इसका वाध होना चाहिये क्योंकि प्रत्येक स्वप्न कभी न कभी अवश्य टूटता है। किन्तु हम जगत् रूपी सपने को कभी टूटते नहीं देखते। यह अनादि काल से चला आ रहा है और इस आधार पर इसके अन्त की कल्पना नहीं की जा सकती।

तीसरा आक्षेप यह है कि यदि जगत् स्वप्न है तो इस स्वप्न के लिये प्रत्यय भी किसी सत्य जगत् को देखकर ही वनना चाहिए क्योंकि हम देखते हैं कि स्वप्न में हम इस जगत् में देखी वस्तुओं को ही आभासरूप में देखते हैं। आभासवादी किसी सत्य जगत् का अस्तित्व नहीं मानते, इसलिये जगत् को स्वप्नवत् नहीं माना जा सकता।

आभासवादी उत्तर :—काश्मीर शैव दार्शनिक जड़वाद के इन आक्षेपों का उत्तर अपनी मान्यताओं के अनुसार देते हैं। उनके अनुसार यह जगत् शिव का स्वप्न अथवा विमर्श (Ideation) है। सामान्य स्वप्न स्वप्नद्रष्टा के मन पर निर्भर नहीं होता। स्वप्न के निर्माण में सामान्य स्वप्नद्रष्टा स्वतन्त्र नहीं होता। किन्तु जगत्-स्वप्न शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है। इस स्वप्न का निर्माण शिव करता है तथा इसकी समाप्ति भी शिव ही करता है। सामान्य स्वप्नद्रष्टा स्वप्न को सत्य ही मानता है तथा ज्ञान होने के वाद ही उसे स्वप्न के आभास मात्र (Ideas) होने का वोध होता है, किन्तु शिव स्वप्नावस्था (अर्थात् सृष्टि की अवस्था) में भी यह जानता रहता है कि यह स्वप्न ही है।

सभी स्वप्न द्रष्टाओं को जगत् अलग-अलग दिखाई नहीं देता क्योंकि जगत-स्वप्न व्यक्तिगत चैतन्य का स्वप्न नहीं है, वरन् शिवचैतन्य का स्वप्न है। सभी स्वप्न-द्रष्टा (आत्मा) तथा उनके स्वप्न (जगत्) शिव चैतन्य के भीतर ही हैं। इस प्रकार सभी स्वप्नद्रष्टाओं के शिव के ही भीतर होने के कारण शिव द्वारा निर्मित स्वप्न सभी को समान ही दिखाई देता है।

सामान्य स्वप्न का टूटना देखा जाता है, किन्तु जगत्-स्वप्न का टूटना नहीं देखा जाता। इस आक्षेप के उत्तर में काश्मीर शैव दार्शनिक कहेंगे कि जगत्-स्वप्न का टूटना या निर्मित होना शिव के स्वातन्त्र पर निर्भर है। शिव इसके निर्माण में स्वतन्त्र है तथा इसे समाप्त करने में भी स्वतन्त्र्य है। उसने इसे अपनी इच्छा से निर्मित किया है तथा अपनी इच्छानुसार इसे समाप्त भी कर सकता है। काश्मीर शैव दार्शनिक इस प्रकार जगत्-स्वप्न का टूटना (प्रलय) मानते हैं किन्तु यह सर्वथा शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है।

जड़वादी आक्षेप करते हैं कि इस जगत् के लिये प्रत्यय किसी सत्य जगत् को देख कर आना चाहिए क्योंकि स्वप्न में भी जगत् में देखी गयी वस्तुयें ही परिलक्षित होती हैं। इसके उत्तर में काश्मीर शैव दार्शनिक कहेंगे कि शिव अपने स्वप्न के लिये प्रत्यय किसी अन्य जगत् से नहीं लेता क्योंकि शिव के अतिरिक्त अन्य जगत् का अस्तित्व ही नहीं है। शिव ही सभी प्रत्ययों का मूल स्रोत ह। शिव सर्वथा स्वतन्त्र तथा सर्वशक्तिमान है। वह अपनी इच्छानुसार किसी भी प्रत्यय का निर्माण कर सकता है। इस प्रकार जगत् को आभासरूप मानने के लिये किसी अन्य सत्य जगत् को मानने की आवश्यकता नहीं है। शिव अपने स्वातन्त्र्य से इस जगत् को आभासित करता है।

जिस प्रकार हम स्वतन्त्रतापूर्वक अपने कल्पनालोक का निर्माण कर लेते हैं तथा अपनी कल्पना में अनदेखी वस्तुओं को भी साकार कर लेते हैं, उसी प्रकार शिव द्वारा जगत्-स्वप्न का निर्माण करने में यह आवश्यक नहीं है कि इसके लिये प्रत्यय किसी सत्य अथवा अनुभूत जगत् से ही आते हों। विना अनुभूति के प्रत्ययों की कल्पना की संभावना को एक दृष्टान्त के आधार पर माना जा सकता है। हम अपनी कल्पना में स्वर्णपर्वत का निर्माण कर लेते हैं जबकि यथार्थ में स्वर्ण-पर्वत का अभाव है। इस दृष्टान्त पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि हमें स्वर्ण और पर्वत का अलग-अलग प्रत्यय होता है जिसे कल्पना में हम मिलाकर स्वर्णपर्वत बना लेते हैं। अतः स्वर्णपर्वत की कल्पना को विना अनुभूति के प्रत्ययों द्वारा निर्मित नहीं माना जा सकता। किन्तु इसके उत्तर में आभासवादी कहेंगे कि यद्यपि स्वर्ण और

पर्वत का अलग-अलग प्रत्यय हमें प्राप्त है फिर भी दोनों प्रत्ययों को मिलाकर जो हम एक नया प्रत्यय बना लेते हैं, इससे यह संभावना तो हो ही जाती है कि कल्पना में हम नये प्रत्ययों का अर्थात् विना अनुभूत प्रत्ययों का निर्माण कर सकते हैं। यदि हम दो प्रत्ययों को मिलाकर नया प्रत्यय वना सकते हैं तो हम सर्वथा नया प्रत्यय भी बना सकते हैं। ससीम होकर भी हम नवीन प्रत्यय का निर्माण कर सकते हैं तो सर्वशक्तिमान शिव के लिये सर्वथा नवीन प्रत्यय का निर्माण कर लेना स्वाभाविक ही है।

स्वातन्त्र्यवाद

काश्मीर शैव दर्शन में शिव परम स्वतन्त्र सत्ता है तथा सृष्टि शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है। सृष्टि करने के लिए शिव वाध्य नहीं हैं। शिव पर सृष्टि करने के लिए न तो वाह्य वाध्यता आरोपित की जा सकती है और न आन्तरिक वाध्यता ही शिव में हो सकती है। आन्तरिक वाध्यता इसलिये नहीं है क्योंकि शिव पूर्ण है; उसमें कोई कमी नहीं है,[1] जिसकी पूर्ति के लिये वह सृष्टि करे। इसलिये काश्मीर शैव दर्शन में यह माना गया है कि शिव अपने आनन्द के लिये सृष्टि करता है जो शिव का स्पन्द है। सृष्टि करने के लिये शिव पर कोई वाह्य बाध्यता भी नहीं हो सकती क्योंकि शिव का कोई विरोधी तत्त्व नहीं है जो शिव को सृष्टि करने के लिये वाध्य अथवा प्रेरित करे। इस प्रकार वाह्य अथवा आन्तरिक वाध्यता के नितान्त अभाव होने से यही कहा जा सकता है कि शिव यदि सृष्टि न करना चाहे तो सृष्टि नहीं होगी। काश्मीर शैव दर्शन में शिव के स्वातन्त्र्य पर विशेष आग्रह किया गया है। इसलिये काश्मीर शैव दर्शन को स्वातन्त्र्यवाद भी कहा जाता है।

सृष्टि-प्रक्रिया शिव का स्वरूप लक्षण नहीं है :— किन्तु काश्मीर शैव शास्त्र में ऐसे कथन मिलते हैं जिनके कारण स्वातन्त्र्यवाद के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ हैं। इन भ्रान्तियों के कारण सृष्टि-प्रक्रिया को शिव का स्वरूप लक्षण मान लिया जाता है जिससे यह ध्वनित होता है कि सृष्टि करना शिव के लिये आवश्यक है।[2] सृष्टि करने में शिव का स्वातन्त्र्य निहित नहीं है बल्कि सृष्टि शिव द्वारा होती ही रहती है। जबकि वास्तविकता यह है कि सृष्टि-प्रक्रिया शिव का स्वरूप लक्षण नहीं है बल्कि अद्वैत-वेदान्त की शब्दावली में कहें तो तटस्थ लक्षण है। शिव सृष्टि स्वेच्छा से करता है तथा इसे न करने में पूर्णतया स्वतन्त्र है।

सृष्टि-प्रक्रिया को शिव का स्वरूप लक्षण मानने के कुछ आधार हैं जिनका निराकरण आवश्यक है। काश्मीर शैव शास्त्र में शिव को पंचकृत्यकारी[3] कहा गया

१—स एव परानपेक्षः पूर्णत्वदानन्द रूपो।—शि० दृ० वृ० पृ० ६

१—यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थः विश्वमेतच्चराचरम्। — क्षेमराज (परा प्रा०)

२—एष देवोऽनया देव्या नित्यं क्रीडारसोत्सुकः।
विचित्रान्सृष्टि संहारान् विधत्ते युगपद् विभुः॥ — बोधपंचदशिका, श्लोक ६

है तथा पंचकृत्यों की व्याख्या में यह कहा गया है कि पंचकृत्य शिव द्वारा स्वभावतः होते हैं। इसके आधार पर यह माना जाता है कि शिव स्वभावतः पंचकृत्यकारी है जो सदैव पंचकृत्य करता रहता है। इस कथन से यही ध्वनित होता है कि सृष्टि शिव का स्वाभाविक कृत्य है जो सदैव होता रहता है[1] तथा इसके होने या न होने में शिव का स्वातन्त्र्य निहित नहीं है, बल्कि यह शिव के स्वरूप में ही अनुस्यूत है जिसका संपादित होना आवश्यक है (क्योंकि यह कहा ही गया है कि वह सदैव पंचकृत्य करता रहता है)।

किन्तु पंचकृत्यों को स्वाभाविक कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि पंचकृत्य स्वरूप में ही अनुस्यूत हैं, वरन् यह है कि पंचकृत्यों को संपादित करने में शिव को आयास (effort) नहीं करना पड़ता; ये कृत्य शिव द्वारा अनायास (effortlessly) संपादित होते हैं। पंचकृत्यों को स्वाभाविक कहने में काश्मीर शैव दार्शनिकों का उद्देश्य है पंचकृत्यों को कर्म से अलग करना। सृष्टि शिव की क्रिया है न कि कर्म। यह क्रिया शिव का स्पन्द हैं, जिसमें शिव का स्वातन्त्र्य निहित है। काश्मीर शैव दार्शनिक शिव के स्वरूप में केवल अहंविमर्शात्मक क्रिया का अनुस्यूत होना मानते हैं, जिससे शिव में आत्म-चेतना रहती है। पंचकृत्य अहं विमर्शात्मक क्रिया नहीं है बल्कि अहमिदम् विर्शात्मक क्रिया है जो शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है।

पंचकृत्यों को स्वभाव इसलिये भी कहा गया है क्योंकि सृष्टि करने में शिव का कोई उद्देश्य नहीं है। जैसे खेलना बच्चे का स्वभाव कहा जा सकता है यद्यपि खेलना उसका स्वरूप लक्षण नहीं है, किन्तु खेलना किसी उद्देश्य से नहीं है इसलिये स्वभाव कहा जाता है; वैसे ही शिव की सृष्टि शिव का स्वभाव है। अद्वैत-वेदान्त में जहाँ स्पष्ट रूप से सृष्टि को ब्रह्म का तटस्थ लक्षण कहा गया है, वहाँ भी गौड़पादाचार्य ने उपर्युक्त अर्थ में ही भगवान का स्वभाव कहा है।[2]

सृष्टि-प्रक्रिया को शिव का स्वरूप लक्षण मानने का आधार एक यह भी है कि सृष्टि को शक्तिरूप अथवा शक्ति का विकास[3] माना जाता है तथा शक्ति शिव

१—अतएव प्रतिक्षणं प्रमातृसंयोजनादियोजनावैचिश्येण।
परमेश्वरो विश्वं सृष्टि संहारादिना प्रपंचयति॥
—ई० प्र० वि० भा० १, पृ० १९५

२—देवस्यैप स्वभावोयमाप्तकामस्य का स्पृहा। —माण्डूक्य कारिका १।९

३—शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः।
—तंत्रालोक भा० ३, आ० ५।४०

रूप ही है अथवा शिव के स्वरूप में ही अनुस्यूत है जहाँ शिव और शक्ति का भेद नहीं किया जा सकता।[1] ऐसी स्थिति में सृष्टि को शिव का स्वरूप लक्षण मान लेना स्वाभाविक[2] है। किन्तु काश्मीर शैव दार्शनिकों का सृष्टि को शक्ति का विकास मानने से यह तात्पर्य नहीं है कि सृष्टि शिव के स्वरूप में ही निहित है। काश्मीर शैव दार्शनिक शक्ति के दो स्तर करते हैं। वे चित् शक्ति और आनन्द शक्ति को शिव की स्वरूप शक्ति मानते हैं, किन्तु इच्छा, ज्ञान और क्रिया को शिव की स्वरूप शक्ति नहीं मानते। इन शक्तियों को केवल शिव की शक्ति कहा गया है। सृष्टि आदि पंचकृत्यों का सम्बन्ध इच्छा, ज्ञान, क्रिया के उन्मेष और निमेष से है न कि चित् और आनन्द से। चित् और आनन्द अहंविमर्शात्मक क्रिया है जो शिव में नित्य है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया अहंमिदम् विमर्शात्मक क्रिया है जो शिव में नित्य नहीं है। यह शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है। इस प्रकार सृष्टि को शक्ति का विकास मानने का तात्पर्य यहीं है कि सृष्टि शिव की इच्छा शक्ति का विकास है जो क्रमशः ज्ञान और क्रिया शक्तियों के रूप में विकसित होकर प्रकाशित होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि को शिव का जो स्वभाव कहा गया है और जिसके आधार पर सृष्टि को शिव का स्वभाव मान लेना स्वाभाविक है, उसका यह अर्थ नहीं है कि सृष्टि शिव के स्वरूप में ही है या शिव के लिये सृष्टि करना आवश्यक है अथवा वह नित्य सृष्टि करते रहने के लिये बाध्य है। सृष्टि को शिव का स्वाभाविक कार्य कहने का अर्थ इतना ही है कि सृष्टि करने के लिए शिव में कोई कारण अथवा उद्देश्य (motive) नहीं है; वरन् उसका स्वतंत्र स्पन्द है। यदि शिव नित्य सृष्टि लीला करता भी हो तब भी यह आवश्यक नही कि सृष्टि को शिव की आवश्यक प्रक्रिया (necessary-process) माना जाय। मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि शिव सृष्टि को हमेशा करता रहता है या नहीं वरन् प्रश्न यह है कि सृष्टि करने के लिए शिव बाध्य है या नहीं अथवा दूसरे शब्दों में, सृष्टि-क्रिया भी चिदानन्द की ही भाँति शिव का स्वरूप ही है या नहीं। काश्मीर शैव शास्त्र के समग्र सिद्धान्त को देखते हुये यही मानना उचित होगा कि शिव सृष्टि-विषयक कार्य में पूर्ण स्वतंत्र है, सृष्टि करने के लिए

१—तस्मादनेक भावाभिः शक्तिभिस्तदभेदतः।
एक एव स्थितः शक्तः शिव एव तथा तथा।

—शि० दृ० आ० ४।५

२—यदा स्वहृदयवर्तिनमुक्त रूपर्थं तत्त्वं वहिः कर्त्तुमुन्मुखो भवति तदा शक्तिरिति व्यवह्रियते।"

—महेश्वरानन्द, महार्थमंजरी

वह वाध्य नहीं है और न सृष्टि-प्रक्रिया उसी प्रकार स्वरूप में है जिस प्रकार चिदानन्द है।

सृष्टि को स्वातन्त्र्य मानने का शास्त्रीय आधार :—काश्मीर शैव शास्त्र के दार्शनिकों ने स्पष्ट रूप से स्वरूप लक्षण एवं तटस्थ लक्षण के भेद का विवेचन नहीं किया है, इसी कारण सृष्टि-प्रक्रिया के विषय में भिन्न व्याख्याएँ (Interpretation) संभव है। यहाँ जो यह पक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है कि सृष्टि-प्रक्रिया शिव का स्वरूप लक्षण नहीं है वरन् स्वातन्त्र्य है, इसे मानने के लिये काश्मीर शैव शास्त्र में कुछ ठोस आधार हैं जो निम्नलिखित हैं।

शिव को काश्मीर शैव शास्त्र में स्पष्ट रूप से वार-वार अनुत्तर कहा गया है।[१] यदि सृष्टि को शिव के स्वरूप में ही निहित मान लिया जाय तो शिव को अनुत्तर कहने में तार्किक कठिनाई उपस्थित होगी। शिव विश्वमय ही रह जायेगा, विश्वोत्तीर्ण नहीं हो पायेगा क्योंकि शिव में विश्व के नित्य उपस्थित रहने से शिव इससे परे नहीं कहा जा सकता। यदि शिव केवल विश्वमय ही है तो इसका मूल्य जागतिक पदार्थों से अधिक नहीं होगा। किन्तु शिव को विश्वोत्तीर्ण मानना आवश्यक है तथा आगमों एवं काश्मीर शैव शास्त्र में शिव को अनुत्तर कहा गया है, अतः सृष्टि को शिव का स्वातन्त्र्य ही माना जाना चाहिए। सृष्टि को शिव का स्वातन्त्र्य मानने से शिव को अनुत्तर कहने में कोई तार्किक कठिनाई भी उपस्थित नहीं होती।

काश्मीर शैव शास्त्र में शिव को पूर्ण स्वतन्त्र[२] सत्ता कहा गया है तथा इस कथन को वार-वार एवं पूरे आग्रह के साथ कहा गया है[३] साथ ही सृष्टि कार्य को शिव का स्वातन्त्र्य माना गया है। यह भी कहा गया है कि शिव का स्वातन्त्र्य कभी भंग नहीं होता।[४] किन्तु यदि सृष्टि को शिव के स्वरूप में ही निहित मान लिया जाय तो काश्मीर शैव शास्त्र के इन कथनों का कोई मूल्य नहीं रह जायेगा। अतः यही मान्य होना चाहिए कि सृष्टि प्रलय शिव के स्वातन्त्र्य पर ही निर्भर है और स्वातन्त्र्य में यह अर्थ निहित है कि शिव सृष्टि न करना चाहें तो सृष्टि नहीं होगी। सृष्टि करना न करना पूरी तरह से शिव की स्वतन्त्रेच्छा पर निर्भर है।

१—न सन्न चासत्सदन्न च तन्नोभयोज्झितम्।
दुर्विज्ञेया हि सावस्था किमप्येतदनुत्तरम्॥

—तंत्रालोक २।२८

२—ई० प्र० वि० भा० १० पृ० १४

३—तस्य स्वतन्त्रभावो हि किं किं यन्न विचिन्तयेत्। —तंत्रालोक १।१३६

४—नहि तस्य स्वतंत्रस्य कापि कुत्रापि खण्डना। —तंत्रालोक २।४७

किन्तु यदि सृष्टि-कार्य को शिव का स्वरूप लक्षण माना जाय तो सृष्टि-विषयक स्वातन्त्र्य का कोई अर्थ नहीं रह जायेगा।

शक्ति का स्तर भेद भी सृष्टि को स्वातन्त्र्य मानने का शास्त्रीय आधार है। चित् आनन्द को स्वरूप शक्ति कहा गया है किन्तु इच्छा, ज्ञान और क्रिया को स्वरूप शक्ति नहीं कहा गया है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया को केवल शक्ति कहा गया है। सृष्टि को इच्छा-शक्ति का ही विकास कहा गया है। न कि चित् या आनन्द शक्ति का।

इसका भी यही अर्थ हुआ कि चिदानन्द शिव के नित्य स्वरूप में है और इच्छा, ज्ञान, क्रिया उसकी स्वातन्त्र्य-क्रिया है। चिदानन्द के स्तर पर जो शक्ति या क्रिया होती है वह केवल अहंविमर्शरूप (Self-Consciousness, 'I am') है, यह उसका स्वरूप लक्षण होने से शिव में नित्य ही रहेगा; दूसरे शब्दो में, शिव सृष्टि करे अथवा न करे अहंविमर्श उसमें नित्य रहेगा। अहंविमर्श स्वरूप वाली क्रिया या शक्ति शिव की स्वरूप शक्ति है, यही क्रिया शिव की नित्य क्रिया है जिससे शिव के विरहित होने का कोई प्रश्न नहीं, होता किन्तु इच्छा, ज्ञान, क्रिया वाली शक्ति का स्वरूप अहंमिदमविमर्श (I am this) रूप है जो तभी होता है जबकि शिव सृष्टि करता है। इसी का प्रतीक शिव का नटराज रूप है। शिव जब सृष्टि-प्रक्रिया से रहित होकर केवल अपने स्वरूप में स्थित रहता है (जिसका प्रतीक शाम्भवी मुद्रा है) तो उस समय अहंमिदमविमर्श नहीं रहता, वरन् केवल अहं-विमर्श रहता है। अतः यह स्पष्ट है कि शक्ति अथवा विमर्श के दो स्तर मानना परमावश्यक है। शक्ति के इस स्तर-भेद को न मानने से भ्रांति (Confusion) हो सकती है।

स्वातन्त्र्य के भेद :—सामान्यतया स्वातन्त्र्य के दो भेद किये जाते हैं। एक सत्ता-स्वातन्त्र्य (freedom-from) तथा दूसरा क्रिया-स्वातन्त्र्य (freedom to)। काश्मीर शैव दर्शन में शिव में दोनों प्रकार के स्वातन्त्र्य का होना माना गया है। अद्वैत-वेदान्त ब्रह्म में केवल सत्ता-स्वातन्त्र्य (freedom-from) मानता है; क्रिया-स्वातन्त्र्य (freedom-to) नहीं मानता। यह संभवतः इसलिये नहीं माना गया है कि क्रिया-स्वातन्त्र्य (freedom-to) मानने से ब्रह्म में अपूर्णता आ सकती है। किन्तु काश्मीर शैव दर्शन में शिव में सत्ता-स्वातन्त्र्य (freedom-from) और क्रिया-स्वातन्त्र्य (freedom-to) दोनों ही माना गया है क्योंकि काश्मीर शैव शास्त्र के अनुसार दोनों में वस्तुतः कोई विरोध नहीं है। क्रिया-स्वातन्त्र्य (freedom-to) का सम्बन्ध कर्म से नहीं है बल्कि क्रिया से है जो

अपूर्णता का द्योतक नहीं है। क्रिया-स्वातन्त्र्य (freedom-to) का अर्थ यदि कर्म-स्वातन्त्र्य से लिया जाय तब उसका सत्ता-स्वातन्त्र्य (freedom-from) से विरोध हो सकता है; जैसाकि संभवतः अद्वैत-वेदान्त मानता है। किन्तु काश्मीर शैव दर्शन में क्रिया-स्वातन्त्र्य (freedom-to) का अर्थ कर्म स्वातन्त्र्य से नहीं अपितु क्रिया-स्वातन्त्र्य से है, अतः इसका सत्ता-स्वातन्त्र्य (freedom-from) से कोई विरोध नहीं है। क्रिया-स्वातन्त्र्य (freedom-to) ही तो स्वातन्त्र्य का असली अर्थ है। यदि शिव में सृष्ट्यादि कर्म करने का स्वातन्त्र्य नहीं है तो शिव के सन्दर्भ में स्वातन्त्र्य शब्द का प्रयोग करना औपचारिकता मात्र ही होगी।

स्पन्द-सिद्धान्त :—काश्मीर शैव दर्शन में शिव का यह क्रिया स्वातन्त्र्य काश्मीर शैव शास्त्र का स्पन्द-सिद्धान्त है। सामान्यतः समस्त मानवीय क्रियाओं को हम दो वर्गों में बाँट सकते है[१]। एक वह जो ऐच्छिक (voluntary or volitional) होता है, उसमें कर्ता को प्रयास या आयास (effort) करना पड़ता है। इसी को कर्म कहा जाता है। दूसरा वह है जिसमें कर्ता को प्रयास नहीं करना पड़ता वरन् अपने आप होता है। इसमें कर्ता को आयास नहीं करना पड़ता, वरन् यह अनायास (effortless or automatic) होता है। इस अनायास क्रिया को पुनः दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। एक वह जो अनायास होते हैं, किन्तु यान्त्रिक (mechanical) होते हैं जैसे स्वसन् क्रिया या सहज क्रिया (reflect action) आदि। दूसरे वह जो अनायास होते हैं किन्तु यान्त्रिक नहीं होते, वरन् उसमें कर्ता का स्वातन्त्र्य बना रहता है। जैसे आनन्द में उत्थित क्रिया। काश्मीर शैव दर्शन में इसी को शिव का क्रिया स्वातन्त्र्य (freedom-to) कहा गया है जिसका पारिभाषिक नाम स्पन्द (spontaneity or spontaneous activity) है।

इस स्पन्द की तीन-चार विशेषतायें हैं जो शिव के क्रिया-स्वातन्त्र्य (freedom-to) को एक ओर कर्म से तथा दूसरी ओर यान्त्रिक क्रिया से भिन्न करते हैं। स्पन्द में इच्छा शक्ति (will) को आयास (exert) नहीं करना पड़ता, वरन् यह अनायास स्वाभाविक रूप से होता है। दूसरे उसमें कर्ता को वाध्यता नहीं होती, कर्ता उसे चाहे तो नहीं होने दे सकता है; इसीलिये स्पन्द को स्वातन्त्र्य कहा जाता है। तीसरे कर्ता को क्रिया का ज्ञान रहता है, यान्त्रिक क्रिया जैसा अज्ञान नहीं रहता। चौथे स्पन्द में आनन्द की अनुभूति होती है; वस्तुतः

१—श्री भगवतः स्वातंन्त्र्यं शक्तिः किंचिच्चलत्तात्मकधात्वर्थानुगमात्स्पन्द इत्यभिहिता।

—स्पन्द निर्णय, पृ० ३

स्पन्द आनन्द का ही स्वाभाविक उच्छलन (overflowing or emanation) है।

स्पन्द को आनन्द का सहज उच्छलन माना जाता है तथा सृष्टि को भी आनन्द का सहज उच्छलन ही कहते हैं।[1] यहाँ यह भ्रान्ति हो सकती है कि सृष्टि शिव के स्वरूप में ही है क्योंकि शिव का स्वरूप ही आनन्द है तथा आनन्द का सहज उच्छलन ही सृष्टि है। किन्तु सृष्टि शिव के स्वरूप में नहीं है क्योंकि आनन्द के इस उच्छलन में शिव का स्वातन्त्र्य निहित है। सृष्टि को आनन्द का सहज उच्छलन कहने का तात्पर्य यह है कि शिव अपने आनन्द के लिये ही सृष्टि करता है; उसमें शिव का कोई प्रयोजन निहित नहीं है। आनन्द का यह उच्छलन शिव के स्वरूपानन्द से ही होता है किन्तु उसमें शिव का स्वातन्त्र्य है।

शिव की इच्छा ही सृष्टि रूप में प्रकाशित होती है।[2] काश्मीर शैव शास्त्र के इस कथन से सामान्यतया यही अर्थ लगाया जाता है कि सृष्टि अव्यक्त रूप में शिव में नित्य विद्यमान रहती है।[3] किन्तु शिव में सृष्टि का नित्य होना (पूर्वस्थिति) नहीं माना जा सकता क्योंकि तब सृष्टि का प्रकाशन होना आवश्यक होगा तथा ऐसी स्थिति में शिव का स्वातन्त्र्य नहीं होगा। अत: शिव की इच्छा के ही सृष्टि रूप धारण करने का तात्पर्य यह नहीं है कि सृष्टि अव्यक्त रूप से शिव में नित्य रहती है, बल्कि इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि सृष्टि किसी बाह्य उपादान से निर्मित नहीं है; यह शिवेच्छा से ही निर्मित है।

शिव की सिसृक्षा शिव के स्वरूप में ही उद्भूत होती है किन्तु शिव के स्वरूप में आवश्यक रूप से अनुस्यूत नहीं है। शिव की सिसृक्षा भी स्पन्द रूप है।[4] इसका उत्थित होना शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है।

यहाँ यह समझ लेना भी आवश्यक है कि शिव में जो सृष्टि-विषयक इच्छा है, वह यद्यपि अंग्रेजी भाषा में प्रयुक्त होने वाले ऐच्छिक कर्म (voluntary-action) जैसा प्रतीत होती है किन्तु यह अंग्रेजी वाला ऐच्छिक कर्म नहीं है क्योंकि

१—स्फारयस्यखिलमात्मना स्फुरन्, विश्वमामृशतिरूपमामृशन् यत्स्वयंनिजरसेन घूर्णसे तत्समुल्लसतिभावमण्डलम।—शिव स्तो० १३-१५

२—यदेतदाभासनं यासाविच्छा, सा क्रिया, अस्य भगवती निर्मातृत्वम्
—भास्करी, भा० २, ४२ लो० १

३—परामर्शो हि चिकीर्षारूपेच्छा, तस्यां च सर्वमन्तर्भूतं निर्मातव्यमभेद कल्पे नास्ते।
—ई० प्र० वि० भा० २, पृ० १८१

४—स्पन्द निर्णय पृ० ३

शिव को आयास (exert) नहीं करना पड़ता, वरन् इच्छा स्वाभाविक रूप से अनायास शिव में उत्थित होती है। अतः यह शिव की स्पन्दात्मक इच्छा या संकल्प (spontaneous willing) है न कि ऐच्छिक कर्म (voluntary action) है। स्पंदात्मक इच्छा (spontaneous willing) कहने में विरोधाभास (paradox) दीख सकता है किन्तु इसमें कोई वास्तविक विरोध नहीं है। शिव में सृष्टि की इच्छा उठती है, इसलिये इसे इच्छा या संकल्प नाम दिया जाता है। किन्तु चूँकि यह संकल्प स्वाभाविक रूप से अनायास उठता है; इसलिये इसको स्पन्द कहा जाता है। तार्किक दृष्टि से ऐसा मानना संगत है कि मन में संकल्प अपने आप स्पन्द रूप में उठता है। अतः 'स्पन्दात्मक संकल्प' (spontaneous willing) कहने में कोई विरोध नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि को शिव का स्वभाव कहने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। एक दृष्टि से तो सृष्टि-प्रक्रिया को शिव का स्वरूप भी कहा जा सकता है क्योंकि जो कुछ हो रहा है वह स्वरूप में ही तो हो रहा है, स्वरूप के बाहर कुछ भी नहीं है। हाँ, स्वरूप शक्ति और शक्ति का स्तर-भेद करने की आवश्यकता तब पड़ती है जब हम इस प्रश्न को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि सृष्टि शिव का-आवश्यक कार्य (necessary action) है या नहीं। यहाँ यह स्पष्ट करने की आवश्यकता पड़ती है कि सृष्टि शिव का आवश्यक कार्य नहीं है और इस अर्थ में सृष्टि उसका स्वरूप नहीं है।

अशुभ की समस्या (Problem of evil)

यह निर्विवाद है कि सृष्टि में अशुभ की उपस्थिति है। यह अशुभ प्रधानतया दो प्रकार का है—एक दुःख (Suffering) और दूसरा नैतिक अशुभ अथवा पाप (Sin)। यह दीखता ही है कि संसार में प्राणी नाना प्रकार के दुखों से पीड़ित है।[1] साथ ही यह भी दीखता है कि मनुष्य अपनी ओर से दूसरे प्राणियों को दुःख देता है अथवा दूसरे शब्दों में पाप करता है।

अब यह प्रश्न उठता है कि सृष्टि में यह अशुभ कैसे और क्यों है ? अशुभ की समुचित व्याख्या (Explanation) क्या है ? प्रकृतिवादी या स्वभाववादी (Naturalist) इस विषय में यह कह दे सकता है कि दुःख-सुख, पाप-पुण्य दोनों ही प्राकृतिक स्वभाववश ही होते हैं। दोनों का बीज प्रकृति में ही है। अतः अशुभ क्यों है, इसकी अलग से व्याख्या खोजने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु जो दर्शन ईश्वरवादी हैं उनमें यह समस्या बहुत गम्भीर रूप में सामने आती है। ईश्वर को सर्वज्ञ माना जाता है, अतः वह सृष्टि में अशुभ की उपस्थित को अच्छी तरह जानता है। साथ ही ऐसा भी नहीं है कि ईश्वर असमर्थ हो, वह सर्वशक्तिमान् है, सृष्टि से अशुभ को हटाना चाहे तो हटा सकता है। साथ ही ऐसा भी नहीं है कि ईश्वर सर्वज्ञ और शक्तिमान् है किन्तु वह दुष्ट (Sattenic) है जो अशुभ को सृष्टि में रहने देना चाहता है। ईश्वर को शिव रूप (Good) माना गया है। अतः यह प्रश्न गम्भीर रूप में सामने आता है कि ऐसे ईश्वर के होते हुए सृष्टि में अशुभ क्यों है ? काश्मीर शैव दर्शन की दृष्टि से तो यह समस्या और भी गम्भीर हो जायेगी क्योंकि काश्मीर शैव शास्त्र ईश्वरवादी होने के साथ-साथ लीलावादी भी है। यदि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और शुभ (शिव) रूप ईश्वर ने लीला के लिये आनन्द से सृष्टि की है तो सृष्टि में अशुभ कहाँ से आया ?

काश्मीर शैव शास्त्र में अशुभ की समस्या (Problem of evil) पर कहीं स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा गया है। अशुभ-समस्या की व्याख्या काश्मीर शैव शास्त्र के दार्शनिक संरचना के आधार पर ही की जा सकती है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि काश्मीर शैव शास्त्र के दार्शनिकों के मन में इस समस्या की

१—भगवान बुद्ध ने दुःख की समस्या को बहुत ठीक से पकड़ा था, उन्होंने अपने चार आर्य सत्यों में दुःख को पहला आर्य सत्य कहा है।

व्याख्या स्पष्ट नहीं थी; सत्य यह है कि काश्मीर शैव दर्शन की दृष्टि से अशुभ की पूर्ण व्याख्या संभव है और दार्शनिकों के मन में यह स्पष्ट था और साथ ही उन्होंने जगह-जगह इसका सकेत भी किया है। किन्तु कमी यह है कि कहीं भी इस विषय पर अलग से स्पष्ट विवेचन नहीं किया गया है। अतः यहाँ जो अशुभ की समस्या की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है वह काश्मीर शैव शास्त्र की सामान्य दार्शनिक संरचना पर ही आधारित है, यदि इसके लिए स्पष्ट उद्धरण खोजे जायँ तो उसका अभाव रहेगा।

काश्मीर शैव शास्त्र में अशुभ का स्पष्ट विवेचन न होने के कारण अशुभ की समस्या को लेकर अनेक भ्रान्तियाँ हैं। इसकी व्याख्या में कुछ लोग प्रायः यही कहते हैं कि पाप-पुण्य जैसी कोई चीज नहीं है क्योंकि जिसे हम पाप-पुण्य से अभिहित करते हैं, वह भी शिव की लीला है। काश्मीर शैव दर्शन स्पष्टतः जगत् को शिव का लीला-विलास मानता ही है, ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि यदि पाप-पुण्य, सुख-दुःख नहीं है तो वन्धन और मोक्ष की कल्पना भी व्यर्थ है तथा मोक्ष के लिए वताये गये उपाय आदि की कोई उपयोगिता नहीं है। यदि पाप भी शिव की लीला है तो व्यक्ति पुण्य की ओर अभिमुख न हो कर पाप ही करेंगे क्योंकि ऐसी स्थिति में उन्हें कोई नैतिक बाध्यता (Moral obligation) नहीं होगी।

किन्तु उपर्युक्त अवधारणायें भ्रान्तिमूलक हैं। संसार में जो दुःख है उसका कारण मनुष्य का ही किया गया पाप कर्म है जिसे कर्म-सिद्धान्त माना गया है, जो काश्मीर शैव दर्शन को भी पूरी तरह ग्राह्य है। दूसरे शब्दों में, हम दुःख इसलिये पाते हैं कि हमने पाप किया है। यहाँ यह भी समझ लेना आवश्यक है कि कर्मनियम के साथ पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी आवश्यक रूप से लगा है और यह भी काश्मीर शैव शास्त्र को पूरी तरह मान्य है। हम जो इस जन्म में दुःख पाते हैं वह आवश्यक नहीं है कि इसी जन्म के किये गये हमारे कर्मों का फल हो, वरन् वह पिछले जन्मों के भी किये गये कर्मों[1] का फल हो सकता है।

कर्म-सिद्धान्त के विषय में यह भी उल्लेखनीय है कि कर्म-सिद्धान्त यान्त्रिक (mechanical) नहीं है वल्कि उद्देश्यमूलक (purposive) है। कर्म का

१—यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि काश्मीर शैव शास्त्र में कर्म और क्रिया में मौलिक विभेद है। कर्म ऐच्छिक कार्य है, वह बन्धन का कारण होता है; कर्म का फल भोगने के लिये हम बाध्य हैं, किन्तु क्रिया में इस तरह की बाध्यता नहीं है क्योंकि क्रिया वन्धन का कारण नहीं है। क्रिया स्वरूप से उत्थित स्वाभाविक स्पंद रूप है, उसका कर्म सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नहीं है।

फल उसी तरह यान्त्रिक रूप से नहीं मिलता है जिस प्रकार अग्नि में हाथ डालने से हाथ जलता है; वरन् कर्म का फल एक उद्देश्य की पूर्ति के लिये मिलता है, वह है जीव का सुधार या आत्म-शुद्धि। भगवान ने मनुष्य को सही रास्ते पर लाने के लिए ही कर्म-सिद्धान्त की व्यवस्था की है। इसी से यह बात भी निकलती है कि यदि कर्म-सिद्धान्त का उद्देश्य पूरा हो जाय अर्थात् हम पश्चात्ताप कर के अपने को सुधार लें और भले बन जाँय तो हमारे पुराने कर्म माफ भी हो जा सकते हैं। इसमें कर्म-सिद्धान्त का उलंघन नहीं है क्योंकि जब हमारा सुधार हो जाता है तो कर्म-सिद्धान्त का उद्देश्य पूरा हो जाता है और तब दण्ड देने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

काश्मीर शैव दर्शन की ओर से जो अशुभ की समस्या का समाधान दिया जाता है वह वही है जो प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में दिया गया है, वह है कर्मवाद का सिद्धान्त। काश्मीर शैव शास्त्र भी कर्म-सिद्धान्त को पूर्णतया मानता है। यदि इस विषय में इस दर्शन की कोई अपनी विशेषता कही जा सकती है तो वह है मनुष्य के इच्छा स्वातन्त्र्य (freedom of will) पर विशेष आग्रह। जो लोग कर्म-सिद्धान्त मानते हैं वे लोग इच्छा-स्वातन्त्र्य भी मानते हैं क्योंकि बिना इच्छा-स्वातन्त्र्य माने कर्म की जिम्मेदारी जीव पर नहीं होगी। काश्मीर शैव शास्त्र इस इच्छा-स्वातन्त्र्य पर विशेष रूप से बल देता है। वह जीव को अणु शिव (mini-Shiva) मानता है और यह मानता है कि शिव अपने पूर्ण स्वातन्त्र्य में वृहद् रूप से जो करता है वह अणु शिव या जीव भी छोटे दायरे में करता ही है।[1] जीव में भी शिव की तरह इच्छा-स्वातन्त्र्य है, अन्तर इतना ही है कि शिव का इच्छा-स्वातन्त्र्य असीम है जबकि जीव का इच्छा-स्वातन्त्र्य सीमित दायरे में है। सीमित दायरे में ही सही किन्तु इच्छा-स्वातन्त्र्य जीव में तो है ही और इसलिए वह भला या बुरा कर्म करने के लिये स्वतन्त्र है एवं अपने कर्म की जिम्मेदारी भी उसी पर है।।

कुछ लोग यह मानते हैं और शास्त्र में भी ऐसा कह दिया गया है कि शिव ही जीव से कर्म कराता है; जीव अज्ञानवश अपने को कर्ता समझता है, वास्तविक कर्ता भगवान है। यदि इस कथन को सीधे अर्थ में लिया जाय तो कठिनाई उपस्थित होगी। यदि ईश्वर ही व्यक्ति से कर्म कराता है तो पाप के लिये जिम्मेदार भी ईश्वर ही होगा। ऐसी स्थिति में जीव के लिऐ अशुभ की कोई समस्या ही उत्पन्न नहीं होती क्योंकि तब पाप को भी ईश्वर का ही कर्म कहेंगे। कर्म सिद्धान्त का भी तब

1—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

कोई अर्थ नहीं रह जाता; यह उपचार मात्र ही रह जायेगा। कर्म-सिद्धान्त का मूल्य तभी रह सकता है जब यह माना जाय कि कर्म के लिए जिम्मेदार ईश्वर नहीं बल्कि जीव है।

किन्तु परमेश्वर ही व्यक्ति से कर्म कराता है अथवा परमेश्वर ही कर्म करता है का अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति कर्म करने के लिए स्वतन्त्र नहीं है। इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति जिस शक्ति से कर्म करता है वह परमेश्वर की ही शक्ति है अथवा परमेश्वर प्रदत्त ही है; अहंकारवश हम उस शक्ति को अपनी शक्ति समझ लेते हैं। जीव तत्त्वतः शिव ही है, इसलिए कहा जाता है कि परमेश्वर ही कर्म करता है। किन्तु परमेश्वर कर्म नहीं करता। यदि कर्म परमेश्वर द्वारा संपादित मान लिया जाय तो शिव में अपूर्णता आ जायेगी। शिव कर्म नहीं करता बल्कि क्रिया करता है जो स्पंद है। कर्म, जिस पर पाप-पुण्य निर्भर है, शिव का स्पन्द नहीं है। कर्म जीव करता है जो तत्त्वतः शिव है किन्तु अवस्था में शिव नहीं है। कर्म को शिव से सम्बन्धित नहीं माना जा सकता (क्योंकि कर्म अपूर्णता के द्योतक हैं) अतः यही मान्य होना चाहिए कि कर्म जीव करता है तथा अपने इच्छा-स्वातन्त्र्य से करता है। जीव शिव की ही क्रियाशक्ति (जो उसे सीमित रूप में प्राप्त है) से कर्म करता है किन्तु जब वह अपने इच्छा-स्वातन्त्र्य का गलत प्रयोग (mis use) करता है तो वह पापोन्मुख होता है।

यह जो कहा गया है कि शिव ही जीव से कर्म कराता है अथवा वास्तविक कर्ता शिव ही है, इसके दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि सारी कर्म शक्ति शिव की है, जीव की या अहंकार की नहीं। जब शक्ति शिव की ही है तो वास्तविक कर्ता शिव को ही कहा जायेगा, किन्तु कर्म की जिम्मेदारी शिव पर नहीं होगी क्योंकि उस शक्ति को गलत या सही उपयोग करने की जिम्मेदारी जीव पर है। उदाहरण के लिए कोई पुत्र जो भी खर्च करता है वह सारा पैसा पिता देता है, अतः यह कहा जा सकता है कि वास्तविक खर्च तो पिता ही कर रहा है किन्तु पिता केवल पैसा देता है, उस पैसे को कैसे खर्च करना है इसकी जिम्मेदारी पुत्र पर है। उसी प्रकार जीव जो कर्म करता है उसकी सारी शक्ति परमात्मा से आती है। अतः इस अर्थ में परमात्मा ही वास्तविक कर्ता हुआ, किन्तु उस शक्ति का सदुपयोग (पुण्य) या दुरुपयोग (पाप) करना जीव पर निर्भर है। इस लिये पाप-पुण्य भगवान नहीं कराता, वह स्वयं जीव करता है।

भगवान् जीव से कर्म कराता है, इसका अर्थ अगर यह समझा जाय कि वह जीव को कर्म करने के लिये प्रेरणा देता है तो इस अर्थ को सीमित क्षेत्र में ही

लागू करना उचित होगा। पाप कराने के अर्थ में इस कथन को लागू नहीं करेंगे क्योंकि शिव कभी भी पाप करने की प्रेरणा नहीं देता; पाप स्वयं जीव अपनी मर्जी से करता है। भगवान कर्म करने की प्रेरणा देता है, इसको दो अर्थों में लागू किया जा सकता है। एक तो यह कि जहाँ जीव के पूर्व कर्म के फल भोग के लिये परिस्थिति पैदा करना हो वहाँ ईश्वर कर्म के लिये प्रेरणा दे सकता है।[1] दूसरे जहाँ ईश्वर को विश्व कल्याण के लिये कार्य करना हो वहाँ भी वह जीव को निमित्त बना कर कर्म करा देता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'शिव कर्म कराता है' इसका प्रधान अर्थ यही है कि कर्म शक्ति शिव की है जीव की नहीं। शिव कर्म कराता है इसका सीधा अर्थ केवल दो परिस्थितियों में लागू करेंगे जहाँ या तो जीव को कर्म फल प्रदान करने के लिए परिस्थिति उत्पन्न करना हो अथवा जहाँ जीव को निमित्त बना कर विश्व कल्याण कराना हो।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पाप ईश्वर नहीं कराता वरन् जीव ईश्वर प्रदत्त शक्तियों का अपनी स्वेच्छा से दुरुपयोग करता है, यही पाप है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि ईश्वर जब जानता है कि जीव अपनी स्वतन्त्र इच्छा से शक्ति का दुरुपयोग कर रहा है तो जीव में स्वतन्त्र इच्छा क्यों रहने देता है? उदाहरण के लिए किसी बच्चे के हाथ में हथियार दे दिया जाय और यह संभावना हो कि वह उसका दुरुपयोग कर सकता है तो ऐसी अवस्था में यह उचित होगा कि या तो बच्चे के हाथ में हथियार ही न दिया जाय अथवा उस हथियार का उपयोग करने की स्वतन्त्र इच्छा बच्चे में न रहने दिया जाय। इसका उत्तर यह है कि शिव ने जीव को जो अपनी शक्ति दी है वह इसलिये नहीं कि जीव उसका दुरुपयोग करे, बल्कि इसलिये कि उसका सदुपयोग कर सृष्टि कार्य में उसका सहयोग करे। शिव यह कभी नहीं चाहता कि जीव उसकी शक्तियों का दुरुपयोग करे अर्थात् पाप करे, लेकिन वह यह भी नहीं चाहता कि जीव जबर्दस्ती उसकी मर्जी के अनुसार चले। शिव यदि चाहे तो जीव की

१—इसी अर्थ में दुर्गा सप्तशती में कहा गया है कि भगवती ज्ञानियों के भी चित्त को जबर्दस्ती प्रभावित कर उन्हें मोहित कर देती है।

महामाया हरेश्चैषा तया संमोह्यते जगत्।
ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा॥
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।
तया विसृज्यते विश्वं जगदेतच्चराचरम्॥

—प्रथमोध्याय: ५५।५६ (पृ० ५६)

स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति न रहे और जीव को पूर्णतः ईश्वर की इच्छा के अनुसार चलना पड़े, किन्तु ऐसी अवस्था में जीव स्वतन्त्र नहीं रहेगा, वह यन्त्र मानव (Robot) से अधिक कुछ नहीं होगा। फिर सृष्टि शुद्ध यान्त्रिक हो जायेगी। फिर सृष्टि लीला अथवा आनन्द रूप नहीं रह जायेगी। शिव यह चाहता तो है कि जीव उसके रास्ते पर चले किन्तु वह यह चाहता है कि जीव अपनी स्वतन्त्र-इच्छा से ऐसा करे। यदि जीव अपनी स्वतन्त्र इच्छा से न चल कर जवर्दस्ती शिवेच्छा के अनुसार चले तो इसमें न तो जीव का ही वास्तविक कल्याण है और न ही शिव के लिये आनन्द है। जीव का वास्तविक कल्याण इसी में है कि वह अपनी स्वतन्त्रेच्छा से भलाई का मार्ग चुने अर्थात् शिवेच्छा को स्वीकार करे। इसी में शिव की भी लीला या आनन्द है।

उपर्युक्त कारण से ही शिव जीव की स्वतन्त्र-इच्छा में दखल नहीं देता। हाँ, वह नाना प्रकार के उपाय-शास्त्र, गुरु, अन्तः प्रेरणा आदि-द्वारा यह प्रयत्न करता है कि जीव भलाई की ओर स्वतन्त्रतापूर्वक आये। जीव यदि ऐसा न करके बुराई का मार्ग अपनाता है तो वह उसे दण्ड भी देता है। यह सब इसीलिए करता है कि जीव यह समझ सके कि सत्य मार्ग पर चलने में ही कल्याण है और उस पर चलने के लिये स्वतन्त्रतापूर्वक राजी हो।[1]

अशुभ की समस्या के सम्बन्ध में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न विचारणीय है वह यह कि भारतीय दर्शनों में प्रायः सब जगह कहा गया है (काश्मीर शैव शास्त्र भी कहता है) कि दुःख का वास्तविक कारण अज्ञान है। अज्ञान ही के कारण मनुष्य गल्ती भी करता है, साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि मनुष्य जिस अनादि अज्ञान से आवृत होकर पाप करता है और दुख पाता है, वह स्वयं जीव की रचना नहीं है, वह या तो जीव पर अपने आप है अथवा उसे परमात्मा ने दिया है। बात यहाँ आई कि बुराई अज्ञान के कारण होती है और अज्ञान के लिये स्वयं जीव जिम्मेदार नहीं होता। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि जब जीव अज्ञान के लिये जिम्मेदार नहीं है तो उसे पाप के लिये जिम्मेदार कैसे ठहराया जा सकता है। यदि अज्ञान

१—उपर्युक्त बात शैव-सिद्धान्त तथा ईसाई धर्म की मान्यता से बिलकुल मिलती है। वहाँ भी यह मान्यता है कि भगवान् जीव की स्वतन्त्र इच्छा में दखल न देते हुए नाना प्रकार के उपाय करता है और प्रतीक्षा करता है कि भटका हुआ जीव अपने रास्ते पर आ जाय। ईसाई धर्म में दुष्ट व्यक्ति के सत्य मार्ग पर लौट आने (Return of the prodigal son) का बहुत ही महत्त्व है।

शिव ने दिया है तो पाप की जिम्मेदारी भी शिव पर होगी। जीव को तो हम उसी चीज के लिये जिम्मेदार ठहरा सकते हैं जिसका कारण स्वयं जीव हो।

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि यह तो सत्य है कि विना अज्ञान के कोई पाप नहीं करेगा किन्तु यह भी सत्य है कि अज्ञान पाप का आवश्यक कारण (necessary-cause) होते हुए भी वह पाप का पर्याप्त कारण (sufficient cause) नहीं है। उदाहरण के लिये आग धूयें का आवश्यक कारण है, विना आग के धूँआ उत्पन्न हो नहीं सकता किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि आग स्वयं अपने आप में धूँआ पैदा नहीं कर सकती। धूँआ पैदा होने के लिये आग में लकड़ी का गीलापन आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, आग धूँयें के लिये आवश्यक कारण होते हुए भी पर्याप्त कारण नहीं है; पर्याप्त कारण तब होगा जब लकड़ी का गीलापन मिल जायेगा। अतः धूँये का कारण आग को नहीं कहा जा सकता वल्कि लकड़ी के गीलेपन को ही कहा जायेगा। इसी प्रकार मात्र अज्ञान पाप का कारण नहीं कहा जा सकता, यदि मात्र अज्ञान ही पाप का कारण होता तो सभी अज्ञानी व्यक्ति पाप क्यों नहीं करते ? ऐसा क्यों होता कि अज्ञानी व्यक्तियों में कुछ लोग पाप करते हैं तथा कुछ लोग पुण्य करते हैं। इस विभेद का वास्तविक कारण यही है कि पाप-पुण्य अज्ञान के कारण नहीं वल्कि कर्ता की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के कारण होता है। कर्ता ही यह निर्णय करता है कि हम उचित पथ पर चलें अथवा अनुचित। अतः पाप-पुण्य की जिम्मेदारी कर्ता पर ही है अज्ञान पर नहीं।

शिव ने जो अज्ञान दिया है वह तो लीला अथवा आनन्द के लिये है। हम अपने अनुभव में भी देख सकते हैं कि अज्ञान के साथ यदि स्वतन्त्रेच्छा का दुरुपयोग न मिलाया जाय तो केवल अज्ञान से कोई कष्ट नहीं होता। इसका सबसे बड़ा उदाहरण बच्चा है। बच्चा में शुद्ध अज्ञान है। स्वतन्त्रेच्छाकृत पाप उसमें अभी नहीं मिला है। इसलिये बच्चा प्रसन्न रहता है। बच्चा अज्ञान में होते हुए भी पापरहित (Innocent) होता है। यदि भगवान् ने अज्ञान लीला के लिये बनाया और उसमें गड़बड़ी हम अपनी स्वतन्त्र मर्जी से करते हैं तो इसमें भगवान् का क्या दोष है ? दृष्टान्त के लिये विज्ञान में विजली का आविष्कार है जिससे संसार के महत्त्व-पूर्ण एवं आवश्यक कार्य संचालित होते हैं, किन्तु मानवीय प्रमादवश कहीं विजली खतरे का कारण बनती है तो इसमें विजली अथवा विजली बनाने वाले का क्या दोष है ?

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि अशुभ की समस्या का सन्तोष-जनक समाधान है। अशुभ की समस्या देखने में अवश्य ही दुरूह मालूम पड़ती है और

यह निर्णय दे देना स्वाभाविक है कि अशुभ की समस्या का कोई समाधान नहीं है अथवा अशुभ के लिये शिव ही जिम्मेदार है। किन्तु यह उतावलेपन में किया गया निर्णय (hasty judgement) ही कहा जा सकता है। अशुभ को समस्या पर यदि गम्भीरता एवं सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो हम शीघ्रता में यह निर्णय नहीं दे देंगे कि अशुभ की समस्या का कोई समाधान नहीं है अथवा इसके लिये शिव ही जिम्मेदार है। उपर्युक्त विश्लेषण में यह जो दिखाया गया है कि अशुभ जीव की स्वतन्त्र इच्छा से आता है, परमात्मा उसके लिये जिम्मेदार नहीं है—इस अवधारणा की संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता।

वाक् सृष्टि

जैसा हम पहले देख चुके हैं कि तन्त्र शास्त्र में शक्ति को वाक् रूप माना गया है। अतः सम्पूर्ण सृष्टि-प्रक्रिया को वाक् शक्ति का प्रस्फुरण माना गया है।[1] शक्ति को वाक् मानने का समुचित कारण है। चैतन्य में जो क्रिया अथवा शक्ति है, स्वाभाविक है कि वह विमर्श रूप अथवा चिन्तन रूप (Thinking) ही होगी।[2] शारीरिक अथवा जड़ क्रिया तो होगी नहीं। साथ ही तन्त्र शास्त्र का यह सिद्धान्त है कि विमर्श या चिन्तन (Thinking) भाषा अथवा वाणी में ही होगा। इसीलिये विमर्श शक्ति को वाक् शक्ति कहा जाता है और चूँकि वाणी या भाषा प्रथमतः ध्वनि रूप (phonetical) है इसलिये उसे नाद या नाद शक्ति भी कहा जाता है।

वाक् या शब्द शक्ति से जगत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त वैयाकरणों ने विशेष रूप से प्रतिपादित किया है। भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय में शब्द को ही ब्रह्म मान कर शब्द ब्रह्म से ही सृष्टि रचना मानी। भर्तृहरि का स्पष्ट प्रभाव काश्मीर शैव दार्शनिकों पर दीखता है—अभिनवगुप्त तो स्थान-स्थान पर भर्तृहरि को इंगित करते हैं। वैसे सोमानन्द ने अपनी शिवदृष्टि मे वैयाकरणों का खण्डन किया है। सोमानन्द ने संभवतः यह मान लिया है कि वैयाकरणों की शब्द-सृष्टि चिति शक्ति से विरहित है, अतः सोमानन्द का मन्तव्य है कि शब्द शक्ति को विना चित् शक्ति से जोड़े सृष्टि संभव नहीं है। इसी कारण सोमानन्द ने वैयाकरणों को व्यंग्य में सीधा या साधु (Simpleton) कहा

१—परात्रिंशिका विवरण, पृ० ४

२—विमर्श (Thinking) शब्द का प्रयोग करने से यह नहीं समझना चाहिए कि यह बौद्धिक चिन्तन है। यद्यपि यह सत्य है कि हमारी भाषा परमतत्त्व को प्रकटित करने में सक्षम नहीं है किन्तु हमारे पास इसके अलावा कोई उपाय भी नहीं है कि लोकोत्तर वस्तु को लौकिक भाषा में कहा जाय। अतः जो शब्दावली प्रकृत अर्थ को बताने में अधिक से अधिक निकट (Aproximate) होती है, उसी का प्रयोग किया जाता है। इसी कारण परमतत्त्व में जो विमर्श या चिन्तन (Thinking) है, वह यद्यपि बौद्धिक चिन्तन नहीं है तथापि समीपस्थ (Aproximate) होने के कारण विमर्श (चिन्तन) शब्द का प्रयोग किया जाता है।

है (वैयाकरण साधूनां..........)। किन्तु यहाँ उल्लेखनीय है कि सोमानन्द के द्वारा किया गया खण्डन उतना ठीक नहीं है क्योंकि वैयाकरणों के विषय में सोमानन्द की अवधारणा एकपक्षीय है। वस्तुतः वैयाकरणों की शब्दशक्ति चिति शक्ति ही है। चूँकि वैयाकरणों ने व्याकरण की ही दृष्टि से विचार किया है इसलिये उनका आग्रह शब्द शक्ति पर ही होना स्वाभाविक है। उन लोगों ने स्पष्ट शब्दों में शब्द शक्ति को चिति शक्ति नहीं कहा है और इसीलिये सोमानन्द को उनके खण्डन का अवसर मिल गया। किन्तु वास्तविक बात यह है कि वैयाकरणों की शब्द शक्ति की व्याख्या ऐसी है जिससे अपने आप स्पष्ट हो जाता है कि यह चिति शक्ति ही है।

वाक् शक्ति के स्तर :—अभिनवगुप्त ने तंत्रालोक[1] में तथा परात्रिंशिका विवरण[2] में वाक् शक्ति का उल्लेख किया है। वाक् शक्ति की सृष्टि क्रम से चार भूमिकायें (levels)—परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी हैं। इन शब्द-शक्तियों को ठीक से समझने के लिये यह आवश्यक है कि इन्हें चिति शक्ति के विभेदों तथा सृष्टि-क्रम के विभिन्न तत्त्वों के समकक्ष रखकर समझा जाय। इसे निम्नलिखित चार्ट की सहायता से समझा जा सकता है।

शब्द शक्ति (वाक्शक्ति)	चित्शक्ति	तत्त्व	ज्ञान
१—परा	१—{ १—चित्, २—आनन्द }	१—{ १—शिव, २—शक्ति }	१—अहम् (pure unity)
२—पश्यन्ती	२—इच्छा	२—सदाशिव	२—अहमिदम् (unity in-difference)
३—मध्यमा	३—ज्ञान	३—ईश्वर	३—इदमहम् (unity in-difference)
४—वैखरी	४—क्रिया	४—सद्विद्या	४—अहञ्चइदञ्च (unity in difference)

परा :—जो परा वाक् भूमि है, वह जैसा कि नाम से स्पष्ट है, सृष्टि से परे (Transcendent) है। वस्तुतः शिव-शक्ति रूप[3] है जो शक्ति की दृष्टि से चिद् एवं आनन्द का स्तर है। यहाँ जगत् नहीं है। दूसरे शब्दों में, यहाँ केवल

१—तन्त्रालोक ३।६६ से आगे तक.

२—परात्रिंशिका विवरण पृ० ३ से १५ तक.

३— चिन्मात्रमेव देवी च
सा परा परमेश्वरी ॥

—तंत्रालोक, ६।१८०

शिव-शक्ति तत्त्व है जिसमें जगत् रचना की इच्छा भी नहीं है। इसे अहम् (subject or unity) एवं इदम् (object or difference) की भाषा में कहेंगे कि यह केवल अहम् अथवा शुद्ध अहम्[1] की स्थिति है। यहाँ इदम् (जगत्) नहीं आया है। यह पूर्णाहम् या पूर्णाहन्ता की स्थिति है।[2]

सृष्टि के लिये सृष्टि से परे परा वाक् भूमि की अवधारणा इसलिये आवश्यक है कि जिस तत्त्व से सृष्टि का विकास हुआ है, वह यदि स्वयं सृष्टि रूप ही हो तो वह सृष्टि का आधार किस प्रकार होगा, इसलिये उसे सृष्टि से परे (Transcendent) होना चाहिए। साथ ही उसे ऐसा परे नहीं होना चाहिए जो सृष्टि से असम्बद्ध ही हो बल्कि वह ऐसा होना चाहिए कि जो सृष्टि रूप (Immanent) भी हो सके। शिव तत्त्व ऐसा ही है। शिव तत्त्व अपने आप में पूर्ण एवं निरपेक्ष है; उसमें सृष्टि की अपेक्षा नहीं है। किन्तु उसकी यह भी खूबी है कि वह अपने स्वातन्त्र्य से जगत् रूप भी बन जाता है। दूसरे शब्दों में, तत्त्व की जो परम अवस्था है (जिसे परमशिव, पराशक्ति, परम चैतन्य अथवा परावाक् कहा जाता है) वह स्वयं में सृष्टि से परे है, किन्तु उसके स्वातन्त्र्य से सारी सृष्टि उसी में से निकलती है।

परा अवस्था (Transcendence) से जगत् की उत्पत्ति कैसे होती है? क्या जगत् परा वाक् में बीज रूप (potentially) से अन्तर्निहित (Contained) है अथवा जगत् वहाँ पहले से बीज रूप में अन्तर्निहित नहीं है, वरन् परा शक्ति के शुद्ध स्वातन्त्र्य से उद्भूत होता है? रामानुज, हेगेल आदि के अनुसार यह होगा कि परम-तत्त्व में जगत् या भेद बीज रूप से पूर्व निहित है और वही प्रकटित या व्यक्त (actualised) होता है। किन्तु काश्मीर शैव शास्त्र में ऐसा नहीं माना जाता कि

१—यह पहले ही दिखाया जा चुका है कि शुद्ध अभेद (Pure unity) की स्थिति में भी अहम् विमर्श हो सकता है। अहम् विमर्श के विषय में अद्वैत-वेदान्त का न्याय (Logic) यह है कि जब तक भेद का अर्थात् इदम् का ज्ञान नहीं होगा तब तक अहम् का भी विमर्श नहीं होगा; और इसीलिये अद्वैत-वेदान्ती परब्रह्म में जो शुद्ध अभेद की अवस्था है, अहम्-विमर्श (Self-Consciousness) नहीं मानते, किन्तु जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, काश्मीर शैव दर्शन में अहम् विमर्श का न्याय द्वैत-ज्ञान नहीं है; वरन् क्रिया या स्पन्द है। भेद या इदम् के नितान्त अभाव में भी परमशिव में नित्य स्पन्द रूप में अहम् विमर्श रहता है।

२—"निराशंसात्पूर्णादहमिति पुराभासयति यद ......"।

— इ० प्र० वि०, १ (मंगलाचरण)

जगत् पहले से शिव में निहित है, वरन् यह माना जाता है कि शिव में जगत् बिल्कुल नहीं है, जगत् की रचना शुद्ध स्वातन्त्र्य से होती है। वैसे काश्मीर शैव दर्शन में दृष्टान्त के लिये ऐसी भाषा का भी प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ हेगेल की तरह लगाया जा सकता है, किन्तु ऐसा करना गलत होगा। उदाहरण के लिये यह दृष्टान्त दिया गया है कि जैसे मयूर के अण्डे में कोई विभेद नहीं दीखता, फिर भी उसी से भिन्न रंग-रूप निकलते हैं, अथवा जैसे बीज में वृक्ष न दिखायी पड़ने पर[1] भी सारा वृक्ष उसी से निकलता है, उसी प्रकार शिव में जगत् न दिखने पर भी सारा जगत् उसी में से निकलता है। इन दृष्टान्तों का कोई यह भी अर्थ लगा सकता है कि जैसे अण्डे में अथवा बीज में मयूर अथवा वृक्ष बीज रूप से (potentially) सन्निहित रहता है और वही बीजरूपता (potentiality) बाद में व्यक्त (actualised) होती है। उसी प्रकार शिव में जगत् बीज रूप से अन्तर्निहित है और सृष्टि-क्रम में वही अभिव्यक्त होती है। किन्तु ऐसा अर्थ लगाने से गलती यह हो जायेगी कि शिव में स्वातन्त्र्य का अभाव अथवा विवशता (determinism) मानना पड़ेगा। बीज में विवशता (determinism) है। एक तो बीज में जैसी संरचना निहित है वैसा ही वृक्ष बनेगा, दूसरे तरह का नहीं हो सकता। दूसरे, बीज को उगने के लिये समुचित परिस्थिति मिल जाय तो बीज जमने से इन्कार नहीं करता, उसे जमना ही पड़ेगा और वृक्ष बनना ही पड़ेगा। किन्तु शिव में किसी प्रकार की विवशता (determinism) नहीं है, शिव में पूर्ण स्वातन्त्र्य है। साथ ही शिव पूर्ण रूप से अनुत्तर[2] या पर है जहाँ जगत् नहीं है।[3] ये दोनों बातें काश्मीर शैव दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों में से हैं। अतः उपर्युक्त दृष्टान्तों को दार्ष्टान्त पर सम्पूर्ण अर्थ में लागू करना ठीक नहीं है। यही मानना उचित होगा कि मयूराण्ड एवं बीज आदि दृष्टान्तों का प्रयोग केवल इतना ही दिखाने के लिये किया गया है कि जैसे मयूराण्ड अथवा बीज में मयूर अथवा वृक्ष न रहते हुए भी चला आता है, उसी प्रकार शिव से जगत् चला आता है। इन दृष्टान्तों का प्रयोग यह दिखाने के लिये नहीं किया गया है कि जगत् बीज रूप से शिव में नहीं है।

१—बीज वाला दृष्टान्त उपनिषद् में भी पाया जाता है।

२—अभिनवगुप्त ने परात्रिंशिका विवरण में शिव की अनुत्तरता (पर रूपता) पर विस्तृत आग्रह किया है।

—प० त्रि० वि० १ श्लो० की टीका।

३—इस विषय का विवेचन पहले ही स्वातन्त्र्यवाद के प्रसंग में किया जा चुका है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वाक् की परा अवस्था अपने आप में पूर्णतया स्वतन्त्र तथा निरपेक्ष है। इसमें जगत् (इदम्) का सर्वथा अभाव है; यहाँ केवल अहम् है। दूसरे शब्दों में, परा वाक् भूमि शिव-शक्ति तत्त्व की परम अवस्था है[1] जो जगत् से निरपेक्ष है। पंचशक्तियों की दृष्टि से यह चिद् आनन्द का स्तर है जिसे स्वरूप शक्ति कहा जाता है। उपनिषद् के सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म से इसकी तुलना की जा सकती है।

पश्यन्ती :—जब परावाक् भूमि में अपने स्वातन्त्र्य से लीला के लिये जगत् रचना करने की इच्छा उठती है (अथवा यों कहा जाय कि जगत् रूप बनने की इच्छा होती है) तो परा वाक् भूमि में ही उत्पन्न इस नवीन वाक् भूमि को पश्यन्ती दशा कहते हैं। पश्यन्ती दशा में जगत् या इदम् केवल इच्छा रूप में रहता है। छत्तीस तत्त्वों की दृष्टि से शुद्ध अध्वा का तत्त्व 'सदाशिव' पश्यन्ती दशा का वाचक है। पंच शक्तियों की दृष्टि से यह इच्छा शक्ति का स्तर है।। चूँकि यहाँ जगत् केवल इच्छा रूप में ही वर्तमान है, दूसरे शब्दों में, चूँकि इदम् अहम् में ही पूर्णतया समाहित है, इसलिये यह 'अहमिदम्' की अवस्था है। यहाँ इदम् या भेद अभी स्पष्ट नहीं हुआ है, यहाँ इदम् या भेद केवल उन्मुखता की स्थिति में है। इसीलिये अभेद ही प्रधान है, भेद मात्र उन्मुख है। इसीलिए इसकी उपमा बीज के उच्छूनता (जमने के लिए फूलना) से दी गई है।

उपनिषद् में ब्रह्म की 'सैक्षत एकोऽहम् बहुस्यामि' वाली अवस्था वस्तुतः पश्यन्ती दशा ही है; यहाँ ब्रह्म जगत् रूप बनने की इच्छा करता है।

मध्यमा :—कोई भी कर्ता किसी कार्य का निर्माण करता है तो कार्य-रचना की प्रक्रिया में तीन स्तर आवश्यक रूप से वर्तमान होते हैं जिसे इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन तीन नामों से अभिहित किया गया है। सर्वप्रथम कर्ता में कार्य-विशेष को बनाने की कर्ता के मन में इच्छा उत्पन्न होती है। यही इच्छा शक्ति का स्तर है, इसके बाद जिस कार्य की रचना करनी है, उसका पूर्ण चित्र कर्ता के मन में स्पष्ट रूप से आभासित हो जाता है। यह ज्ञान-शक्ति का स्तर है। यहाँ कार्य अभी कर्ता के मन में ही अथवा चैतन्य में ही रहता है। चूँकि यहाँ कार्य बाहरी वस्तु रूप में नहीं आया रहता है, वरन् मन में ही ज्ञान (Idea) रूप में रहता है, इसलिए इस स्तर को ज्ञान शक्ति का स्तर कहा जाता है। इसके बाद कर्ता मन में स्पष्ट

१—चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परा वाक् स्वरसोदिता।

हुए कार्य को वाहर वस्तु रूप में निर्माण करके रख देता है। यह क्रिया है। उदाहरण के लिये कुम्भकार को घड़ा वनाना है, सर्वप्रथम कुम्भकार के मन में घड़ा वनाने की इच्छा (इच्छा-शक्ति) उठेगी, तत्पश्चात् जैसा घड़ा वनाना है, उसकी स्पष्ट आकृति कुम्भकार के मन में आ जायेगी, तत्पश्चात् कुम्भकार घड़ा वना कर रख देगा (क्रिया-शक्ति)। यही तीनों इच्छा, ज्ञान क्रिया के तीन स्तर हैं जो किसी भी कार्य रचना में होते हैं। शिव भी जगत् की रचना करता है तो उसमें भी ये तीनों स्तर स्वाभाविक हैं। पश्यन्ती या सदाशिव अवस्था इच्छा का स्तर है, मध्यमा या ईश्वर की अवस्था ज्ञान का स्तर है तथा वैखरी या सद्‌विद्या क्रिया का स्तर है।

स्पष्ट है कि मध्यमा वाक् भूमि इच्छा-ज्ञान-क्रिया की स्तर त्रयी में ज्ञान का स्तर है। यहाँ जगत् इच्छा अवस्था से तो आगे आ गया रहता है किन्तु वाहर प्रकटित होने वाली क्रिया अवस्था से अभी पहले ही रहता है। इस अवस्था में जगत् शिव चैतन्य में केवल ज्ञान या विमर्श रूप में[१] रहता है जैसे कि कुम्भकार के मन में घट की स्पष्ट आकृति आ जाती है। मध्यमा दशा तत्त्वों की दृष्टि से ईश्वर तत्त्व का परिचायक है; शक्तियों की दृष्टि से ज्ञान शक्ति का स्तर है। यहाँ जगत् भेद या इदम् पश्यन्ती की तुलना में अधिक स्पष्ट हो जाता है अथवा अधिक बहिर्गत हो जाता है, किन्तु फिर भी अहम् में ही धारित होता है, इसलिये इसे इदम् अहम् की अवस्था कहते हैं। यहाँ इदम् स्पष्ट रूप से शिव चैतन्य में आ जाता है किन्तु चैतन्य में विमर्श रूप में रहता है, वस्तु रूप में बहिर्गत नहीं होता।

वैखरी :—मध्यमा अवस्था में इदम् या जगत् चैतन्य में ही ज्ञान अथवा विमर्श[१] रूप में रहता है; किन्तु उसके वाद जब जगत् या इदम् वहिर्गत् होकर

१—विमर्श (Ideation) और आभास (appearance or projection) में यह मौलिक भेद है कि विमर्श में वस्तु मन में ही ज्ञान या प्रत्यय (Idea) के रूप में रहती है; वह वाहर नहीं दिखाई देती है; किन्तु आभास में वस्तु बाहर दिखायी देती है भले ही यह ज्ञान रहता है कि दिखायी देने वाली वस्तु चैतन्य का आभास है। अतः यह कहा जा सकता है कि विमर्श में वस्तु कल्पना में ही रहती है, दृश्य नहीं बनती, किन्तु आभास में दृश्य बन जाती है। उदाहरण के लिये जव हम मन में मुख की कल्पना करते हैं तो यह विमर्श है किन्तु जव दर्पण में मुख प्रतिविम्बित होता है (भले ही यह ज्ञान रहता है कि प्रतिविम्ब मात्र है) तो यह आभास है। विमर्श और आभास में वही भेद है जो कल्पना और प्रतिविम्ब में। इसीलिये आभास को प्रतिविम्ब भी कहते हैं। मध्यमा और वैखरी दोनों ही अवस्थाओं में 'इदम्' चैतन्य में ही धारित होता है किन्तु

वाह्याभास के रूप में स्थित हो जाता है तो यह वैखरी अवस्था है। वैखरी अवस्था क्रिया-शक्ति का स्तर है।[1] तत्त्वों की दृष्टि से यह सद्विद्या की अवस्था है। चूँकि इस अवस्था में इदम् या जगत् स्पष्ट आभास रूप में अहं (Self) से वाह्य हो जाता है और साथ ही अहं उसको धारण भी किये रहता है, इसलिये इसमें जो अनुभूति होती है वह 'अहञ्च इदञ्च' होती है। यहाँ ध्यान देने योग्य वात है कि इदम् अहम् से वाह्य आभासित होने मात्र से वह अहम् से अलग नहीं हो जाता। सद्विद्या अवस्था की यह विशेषता है कि इसमें जगत् वाहर दीखता है किन्तु यह ज्ञान रहता है कि यह मुझमें ही रहता है और मुझसे ही धारित होता है। इसकी तुलना कुछ सीमा तक जादूगर अथवा योगी के द्वारा की गयी उत्पत्ति से की जा सकती है। योगी अपने चैतन्य से ही उसको धारण किये रहता है और इस बात का उसे ध्यान रहता है। उसी प्रकार वैखरी अवस्था में अहम् से इदम् वाहर निकल कर भी अहं के द्वारा धारित रहता है और इसका ज्ञान भी रहता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी अवस्था में जो भेद है, वह वस्तुत. इदम् की स्थिति को लेकर ही है। अन्तः और वाह्य की भाषा में कहें तो पश्यन्ती से वैखरी तक 'इदम्' उसी क्रम में अधिक बाह्य होता जाता है, अर्थात् पश्यन्ती में आन्तरिक रहता है, मध्यमा में उससे अधिक बाह्य होता है और वैखरी में उससे अधिक बाह्य हो जाता है। सूक्ष्म और स्थूल की भाषा में कहें तो 'इदम्' पूर्वापर क्रम से अधिक-अधिक स्थूल होता जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पश्यन्ती से वैखरी तक की यात्रा आन्तरिक से बाह्य की ओर, सूक्ष्म से स्थूल की ओर, अव्यक्त से व्यक्त की ओर, अहं से इदम् की ओर है।

परा शक्ति की सृष्टि-रूप होने के इस क्रम की उपमा माता के गर्भ से शिशु उत्पन्न होने से दी जा सकती है। मां की जो अवस्था शिशु उत्पन्न होने से परे की है, अर्थात् जहाँ गर्भाधान भी नहीं हुआ है और स्त्री विना शिशु के अपने आप में है,

---

दोनों अवस्थाओं में यह मौलिक भेद है कि मध्यमा में 'इदम्' मानसिक कल्पना (Idea) मात्र के रूप में रहता है, जवकि वैखरी में वह बाहर प्रतिबिम्बित या आभासित होता है अर्थात् दृश्य वन जाता है।

१—वैखरी नाम क्रिया
ज्ञानमयी भवति मध्यमा वाक्।
इच्छा पुनः पश्यन्ती
सूक्ष्मा समरसा वृत्तिः॥

—महार्थमञ्जरी, ४९, पृ० १०५

वह परा स्थिति से तुलनीय है। जब गर्भाधान हुआ तो यह पश्यन्ती (सदाशिव, इच्छाशक्ति) स्थिति है, स्मरणीय है कि गर्भाधान में शिशु के अस्तित्व का प्रारम्भ मात्र होता है, शिशु का स्पष्ट रूप गर्भ में नहीं आया रहता। गर्भाधान के बाद जब गर्भ में ही शिशु का पूरा रूप स्पष्ट रूप से आ जाता है और अभी प्रसव नहीं हुआ रहता तो यह मध्यमा (ईश्वर और ज्ञानशक्ति) स्थिति है। इसके बाद जब गर्भस्थित शिशु का प्रसव होकर शिशु जब माता के गर्भ से बाहर आ जाता है तो यह वैखरी (सद्विद्या और क्रिया शक्ति) स्थिति है। प्रसव के पूर्व की स्थितियों में माता को शिशु से अपने तादात्म्य का ज्ञान तो रहता ही है, प्रसव के बाद भी रहता है, अर्थात् बच्चा गर्भ से बाहर निकल जाने के बाद भी माता यह जानती है कि यह मुझसे ही बाहर निकला है और मेरा ही है। उसी प्रकार पराशक्ति वैखरी दशा में भी जगत् को अपने से बाहर निकाल कर भी, यह जानती है कि जगत् मुझसे तादात्म्य में है। इसीलिये वैखरी या सद्विद्या अवस्था तक शुद्ध अध्वा[1] माना जाता है।

वैखरी की अशुद्धावस्था में अभिव्यक्ति :—परा शक्ति या चिति शक्ति का वैखरी तक जो विकास ऊपर दिखाया गया है, वहीं तक सृष्टि रुक नहीं जाती; वहाँ तक तो चिति शक्ति शुद्ध अवस्था में रहती है और जगत् या इदम् का ज्ञान शुद्ध आभास रूप में रहता है। इसके बाद माया और माया के परिणाम पंचकंचुक लगने से चित् शक्ति सीमित हो जाती है[2] जिसे अणु, पशु या पुरुष कहा जाता है। अणु या पुरुष को इदम् से अभेद का ज्ञान नहीं रहता, वह यही समझता है कि जगत् मुझसे भिन्न एवं स्वतन्त्र है। दूसरे शब्दों में, जगत् स्वतन्त्र जड़ वस्तु के रूप में दीखता है जो हम सबको हो रहा है। जगत् अपने आप में स्वतन्त्र जड़ सत्ता न होते हुए भी हम उसे ऐसा समझते हैं। अद्वैत-वेदान्त में इसे ही व्यवहार-दशा एवं बौद्ध दर्शन में संवित-सत्य कहते हैं। लोक व्यवहार की यह दशा वैखरी वाक् की अशुद्धावस्था है।

१—जैसा कि हम पहले भी देख चुके हैं कि काश्मीर शैव शास्त्र में शुद्धता, अशुद्धता का अन्तर 'अहं' से 'इदम्' के अभेद और भेद के ज्ञान पर निर्भर है। अहं का जब 'इदम्' से अभेद ज्ञान है तो यह शुद्ध अवस्था है और इदम् को जब अपने से भिन्न और स्वतन्त्र समझा जायेगा तो वह अशुद्ध अवस्था होगा। सृष्टि के विकास में सद्विद्या अवस्था तक 'इदम्' से अभेद का ज्ञान बना रहता है, इसीलिए वहाँ तक अशुद्धावस्था है। इसके बाद माया (पंचकंचुक सहित) लग जाने से 'अहं' (पुरुष) यह समझने लगता है कि 'इदम्' (जगत्) मुझसे अलग है, यह अशुद्धावस्था है।

भाषीय विज्ञानवाद (Linguistic Idealism) :—शुद्ध भाषा (language) की दृष्टि से विचार करें तो वहाँ भी यह स्पष्ट होगा कि हम जगत् का जो ज्ञान कर रहे हैं, वह पूर्णतया भाषा रूप (linguistic) ही है। वस्तु ज्ञान सापेक्ष है और ज्ञान शब्द सापेक्ष है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानात्मक (Epistemological) दृष्टि से विचार करें तो यह स्पष्ट होगा कि हम जो जगत् को ग्रहण करते हैं, वह भाषा या शब्द में ही करते हैं और यही नहीं कि वस्तु का ज्ञान होने में शब्द मात्र सहायक है वल्कि ऐसा है कि हमारे पास वस्तु शब्द वन कर ही आती है अर्थात् हम जो वस्तु-ज्ञान करते हैं वह शब्द ही है। शब्द और अर्थ (वस्तु) में वस्तुतः भेद नहीं है क्योंकि हम अर्थ को ग्रहण करते हैं तो शब्द रूप में ही ग्रहण करते हैं। उदाहरण के लिये घट का जो हम ज्ञान करते हैं तो घट शब्द से ही उसे ग्रहण करते हैं। यदि हमारे पास घट शब्द न हो तो घट का ज्ञान हम क्या कह कर करेंगे। यदि यह कहा जाय कि हमारे पास घट शब्द न होने पर हम घट वस्तु को देख कर यह भले न कहें कि यह घट है किन्तु इतना तो कहेंगे कि यह एक वस्तु है; तो उत्तर यह होगा कि 'वस्तु' कह कर ग्रहण करने में भी वस्तु तो शब्द ही है। ऐसा नहीं हो सकता कि विना किसी शब्द प्रयोग के ज्ञान हो जाय, कोई न कोई शब्द का प्रयोग करना ही पड़ेगा। दूसरे शब्दों में, जगत् ज्ञान सापेक्ष है और ज्ञान विकल्पात्मक है। विकल्प (Categories) के प्रयोग के विना ज्ञान हो ही नहीं सकता। यदि हमारे पास विकल्प या शब्द न हों तो जगत की सत्ता शब्द निरपेक्ष हो भी तो भी हमको उसका ज्ञान कैसे होगा। इसीलिए हम हमेशा ही जगत् को विकल्प या शब्द रूप में ग्रहण करते हैं।[1] अतः जगत् को भाषा की दृष्टि से विकल्प या शब्द रूप कहा जा सकता है। इसीलिए तन्त्र का यह सिद्धान्त कि सारा जगत् वाक् या शब्द रूप है, समीचीन ही है। उपर्युक्त आशय को उत्पलदेव ने अपनी ई० प्र० कारिका के ज्ञानाधिकार में उल्लिखित किया है एवं अभिनव गुप्त ने उसी की अपनी विमर्शिनी टीका में विस्तृत व्याख्या की है।[2]

मुख से जो शब्द हम वोलते हैं; उस भाषा या शब्द की दृष्टि से अवस्था भेद करें तो परावस्था का शब्द वह होगा जो वस्तुतः निःशब्द है अर्थात् जहाँ शब्दों का कोई रूप अभी प्रकटित नहीं हुआ है, किन्तु जो सभी शब्दों के प्रकटन का स्रोत है। इस प्राथमिक शब्द (primordial sound) को ॐ कहा गया है। हमारे भीतर शुद्ध चिति रूप में यह ॐ विद्यमान है। यह परावाक् है। जब हम शब्द को

१—नास्त्यसौ प्रत्ययो लोके·····——'

—भर्तृहरि; वक्यपदीय

२—ई० प्र०, ज्ञानाधिकार

प्रकटित करने के लिये बोलने की इच्छा करते हैं तो यह पश्यन्ती वाक् है। इसके बाद बोले जाने वाले शब्द का पूर्ण रूप हमारे मन में स्पष्ट रूप से आ जाता है[1] तो यह मध्यमा वाक् है। जब हम इसे मुख से उच्चरित (articulate sound) करते हैं तो यह वैखरी वाक् है।

वर्ण क्रम :—तन्त्रों में सृष्टि तत्त्व को संस्कृत वर्णमाला (Sanskrit Alphabet) के रूप में दिखाने की भी एक स्पष्ट रीति है। अभिनगुवप्त ने तन्त्रालोक के तीसरे आह्निक में इसे दर्शाया है। अ, आ, इ इत्यादि स्वर वर्ण एवं क, ख, ग, इत्यादि व्यञ्जन वर्णों को सृष्टि तत्त्व के विभिन्न अंगों के रूप में माना गया है। यह स्पष्ट नहीं है कि ये वर्ण स्वयं में सृष्टि रूप माने गये हैं अथवा सृष्टि तत्त्व के प्रतीक (Symbol) माने गये हैं। तन्त्रों में जो वर्णन मिलता है, उससे तो यही लगता है कि ये वर्ण सृष्टि तत्त्व के प्रतीक रूप में नहीं लिये जा रहे हैं बल्कि इनको स्वयं तत्त्व रूप माना जा रहा है। अभिनवगुप्त के एतद् विषयक विवेचन में यद्यपि कुछ अधिक स्पष्टता आई है, फिर भी अभिनवगुप्त ने लगभग तन्त्रों की ही प्रणाली का अनुगमन किया है और यह स्पष्ट नहीं किया है कि ये वर्ण सृष्टि-तत्त्व के प्रतीक हैं।[2]

१—तन्त्र का यह सिद्धान्त है कि शब्द और अर्थ अभिन्न हैं। प्रत्येक शब्द अपना अर्थ लिये हुए है। विना अर्थ ग्रहण के शब्द का ही अस्तित्व नहीं होगा। यदि हम कोई निरर्थक शब्द बोलते हैं तो उसे वस्तुतः शब्द ही नहीं कहा जा सकता। अतः शब्द के साथ अर्थ मिला हुआ ही आता है। इसीलिए मध्यमा वाक् के सन्दर्भ में यह कहना समीचीन है कि शब्द मन में पूर्ण रूप से प्रकटित हो जाता है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि वस्तुतः अर्थ पूर्ण रूप से प्रकटित हो जाता है।

२—तान्त्रिक दर्शन में इस प्रकार की अस्पष्टता अन्य स्थानों पर भी दिखायी देती है। उदाहरण के लिए संविद्रूप शिव को कैलाशवासी शंकर के रूप में और शक्ति तत्त्व को पार्वती के रूप में मानने में भी यह स्पष्ट नही किया गया है कि शंकर-पार्वती वाला रूप शिव-शक्ति का प्रतीक मात्र है अथवा अपने आप में सत्य है। चूंकि शैव मत धार्मिक मत है, इसलिये वहाँ यही माना गया है कि यह प्रतीक न होकर अपने में भी सत्य है। तन्त्रों की विचारधारा को सुतार्किक (Rational) रूप में रखने का प्रयत्न करने वाले अभिनव गुप्त ने भी संभवतः धार्मिक-भावना का ही आदर करने के लिए, इसे स्पष्ट रूप से प्रतीक नहीं कहा। चूंकि वर्णों का प्रयोग यन्त्रपूजा या चक्रपूजा में

वर्णमाला का जो प्रथम वर्ण 'अ' है, वही सर्वाधिक महत्व का है क्योंकि वर्णों की दृष्टि से वह प्रथम एवं स्वतन्त्र सत्ता है। बाकी वर्ण उसी के योग से बनते हैं और परवर्ती सभी वर्णों में 'अ' अनुस्यूत रहता है।[1] अभिनवगुप्त के अनुसार यह 'अ' वर्ण परमशिव है जो अनुत्तर है। यह निरपेक्ष है क्योंकि इसके उच्चारण में किसी अन्य वर्ण की सहायता नहीं लेनी पड़ती। बाकी स्वर वर्ण इस 'अ' की ही विभिन्न अवस्थायें हैं। दूसरे शब्दो में, अ ही दीर्घ हो के आ हो गया है, अ ही मुड़कर इ हो गया है, और फिर आगे चलकर ए, ऐ, ओ, औ हो गया है, इत्यादि। आगे व्यञ्जन वर्णों में भी यह विशेषता है कि बिना स्वर वर्ण के उनका उच्चारण नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए 'क' का उच्चारण बिना 'अ' के नहीं हो सकता। 'क' का अर्थ ही है 'क्'+'अ'।

वर्णमाला के विश्लेषण से यह भी स्पष्ट है कि स्वर वर्ण सूक्ष्म हैं तथा शुद्ध हैं; किन्तु व्यञ्जन वर्ण स्थूल हैं और मिश्र हैं। चूँकि स्वर वर्ण आदि वर्ण हैं, सूक्ष्म निरपेक्ष एवं अन्तर्यामी हैं, इसलिये इन्हें शुद्ध चैतन्य तत्त्व रूप माना गया है। अ से औ तक स्वर के जो विभिन्न भेद हैं, वे इसी चिति तत्त्व के विभिन्न अवस्था-भेद हैं। उदाहरण के लिये अ अनुत्तर परम शिव है और 'आ' आनन्द अथवा शक्ति है। इस प्रकार 'अ' शिव है, 'आ' शक्ति है; 'अ' चित् है, 'आ' आनन्द है; 'अ' ज्ञान है, 'आ' क्रिया है, 'अ' प्रकाश है, 'आ' विमर्श है। आगे का जो इ वर्ण है, वह इच्छा-शक्ति (सदाशिव) है। इच्छा शक्ति में भी दो स्तर-भेद किये जा सकते हैं—एक जन्म लेती हुई जो इ और दूसरी वर्धित या 'उच्छून' हुई जो ई है। उसी प्रकार ए और ऐं पूर्ववत स्तर-भेद से ज्ञान शक्ति (ईश्वर) है। ओ और औ भी उसी प्रकार से क्रिया-शक्ति (सद्विद्या है)।[2] इस प्रकार अनुस्वार (ं) को बिन्दु कहा जाता है जिसका अर्थ है वेत्ता अथवा ज्ञाता (वेत्तैव बिन्दुः)। विसर्ग (ः) का अर्थ है विसर्जन अर्थात् सृष्टि। अतः बिन्दु शिव है और विसर्ग उसकी सृष्टि।

उपर्युक्त व्याख्या से यह भी स्पष्ट है कि स्वर सृष्टि शुद्धाध्वा है क्योंकि इसमें शुद्धाध्वा के ही स्तर के तत्त्व हैं। वर्णों की दृष्टि से भी यह सही है क्योंकि व्यंजनों वाली अशुद्धता, मलावरोहिता एवं सापेक्षता से ये मुक्त हैं। व्ञ्जन वर्ण स्थूल

किया जाता है, इसलिये इन्हें कोरा प्रतीक मानने से श्रद्धा में कमी आ सकती है।

१—तं० आ०, ३ आ०

२—यहाँ ज्ञान और क्रिया शिव-शक्ति के अर्थ में लिया जा रहा है, न कि इच्छा, ज्ञान, क्रिया वाली त्रिपुटी के अर्थ में।

सृष्टि के द्योतक हैं जिसमें पुरुष, प्रकृति से लेकर पंच महाभूत तक सारे तत्त्व निहित हैं। व्यञ्जन स्थूल हैं और स्वर सूक्ष्म, व्यञ्जन सापेक्ष हैं और स्वर निरपेक्ष अर्थात् सृष्टि स्थूल और जड़ है, किन्तु शिव सूक्ष्म तथा चेतन रूप हैं। साथ ही शिव निरपेक्ष है, उसे अपने अस्तित्व के लिये किसी का सहारा लेना आवश्यक नहीं है किन्तु अस्तित्व विना सहारे का नहीं है। व्यञ्जन विना स्वर की सहायता से नहीं बोले जा सकते, सृष्टि तत्त्व विना शिव के अन्तर्भूत रहे टिक नहीं सकते। स्वर व्यञ्जन में छिपा हुआ है अर्थात् शिव सृष्टि में छिपा हुआ है।

वर्णमाला के अन्तिम तीन वर्ण क्ष, त्र, ज्ञ चूँकि मिश्र वर्ण हैं, इसलिये वास्तविक वर्णमाला ह पर ही खत्म होती है। इस प्रकार वर्णमाला अ से प्रारम्भ होकर ह पर समाप्त होती है। इस प्रकार सारे तत्त्व 'अ' और 'ह' (अहं) में आ गये। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जो ज्ञानी होगा, उसको ये सारे तत्त्व अपने भीतर यानी अहं में दिखायी देगें। इसीलिए तान्त्रिक साधना में अहं-भावना का अभ्यास बताया गया है। अहं भावना का अर्थ है अ से लेकर ह तक समस्त तत्त्वों को अपने भीतर देखना। अहं का यह विशेष अर्थ हुआ।[1] चूँकि अ से लेकर ह तक सभी वर्णों को अपने आप में अर्थात् अहं में सभी तत्त्वों की आहुति की जाती हैं, अर्थात् समस्त तत्त्वों को अहं के साथ अभेद कर दिया जाता है। इसलिये यह अहं याग है। अ से लेकर ह तक सभी तत्त्व मुझमें हैं, इसका ज्ञान होना साधना का सर्वोच्च स्तर (शाम्भवोपाय) है। अहं ही पूर्णाहंता है। यह अहं व्यष्टिपरक नहीं है, यही समष्टि है, पूर्णाहन्ता है। यही शिवरूपता है।

१—सृष्टि-प्रक्रिया के परे जो शिव-शक्ति तत्त्व अथवा चिदानन्द है, वहाँ केवल अपने आप का ज्ञान (अहं) रहता है, वहाँ बाकी तत्त्व नहीं रहते। यह अहं का प्रथम अर्थ है। यह अहं चैतन्य का नित्य स्पन्द है जो सृष्टि न रहने पर भी रहता है। जब इस पर अवस्था से इच्छा, ज्ञान क्रिया की प्रक्रिया से पूरी सृष्टि होती है तो उस समय जो शिव को ज्ञान होता है कि यह सब मैं ही हूँ, वह अहं का दूसरा रूप है।

सृष्टि-क्रम (छत्तीस तत्त्व)

सृष्टि की अभिव्यक्ति एवं प्रलय का क्रम शिव और शक्ति, प्रकाश और विमर्श का प्रसार और संकोच है। चैतन्य की अभिव्यक्ति के ये विभिन्न रूप छत्तीस वर्गों या तत्त्वों में वर्णित हैं। इनकी निश्चित संख्या के विषय में शैव दार्शनिकों में मतभेद पाया जाता है। उत्पलाचार्य के अनुसार तत्त्वों की संख्या छत्तीस है। किन्तु अभिनवगुप्त शिव के आध्यात्मिक और भौतिक रूपों के आधार पर तत्त्वों की संख्या सैंतीस बताते हैं।[1] अभिनवगुप्त अभिव्यक्ति विश्व का तत्त्वों में वर्गीकरण न तो पूर्णतः आनुभविक सर्वेक्षण पर आधारित मानते हैं और न ही तार्किक आधार पर। उनके अनुसार यह मुख्यतः आगमों पर आधारित है और अंशतः लम्बे योगिक अनुभूति और मन एवं पदार्थ के सावधानीपूर्ण अध्ययन पर आधारित है। यह तत्त्व ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण अथवा अनुमान प्रमाण द्वारा प्राप्य नहीं है। तुरीयदशा को प्राप्त शिवस्वरूप योगिजनों का स्वसंवेदन ही इस सम्वन्ध में एकमात्र प्रमाण है। सृष्टि-प्रक्रिया में जो इदम् अंश (object) है वह आभास है, अर्थात् इदम् अंश जड़ वस्तु न होकर कल्पना या स्वप्न में चैतन्य में ही अवभासित होने वाले वस्तु की तरह है। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि जो अहम् अंश (Subject) है, वह आभास नहीं है। दूसरे शब्दों में, द्रष्टा आभास नहीं है, दृश्य आभास है। चूँकि इदम् अंश वस्तुतः सदाशिव अवस्था से प्रारम्भ होता है। जहाँ शिव विश्व उत्पन्न करने की इच्छा करता है. इसलिये सृष्टि क्रम का प्रारम्भ वस्तुतः सदाशिव से होता है।[2] सदाशिव से पहले वाले शिव-शक्ति तत्त्व चूँकि इस सृष्टि-क्रम के मूल हैं अर्थात् शिव शक्ति ही इस सृष्टि-क्रम के कर्ता हैं, इसलिये वे भी तत्त्वों में शामिल हैं।

ये तत्त्व परमतत्त्व की अभिव्यक्ति मात्र हैं। इसलिये ये मूलतः परमतत्त्व के तदनुरूप ही हैं। प्रत्येक तत्त्व की दो अवस्थितियाँ होती हैं। यह विश्व को व्याप्त भी

१—अभिनवगुप्त के अनुसार परमतत्त्व (परमशिव) हमारी बुद्धि के परे हैं, अतः उसके विषय में जो कुछ हम समझते हैं. वह हमारी समझ है. परमशिव उससे परे है। हम तत्त्व को शिव से लेकर धरणि पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों में समझते हैं; किन्तु शिव वस्तुतः इसके परे होने के कारण सैंतीसवाँ है।

२—श्रीमत्सदाशिवोदारप्रारम्भं वसुधान्तकम।

—भास्करी, भा० २, पृ० २११

करता है और विश्व के अंगों का निर्माण कार्य भी संपादित करता है। इन तत्त्वों का सम्वन्ध परमतत्त्व से सदैव वना रहता है। ये न तो शिव से ही अलग हैं और न एक दूसरे से, प्रत्युत् प्रत्येक तत्त्व में सभी तत्त्व उपस्थित हैं। विश्व की आभास-रूपता में तत्त्वों का यह क्रम वस्तुतः अक्रम में ही क्रम का आभास है।[१] जिस तरह उच्चतर तत्त्व निम्नतर तत्त्वों को अपने में सन्निहित किये रहते हैं उसी तरह निम्नतर तत्त्व भी अपने सभी उच्चतर तत्त्वों को समाहित किये रहते हैं। 'विज्ञानभैरव' में भी कहा गया है कि पूर्व तत्त्व उत्तर तत्त्वों में सर्वत्र व्यापक भाव से अवस्थित रहते हैं; जैसे घट इत्यादि में मिट्टी रहती है।[२]

मालिनी विजयोत्तर तंत्र में तत्त्वों के उपर्युक्त क्रम-विधान का आधार पूर्व-पूर्व तत्त्वों की उत्तर-उत्तर तत्त्वों से गुणोत्कृष्टता वतायी गयी है।[३] एक निश्चित तत्त्व की अलग अभिव्यक्ति का अर्थ केवल इसका चेतना की एकता पर अलग रूप में प्रकाशित होना है। इस आधार की अनुपस्थिति में कुछ भी प्रकाशित न होगा। ये तत्त्व साख्य की तरह विषयात्मक या मनोवैज्ञानिक नहीं हैं। शैव दार्शनिक मानते हैं कि ये तत्त्व सत्य हैं और यौगिक अनुभव द्वारा जाने जा सकते हैं।

शुद्ध अध्वा

शिव तत्त्व से लेकर शुद्ध विद्या तत्त्व तक की सृष्टि शुद्ध अध्वा अथवा शुद्ध सृष्टि कही जाती है। सृष्टि-क्रम के ये पाँच तत्त्व शिव द्वारा स्वयं विना किसी सहायक के या अन्य वस्तुओं के माध्यम से सीधे अभिव्यक्त होते हैं।[४] तन्त्रसार के अनुसार साक्षात् शिव इनका कर्ता है।[५] शुद्ध अध्वा की स्थिति में चेतना को अपने स्वरूप का अन्यथा ज्ञान नहीं रहता। वहाँ शुद्ध संवित् स्वरूप अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान रहता है।[६] परमशिव अपने परिपूर्ण स्वातन्त्र्य की लीला-

---

१—षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह, पृ० १

२—क्रमेऽपि च पूर्व-पूर्वं उत्तरत्र व्यापकतया स्थितं मृदिव घटादौ।

—विज्ञान भैरव विवृति, पृ० ४७

३—यो हि यस्माद् गुणोत्कृष्टः स तस्मादूर्ध्वं उच्यते।

मालिनीविजयोत्तर तंत्र, अधि० २।६०

४—तंत्रालोक भा० ६ पृ० ५५

५—इयति साक्षात् शिवः कर्ता। —आ० ८, पृ० ७४

६—हम पहले ही दिखा चुके हैं कि शिव से लेकर सद्विद्या तक की सृष्टि का शिव को अपने से अभेद रूप में ज्ञान रहता है, इसलिये यहाँ तक की सृष्टि को शुद्ध सृष्टि अथवा शुद्ध अध्वा कहते हैं।

विलास से अपनी इच्छा के द्वारा इस शुद्ध अध्वा की सृष्टि एवं संहार को स्वयमेव करते रहते हैं। इन पाँच तत्त्वों तक परमशिव सृष्टि-संहार आदि के ऐश्वर्य को किसी को भी नहीं सौंपते हैं। शुद्ध सृष्टि तक परमशिव से अभेदभाव की अनुभूति बनी रहती है। इन पांच तत्त्वों तक की इस शुद्ध सृष्टि में माया का कोई प्रभाव नहीं रहता है।

१—शिव तत्त्व :—परमशिव की दो अवस्थितियाँ हैं—अतिभौतिक और अन्तर्भूत अथवा विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय। परमशिव का सर्जनात्मक विश्वमय रूप शिव तत्त्व कहा जाता है। स्वतन्त्र चिद्घन संवित्स्वभाव परमशिव अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से जब अक्रम में ही आभासरूप से अर्थात् पारमार्थिक कारण-कार्य भाव से अपने स्वरूप को ही अपने अन्तर्गत अखिल विश्व रूप में अवभासित करने की इच्छा करता है तब उसकी विश्वोन्मीलन की उस आद्या इच्छा अवस्था को ही शिव तत्त्व कहते हैं। शिव तत्त्व परमशिव का प्रथम स्पंद है।[1] यह वास्तविकता की पहली अभिव्यक्ति है। इसमें चित् शक्ति का प्राधान्य रहता है। तंत्रसार के अनुसार पंचशक्ति स्वभाव परमशिव में चित् शक्ति का प्राधान्य होने पर वह शिव तत्त्व कहलाता है।[2] यह शुद्ध 'अहम्' के अनुभव की अवस्था है। इस अवस्था में प्रमेय का अभाव होता है। सब कुछ शिव में हैं, शिव से भिन्न कोई अस्तित्व नहीं है। इसीलिये 'अहम्' प्रत्यय के साथ 'अस्मि' नहीं लगाया जाता क्योंकि 'अस्मि' सम्बन्ध का द्योतक है।

इस अवस्था से सम्बन्धित विषयी शाम्भव कहलाते हैं। प्रत्येक जीव में रहने वाला शिव तत्त्व ही आत्म तत्त्व है। तत्त्व चैतन्य स्वरूप है।[3] यही तत्त्व परा संवित् परमेश्वर, 'शिव' या 'परमशिव' से भी अभिहित होता है। सम्पूर्ण संसार व्यष्टि रूप से तथा समष्टिरूप से इस तत्त्व में वर्तमान है। यह देश और काल से अतीत है फिर भी सभी देशों और कालों में एक रूप में वर्तमान है। यह विश्वमय और विश्वातीत दोनों है। समस्त विश्व इस तत्त्व का अभिन्न रूप है। इस शिव तत्त्व का ही अपने

१—यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाखिलमिदं जगत्स्रष्टुम्।
पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः॥
—षट्त्रिंशत्तत्त्व संदोह, पृ० १, श्लो० १.

२—चित्प्राधान्ये शिवतत्त्वम्।—तंत्रसार पृ० ७४

३—चैतन्यमात्मा।—शिव सूत्र १, १

से लेकर पृथिवीतत्त्व पर्यन्त प्रत्येक तत्त्व, अभिन्न रूप में स्फुरण है।[१] इस तत्त्व के अतिरिक्त वस्तुतः और कुछ भी 'ग्राह्य' या 'ग्राहक' रूप में नहीं है।

२–शक्ति तत्त्व—शक्ति तत्त्व शिव की शक्ति है। यह परमशिव की आभास रूपता में दूसरा तत्त्व है जो शिव का अभिन्न स्वरूप है। प्रकाशात्मा शिव का विमर्श स्वरूप ही शक्ति तत्त्व है। यदि शिव में विमर्श शक्ति न हो तो वह 'अनीश्वर' तथा जड़ हो जायेंगे। शक्ति तत्त्व शिव के साथ सदैव अभिव्यक्त होता है। दोनों में अभिन्न एवं अविनाभाव सम्बन्ध है।[२] परमशिव के हृदय में सृष्टि की इच्छा उत्पन्न होती है तब शिव और शक्ति तत्त्व अभिव्यक्त होते हैं। जिस प्रकार चेतना सत्ता की पूर्वकल्पना करती है उसी प्रकार शक्तितत्त्व की पूर्वकल्पना शिव तत्त्व द्वारा होती है। तंत्रालोक के अनुसार बाह्योन्मुख परमशिव की उन्मुखतारूप क्रिया ही शक्ति तत्त्व है।[३] वास्तव में चिद्रूपता का उन्मेष अन्तर्मुख होना है और उसका निमेष ही बहिर्मुख होना है[४] क्योंकि परमशिव सभी में हैं और सब उसी में है। अतः उसके विषय में बाहर और भीतर होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

शिव और शक्ति अभिन्न हैं। दोनों का भेद मात्र व्यावहारिक स्तर पर है। काश्मीर शैव दर्शन में कहीं शिव तत्त्व को परमशिव का प्रथम स्पन्द कहा गया है तो कहीं-कहीं शक्तितत्त्व को भी परमशिव का प्रथम स्पन्द कहा गया है। आचार्य क्षेमराज ने 'पराप्रावेशिका' में शक्ति तत्त्व को परमशिव का प्रथम स्पन्द कहा है।[५] षट्त्रिंश-त्तत्त्वसन्दोह में शिव तत्त्व को परमशिव का प्रथम स्पन्द होने की बात मिलती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने शिवतत्त्व को परमशिव की 'प्रथम तुटि' तथा शक्ति तत्त्व को परमशिव की 'द्वितीय तुटि' कहा है।[६] शिव तत्त्व को परमशिव का प्रथम स्पन्द

१—अखिलम् अभेदेनैव स्फुरति। —प्र० हृ० पृ० ८

२—शिवदृष्टि ३। २-३।

३—तस्य (परमशिवस्य) बहिरौन्मुख्येन व्यापारः शक्तितत्त्वम्।
—तंत्रालोक भा० ६, पृ० ५०—५१।

४—आन्तरत्वमिदं प्राहुः संविन्नैकतयशक्तिताम्।
तां च चिद्रूपतोन्मेषं बाह्यत्वं तन्निमेषताम्॥
तंत्रालोक भा० ७ आ० १०। २१८-२१९॥

५—परमेश्वरस्य प्रथम स्पन्द एवेच्छाशक्ति तत्त्वम्।—पृ० ६७।

६—अत एव शिवावेशे द्वितुटिः परिगीयते।
एक तु सा तुटिस्तत्र पूर्णा शुद्धैव केवलम्॥
द्वितीया शक्तिरूपैव सर्वज्ञानक्रियात्मिका।—तंत्रालोक भा० ७, ९०। २०६-७।

कहना उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि शिव तत्त्व परमशिव का परिपूर्ण शुद्ध विश्वोत्तीर्ण रूप है। 'शिव' से अभिहित होने वाली परमशिव की अवस्था में विश्वोन्मीलन की बात उत्पन्न नहीं हुयी रहती। परमशिव के हृदय में विश्वोन्मीलन के प्रति उन्मुखता होने पर उसकी शक्ति अंश का ही उच्छलन होता है। अतः विश्वोन्मीलन के सन्दर्भ में शक्ति तत्त्व को ही प्रथम स्पन्द कहा जा सकता है। वास्तव में प्रथम स्पन्द या द्वितीय स्पन्द का प्रयोग मात्र व्यावहारिक सुविधा के लिये किया जाता है। शिव और शक्ति में किसी भी प्रकार से, कोई भी भेद नहीं किया जा सकता। शिव तत्त्व की अवस्था में अनुभव का प्रत्यय 'अहम्' होता है। शक्ति तत्त्व की अवस्था में यह अनुभव 'अहमस्मि' रूप ग्रहण कर लेता है क्योंकि शक्ति के कारण ही शिव को अपना बोध होता है। इस अवस्था में आनन्द शक्ति का प्राधान्य रहता है।[1] इस अवस्था से सम्बन्धित सत्ताएँ शाक्तज कहलाती हैं।

३—सदाशिव तत्त्व :--यह आभास क्रम में तीसरा तत्त्व है। इसकी अभिव्यक्ति शिव की इच्छा शक्ति से होती है। जब शक्ति में उन्मेष होता है तब सृष्टि होती है और जब निमेष होता है तो जगत् का लय हो जाता है। यह उन्मेष और निमेष अनादि और अनन्त हैं। इसी उन्मेष के कारण 'सदाशिव' तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। यह शक्ति तत्त्व का प्रथम और स्थूल उन्मेष है। इस स्तर पर इच्छा शक्ति का प्राधान्य हो जाता है। इस अवस्था में अनुभव का प्रत्यय 'अहम् इदम्' होता है। 'अहम्' शिव का परिचायक है और 'इदम्' विश्व का। इस अवस्था में 'इदम्' अंश अस्फुट रहता है और अहं अंश का प्राधान्य होने से वह 'इदम्' अंश को आच्छादित किये रहता है। इसलिये यहाँ जगत् का अव्यक्त रूप में भान होता है। सदाशिव अवस्था में ब्रह्माण्ड या अनुभव का 'इदम्' अंश धुँधले विचार के रूप में रहता है जैसे कलाकार के मन में चित्र बनाने के पूर्व चित्र की कल्पना मात्र रहती है।[2]

सदाशिव तत्त्व सृष्टि के विकास में प्रथम तत्त्व है।[3] इस अवस्था के अनुभवकर्ता 'मन्त्र महेश्वर' कहलाते हैं। अभिव्यक्ति के लिये एक विषयी और एक विषय की आवश्यकता होती है। सदाशिव तत्त्व में दोनों हैं परन्तु विषयी अथवा अहम् के

१—तंत्रसार पृ० ७४

२—तत्र प्रोन्मीलित मात्रचित्रकल्पतया इदमंशस्य अस्फुटत्वात् इच्छा प्राधान्यम्।"

—षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह।

३—सृष्टिक्रमोपदेशादौ प्रथममुचितं तत्सदाख्यं तत्त्वम्।

ई० प्र० वि० भा० २, पृ० १९१।

चेतना की प्रमुखता होती है। विश्व का अवभास 'अहम्' अंश में विलीन सा होने के कारण इस तत्त्व को प्रलय का प्रतीक तथा निमेष भी कहा जाता है।

४–ईश्वर तत्त्व :—शिव की इच्छा का वहिर्मुख स्पन्द ईश्वर तत्त्व कहलाता है। इस तत्त्व की अभिव्यक्ति शिवेच्छा में क्रिया शक्ति के उद्रेक से होती है।[1] जगत् की क्रमिक अभिव्यक्ति यहाँ स्पष्ट होती है। इस स्तर पर अनुभव का प्रत्यय 'इदम्-अहम्' होता है। यहाँ 'अहम्' अंश गौण रहता है और 'इदम्' अंश की प्रधानता रहती है। इस स्तर पर क्रिया शक्ति और ज्ञान शक्ति दोनों की स्थिति मानी गयी है, पर यहाँ ज्ञान शक्ति की प्रधानता रहती है।[2] यहाँ सृष्टि रचना का विचार स्पष्टतर हो जाता है। इस स्थिति में अनुभव का 'इदम्' पक्ष या ब्रह्माण्ड स्पष्टतः परिभाषित हो जाता है। जिस तरह एक कलाकार के मन में जो चित्र उसे वनाना रहता है, का सर्वप्रथम धुँधला विचार बस रहता है और बाद में चित्र वनाते समय यह स्पष्ट होता जाता है, उसी प्रकार सदाशिव स्थिति में ब्रह्माण्ड एक धुँधला विचार होता है, परन्तु ईश्वर की स्थिति में यह स्पष्ट हो जाता है।

सदाशिव अवस्था का अनुभव 'अहम् इदम्' है, पर ईश्वर अवस्था का अनुभव 'अहम् इदम्' है। यहाँ स्वामित्व आत्म-चेतना से अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। जहाँ सदाशिव, शिव और शक्ति के आन्तरिक सम्बन्ध की अवस्था है, ईश्वर उनके वाह्यीकरण की अवस्था है।[1] सदाशिव तत्त्व विश्व के प्रलय अथवा निमेष का द्योतक है, ईश्वर तत्त्व विश्व के उदय या उन्मेष का परिचायक है। ईश्वर तत्त्व के उन्मेष से ही विश्व का उदय होता है।[2] ईश्वर तत्त्व के प्रमाता मंत्रेश कहलाते हैं।

अद्वैत-वेदान्त में भी ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गयी है परन्तु दोनों दर्शनों में स्वीकृत ईश्वर के स्वरूपों में पर्याप्त अन्तर है। अद्वैत-वेदान्त का ईश्वर माया से उपहित ब्रह्म है। यह सृष्टि, स्थिति और संहार का कर्ता है। परन्तु यह ईश्वर (अद्वैत-वेदान्त का ईश्वर) माया या अविद्या से रहित हो जाने पर ईश्वर नहीं

१—वहिर्भावस्य क्रिया शक्तिमयस्य परत्वे उद्रेकाभासेसति पारमेश्वरं परमेश्वर शब्द वाच्यमीश्वरतत्त्वं नाम।

—ई० प्र० वि० भा० ८, पृ० १९२

२—ज्ञानशक्ति प्राधान्ये ईश्वर तत्त्वम्।

—तन्त्रसार; आ० ८, पृ० ७४

१—ईश्वरो वहिरुन्मेषो, निमेषोऽन्तः सदाशिवः। —ई० प्र० वि० भा० ३।३१

२—यस्योन्मेषादुदयो जगतः—इत्यत्र ईश्वर तत्त्वमेवोन्मेषशब्देनोक्तम्

—ई० प्र० वि० भा० ३, पृ० १९४

रह जाता।[3] काश्मीर शैव दर्शन का ईश्वर माया-जन्य या माया से सम्बन्धित नहीं होता। परमशिव स्वयं अपनी स्वतन्त्रेच्छा से भेदाभेद दशा में अवतरित होता हुआ ईश्वर तत्त्व कहलाता है। वेदान्त का ईश्वर प्रकृति का संस्पर्श होने पर सृष्टि का संचालन करने के लिये ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के रूप में प्रकट होता है। काश्मीर शैव दर्शन का ईश्वर प्रकृति से नौ सौपान परे है। सृष्टि का संचालन करने के लिये जब यह अवरोहण करते हैं तो अनन्त नाथ और श्रीकण्ठ नाथ से अभिहित होते हैं। ईश्वर महामाया की दशा में प्रकृति के तत्त्वों की सृष्टि करते हैं। काश्मीर शैव दर्शन का ईश्वर परमतत्त्व का अवस्था विशेष नहीं है बल्कि स्वयं परमतत्त्व का स्वरूप ही है जो सृष्टि के लिये अवतीर्ण हुआ है।

५-शुद्ध विद्या तत्त्व :—अभिव्यक्ति की इस अवस्था में अनुभव के 'अहम्' और 'इदम्' दोनो रूपों में ऐक्य की प्रतीति रहती है। इस स्तर पर क्रिया शक्ति की प्रधानता रहती है।[1] यहाँ विषयीमूलक और विषयमूलक चेतना की बराबर अभिव्यक्ति होती है। अनुभव का प्रत्यय 'मैं यह हूँ' रूप का होता है। इसमें 'मैं' और 'यह' की बराबर की स्थिति रहती है। यह स्तर अनुभव की भेदाभेद अवस्था है। यहाँ 'यह' और 'मैं' में तादात्म्य बना रहता है। दोनों में पूर्णतः अभेद है परन्तु वैचारिक दृष्टि से दोनों में भेद भी किया जा सकता है क्योंकि यह स्थिति वस्तुओं के सम्बन्ध की द्योतक है। इस अवस्था में अनुस्यूत अनुभव के प्रमाता मन्त्र प्राणी या विद्येश्वर कहे जाते हैं।

शुद्ध विद्या तत्त्व सदाशिव तत्त्व और ईश्वर तत्त्व के अधिष्ठातृ-देवताओं का करणस्थानीय तत्त्व है।[2] जिस प्रकार परमशिव का बहिः औन्मुख्य शक्तितत्त्व कहलाता है उसी प्रकार सदाशिव और ईश्वर का बाह्य औन्मुख्य शुद्धविद्या तत्त्व कहा जाता है।[1] इस अवस्था में आत्मा अपने आप को शुद्ध संवित्-स्वरूप समझता रहता है। अपने स्वरूप के विषय में कोई अज्ञान नहीं रहता परन्तु अपने अभेद भाव को भूल

३—तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमेश्वरस्येश्वरत्वम्।

—ब्र० सू० शां० भा० २।१।१४

१—क्रियाशक्ति प्राधान्ये विद्या तत्त्वम्। —तंत्रसार आ० ८ पृ० ७४

२—तदधिष्ठातृदेवताद्वयगतं 'करणं' विद्या तत्त्वम्।

—ई० प्र० भा० २, ३।१।५

१—यद्यपि परमशिवस्यैवेदमेकघनमैश्वर्यं तथापि तस्य यथा बाहिरौन्मुख्येन व्यापारः शक्ति तत्त्वं तथा सदाशिवेश्वरयोरपि विद्या तत्त्वम्।

—तं० टी० भा० ६; पृ० ५०।५१

कर अपने को परमेश्वर से, अन्य प्राणियों से और प्रमेय तत्त्वों से पृथक् समझता रहता है। इस प्रकार शुद्ध विद्या के भीतर माया का जैसा दृष्टिकोण अंशतः रहता है परन्तु माया का प्रभाव इस अवस्था में अवस्थित आत्मा पर नहीं होता। वास्तव में यहाँ भेदाभेदमय दृष्टि होती है। यहाँ प्रमाता को 'अहंता' और 'इदन्ता' जैसे दो रूपों का विमर्श होता है, इसलिये उसका विमर्श भेदमय तो है ही किन्तु 'अहंता' और 'इदन्ता' रूप प्रत्यवमर्श होने पर भी वह प्रमाता 'अहंता' की चिद्रूपता की भाँति 'इदन्ता को भी चिद्रूप ही समझता है। अतः 'अहं' और 'इदम्' दोनों में एक ही चिद्रूपता का परामर्श होने के कारण उसकी दृष्टि अभेदमयी भी है।

अशुद्ध अध्वा

शुद्ध अध्वा के बाद माया तत्त्व से लेकर पृथ्वी तत्त्व तक की 'सृष्टि अशुद्ध अध्वा कहलाती है। इसे अशुद्ध सृष्टि अथवा मायीय सृष्टि भी कहा जाता है। अशुद्ध अध्वा में माया का प्राधान्य रहता है और उस मायीय जगत् की सृष्टि माया की सहायता से अघोरेश के द्वारा होती है।[1] माया के मलों का समावेश हो जाने के कारण ही इस अध्वा को अशुद्ध अध्वा अथवा अशुद्ध सृष्टि कहते हैं। काश्मीर शैव दर्शन में माया को भेद-धी अर्थात भेद-बुद्धि कहा गया है।[2] इसलिये माया का प्राधान्य होने के कारण अशुद्ध अध्वा में भेद-ज्ञान का प्राधान्य रहता है। माया के प्रभाव से आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को भूल कर आत्म सीमित हो जाता है। अपनी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता को भूल कर आत्मा को चिद्रूप न समझ कर शरीर को ही आत्मा समझने लगता है। इस प्रकार अपने को सीमित अनुभव कर दुखी होने लगता है।[3] उसे अपने सर्वव्यापी स्वरूप का स्मरण नहीं रहता। अपने को सबसे पृथक् और सबको अपने से पृथक् अनुभव करने लगता है। इस प्रकार से ग्राह्य ग्राहक भाव उत्पन्न हो जाने के कारण ही उत्तरवर्ती सृष्टि अशुद्ध सृष्टि अथवा अशुद्ध अध्वा कहलाती है।

१—अशुद्धं (माया प्रभृति कम्) पुनरध्वानमनन्तापरनामाघोरेशः सृजति, ईश्वरेच्छावशेन प्रक्षुब्धभोगलोलिकानामणूनां भोगसिद्ध्यर्थम्।

—तंत्रसार आ० ८, पृ० ७५

२—मायाविभेदबुद्धिर्निजांशजातेषु निखिलजीवेषु।

—षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह श्लो० ५

३—ई० प्र० वि० भा० २, पृ० २०५

६–माया तत्त्व :—माया तत्त्व अभिव्यक्ति की वह अवस्था है जिसमें विषयी की एकता विविधता में अभिव्यक्त होती है। यहाँ अहम् अंश पुरुष रूप में तथा इदम् अंश प्रकृति रूप में अभिव्यक्त होता है। अचित् में प्रमातृत्व का आभास होने लगता है। इस स्तर पर सार्वभौम आत्मा सीमित आत्मा के रूप में प्रकट होता है। परमेश्वर अपने प्रकाशस्वरूप के आच्छादन की क्रीड़ा करते हुए इस माया तत्त्व का अवभासन करते हैं।[1] यही उनकी स्वातन्त्र्य शक्ति है। भेद का अवभासन करने के कारण ही यह मायाशक्ति कहलाती है।[2] इससे विषयी और विषय की एकता नष्ट हो जाती है। वे अलग जैसा अभिव्यक्त होने लगते हैं। इस स्तर पर माया शक्ति के द्वारा परमेश्वर अपने स्वरूप को आच्छादित कर 'पुरुष' तत्त्व होकर पृथक् हो जाते हैं। माया से मुग्ध कर्मों को अपना वन्धन समझता हुआ यही संसारी पुरुष है। परमेश्वर से अभिन्न होता हुआ भी, इसका मोह परमेश्वर में नहीं होता।

भेदावभासन निमित्त परमशिव की स्वातन्त्र्य शक्ति पशुत्व से संलग्न होने के कारण माया से अभिहित होती है। इसे परमेश्वर की स्वरूपगोपनात्मिका इच्छा शक्ति भी कहा गया है।[3] माया ईश्वर की दैवी शक्ति है क्योंकि परमेश्वर का जो विश्व निर्मातृत्वस्वरूप परम स्वातन्त्र्य है उसका सम्पादन कराने वाली है। वास्तव में वैचित्र्यपूर्ण सृष्टि-निर्माण करना अति दुरूह कार्य है, उसका ईश्वर से अन्य किसी के द्वारा होना सम्भव भी नहीं। अतएव माया शक्ति ईश्वर की ही शक्ति है और उससे अभिन्न है।

माया का स्वरूप तिरोधानकारी है।[4] वह अपने दुर्घट संपादन-सामर्थ्य से शुद्ध प्रमाता के प्रकाशस्वरूप को तिरोधान कर देती है जिससे वह अनवच्छिन्न प्रकाश रूप से परिच्छिन्न प्रकाशरूप हो जाता है। जो अपनी पूर्णता में शिव था वही संकोच ग्रहण के कारण जीव बन जाता है। भेद दृष्टिमयी माया के प्रभाव

१—देवः स्वतंत्रचिद्रूपः प्रकाशात्मा स्वभावतः।
रूपप्रच्छादनक्रीडायोगादणुनेककः॥

—तं० आ० भा० ८-१३।१०३

२—परमेश्वरस्य भेदावभासने स्वातन्त्र्यं तदेवाव्यतिरेकिणीअपूर्णताप्रथनेन मीनाति हिनास्ति इति मायाशक्तिः उच्यते।

—तं० लो० टीका भा० ६, पृ० ११६

३—मायास्वरूपगोपनात्मिका पारमेश्वरी इच्छाशक्तिः।

—तंत्रालोक टीका भा० ३, पृ० २८३

४—तिरोधानकारी मायाभिधा पुनः। —ई० प्र०, भा० २, ३।१।७

से इस स्तर पर उतरा हुआ शिव अपने प्रमातृ अंश 'अहं' को अपने प्रमेय अंश 'इदम्' से सर्वथा भिन्न समझने लगता है। उसकी अभेद दृष्टि इस अवस्था में सर्वथा छिप जाती है और भेद दृष्टि से देखता हुआ शुद्ध 'अहं' रूपी अपनी संवित् स्वरूपता को भूल जाता है और अपने आप को संकुचित्-संवित् के रूप में समझने लगता है तथा अपने प्रमेय अंश 'इदम्' को अपने से सर्वथा भिन्न अचेतन मानने लगता है।

इस प्रकार परम स्वतन्त्र स्वात्मदेव को जो अपूर्णता स्वरूप पशुत्व में परिमित या सीमित कर दे वही उसकी अभिन्न माया शक्ति है। माया की दो मुख्य शक्तियाँ मानी गयी हैं।

परानिशा :—परानिशा समस्त भाव पदार्थों की अभिव्यक्ति का कारण है, अर्थात् अनन्त भाव पदार्थ अव्यक्त रूप से उसी में गर्भस्थ हैं। माया अपने जिस रूप में समस्त 'जड़ाभास' का मूल कारण है उसे माया तत्त्व कहा गया है। जिसमें माया तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है और जो अविभक्त भेदावभास की आद्यादशा है उसे परानिशा कहा गया है।।[1]

विमोहिनी :—विमोहिनी ईश्वर की वह शक्ति है जिसके द्वारा पूर्ण चिदात्म अपने को परिच्छिन्न या सीमित रूप में कर लेता है। माया के प्रभाव से अनात्म रूपों में आत्म भाव का भान होना तथा चिन्मय भावों को भी अपने से सर्वथा भिन्न जड़ रूप समझने के कारण माया को विमोहिनी शक्ति कहा गया है।[2] माया के इस स्वरूप को तिरोधानकारी कहा गया है। यह वास्तविक स्वरूप का आच्छादन कर पुनः अज्ञान का प्रसार कर ज्ञान का प्रतिषेध करती है। माया की विमोहन शक्ति अचेतन आदि में कर्तृत्वरूप मिथ्याभिमान का प्रसार कर ज्ञान को परिच्छिन्न कर देती है।

मायाशक्ति अनात्मस्वरूप प्राण, बुद्धि एवं शरीर का आत्मा के साथ एकत्व स्थापित करती है। अभिनवगुप्त इन बुद्धि आदि को वास्तव में चित् से अभिन्न मानते हैं। माया ही के द्वारा ये चित् से पृथक् अथवा भिन्न रूप से अवभासित किये जाते हैं। माया को विमोहन शक्ति के रूप में स्वीकार करना

१—आद्यो भेदावभासो यो विभाग मनुपेयिवान्।
गर्भीकृतानन्तभावविभासा सा परा निशा॥

—तंत्रालोक भा० ६, ९।१५०।१५१

२—माया विमोहिनी नाम। —विज्ञान भैरव का० ९५

आवश्यक है क्योंकि यदि परमशिव को चित्, आनन्द, इच्छा ज्ञान एवं क्रिया से युक्त, पूर्ण तथा विश्व का उसके साथ एकत्व मान लिया जाता है तो अनेकत्व तथा परिच्छिन्नता की उत्पत्ति का क्या कारण है। अभिनवगुप्त ने इसे तिरोधानकारी माया का कार्य बताया है। माया की विमोहिनी या तिरोधान शक्ति से ही ये कार्य संपादित हो सकते हैं।

माया व्यक्ति को विचलित करने वाली बतायी गयी है। वह उसकी बुद्धि को भ्रमित कर देती है तथा परमतत्त्व के विषय में अन्यथा ज्ञान उत्पन्न कर देती है। गीता के राग-द्वेष के समान प्रत्यभिज्ञा दर्शन में माया मनुष्य को सब प्रकार से मोहित करने वाली तथा उसे विचलित करने वाली है। माया व्यक्तियों को मुक्ति की लालसा से बन्धन में ही फँसाये रखती है।

काश्मीर शैव दर्शन में माया का स्वरूप तीन प्रकार से वर्णित है—जड़, व्यापक तथा सूक्ष्म। व्यावहारिक जगत् में चिदात्मा से पृथक् होने के कारण यह अचेतन है तथा इसके कार्य भी अचेतन हैं। भेद रूप सृष्टि करने के कारण माया को जड़ कहा गया है, क्योंकि माया में भेदरूप से पदार्थों का प्रकाशन होता है[1] और इस दर्शन के अनुसार ज्ञान (प्रकाश) की परिच्छिन्नता ही जड़ता का लक्षण है।[2]

संसार का कारण होने के कारण माया व्यापिनी तथा कार्यों की कल्पना करने के कारण सूक्ष्म कही जाती है। परमेश्वर की शक्ति होने के कारण यह नित्य है तथा विश्व का कारण है। पृथ्वी पर्यन्त समस्त तत्त्व इसमें निहित हैं।

काश्मीर शैव दर्शन में माया और अविद्या में विभेद नहीं किया गया है। प्राणियों में भेद उत्पन्न करने वाली माया को ही अविद्या कहते हैं। काश्मीर शैव दर्शन में माया-कलादि षट्कंचुकोत्पादित आणवादि मलों को भी अविद्या के नाम से अभिहित किया गया है। इसी को अज्ञान भी कहते हैं क्योंकि यह अनात्मा में आत्मबुद्धि उत्पन्न कराने वाली है। ज्ञान के विपरीत स्वरूप वाली होने के कारण इसको मिथ्या-ज्ञान भी कहा जा सकता है।

अद्वैत-वेदान्त में भी माया को स्वीकार किया गया है तथा माया या अविद्याकृत अध्यास का आलम्बन कर सम्पूर्ण लौकिक, वैदिक व्यवहार, विधि और

१—सा जडा भेदरूपत्वात्।—तंत्रालोक भा० ६, ९। १५१।

२—'प्रकाशपरिच्छिन्नत्वं जडस्य किल लक्षणम्।"
तंत्रालोक टीका भा० ६, पृ० २२७

निषेध तथा मोक्ष की व्याख्या की गयी है।[१] माया से उपहित ब्रह्म ईश्वर के रूप में प्रकट होकर जीवों के पूर्व के कर्मों के अनुसार संसार की सृष्टि करता है।[२] इसलिये यहाँ माया की प्रवृत्ति आगन्तुक है। यह सदसद्विलक्षण होने से अनिर्वचनीया है। यह परमसत्ता से असंहृत रूप से सम्वद्ध है और अन्ततोगत्वा इसे मिथ्या कहा गया है।[3]

काश्मीर शैव दर्शन में माया की प्रवृत्ति आगन्तुक नहीं है। वह आत्मा का स्वेच्छया गृहीत रूप है। जिस प्रकार अभिनेता जान बूझ कर नाना प्रकार का अभिनय करता है, उसी प्रकार परमशिव भी अपनी इच्छा मात्र से अनेक प्रकार की भूमिका ग्रहण करता है।[४] परमेश्वर परम स्वतन्त्र है। अपने स्वरूप को छिपाने में भी समर्थ है और उसे प्रकट करने में भी। जब वह स्वरूप को छिपाता है तब भी वह अनावृत रूप से च्युत नहीं होता। माया उसकी उपाधि नहीं प्रत्युत् उसकी सृष्टि है। सृष्टि की भेदाभेद अवस्था में परमशिव सामान्य इदं रूपी अपने विषय को ही स्वयं माया नामक अशुद्धतत्त्व का रूप देकर उसकी सृष्टि करते हैं। इनकी सृष्टि होने से माया उन्हें वैसे प्रभावित नहीं कर सकती जैसे अद्वैत-वेदान्त के ब्रह्म को माया प्रभावित कर देती है। यह उनकी स्वातन्त्र्य शक्ति का उन्मेष मात्र है।

माया के पाँच कंचुक :—काश्मीर शैव दर्शन में माया से क्रमशः कला, विद्या, राग, काल तथा नियति का प्रादुर्भाव माना गया है। कला से लेकर पृथ्वी पर्यन्त समस्त पदार्थ माया ही कहे जाते हैं। पुरुष के स्वरूपाच्छादन होने के कारण ये कला आदि पंच कंचुक अथवा माया षट्-कंचुक कहलाते हैं। ये तत्त्व परिमित शक्तियाँ ही हैं। माया जनित ये शक्ति संकोच जीव के पूर्ण स्वरूप को आवृत्त किये रहने के कारण आवरण कहलाते हैं। इन संकुचित शक्तियों से अपूर्णता में आवद्ध होने के कारण इन कंचुकों को जीव का वन्धन या पाश भी कहा जाता है। ये पाश जीव के वाह्य वन्धन न होकर उसके अन्तरंग स्वभाव-संकोच के धर्म हैं।[५]

१—तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यास पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाण प्रमेय व्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः सर्वाणि च शास्त्रापि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि।—

च० सू०, उपोदघात, पृ० २४-२५.

२—सापेक्षोहीश्वरो विषयां सृष्टिंनिर्मिमीते।—ब्र० सू० शां० भा०, २-१-३-४,

३—······मिथ्येति भवितुं युक्तम्।—च० सू० उपोदघात, पृ० २६५

४—नर्तक आत्मा।—शिवसूत्र ३।९

५—कलाविद्यारागकालनियतिर्बन्ध उच्यते।

—अनुत्तर प्रकाश पंचाशिका, श्लो० १६

परमशिव सर्वकर्ता, सर्वज्ञ, पूर्ण, नित्य, व्यापक असंकुचित शक्ति संपन्न होता हुआ भी, अपनी इच्छा से संकुचित होकर कला, विद्या राग, काल तथा नियति, माया के इन पाँच कञ्चुकों के रूप में स्वयं अभिव्यक्त होता है। इन्हीं पाँच कंचुकों के कारण क्रमशः परमशिव के उपर्युक्त गुणों में भी संकोच हो जाता है। इसलिए कुछ ही करने का सामर्थ्य, कुछ ही जानने का सामर्थ्य, अपूर्णता का बोध, अनित्यत्व का बोध तथा संकुचित शक्ति का ज्ञान 'पुरुष' को अपने में होने लगता है।

काश्मीर शैव दर्शन का जीव रूप प्रमाता अर्थात् पुरुष वास्तव में संवित् स्वरूप ही होता है। परन्तु संकुचित हो जाने के कारण उसमें स्वातन्त्र्य रूप ऐश्वर्य की अनुभूति का अभाव होता है। इसलिए संवित् स्वरूप होते हुए भी उसे शिव न कह कर जीव कहा जाता है। ऐश्वर्यहीनता के कारण यह सीमित होता है। इस प्रकार माया के प्रभाव के कारण संवित् स्वरूप होते हुए भी प्रमाता अपनी संवित् स्वरूपता को भूल कर सीमितता को ही अपना स्वरूप समझने लगता है। इस तरह से माया प्रमाता की चेतनता का अपहरण करती है और ऐसा करके उसे परिच्छिन्न बना देती है।

७—कला :—इसकी उत्पत्ति माया से होती है। यह आत्मा के सर्वकर्तृत्वस्वरूप को आच्छादित कर देती है। तदनन्तर जीव को परिमित कर्तृत्त्व का अनुभव कराती है।[1] इस अवस्था में कुछ करता हूँ, का अनुभव होने लगता है। काश्मीर शैव दनर्श में कला को तत्त्व रूप में शास्त्रीय मान्यता प्राप्त है क्योंकि इसके द्वारा ही मानव की परिमित शक्ति की व्याख्या होती है। कला से ही प्रधान (प्रकृति) की उत्पत्ति होती है।[2] कला माया का कार्य तथा विद्यादि का कारण भी है अर्थात् अग्रिम विद्या, राग, काल आदि चार तत्त्वों की उत्पत्ति कला से होती है।

कला तत्त्व माया का प्रथम उत्पादन है।[3] कहीं-कहीं काल को भी प्रथम कंचुक कह दिया गया है।[4] परन्तु सामान्यतः कला को प्रथम माना जाता है। माया

१—तत्सर्वकर्तृता सा संकुचिता कतिपयार्थमात्रपरा।
किंचित्कर्तारमुमं कलयन्ती कीर्त्यते कला नाम॥
—षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह श्लो० ८

२—वेद्यमात्रं स्फुटम् भिन्नं प्रधानं सूयते कला।
—तंत्रालोक आ० ९, पृ० १७७

३—तंत्रालोक भा० ६—९। १६६—१६७

४—माया परिग्रहवशाद-बोधोमलिनः पुमान स पशुर्भवति। काल-कलानियतिवशाद-रागविद्यावशेन संबद्धः॥—परमार्थसार श्लो० १७

प्रमाता की चेतना का अपहरण कर उसे जड़ सा बना देती है। पर पूर्ण जड़त्व से काम भी नहीं चल सकता अतः काम चलाने के लिए थोड़ा सा चेतना का अंश भी दे देती है।[1] वह चेतना का अंश उसे कुछ-कुछ करने की शक्ति प्रदान करता है। यह कला तत्त्व है जो आत्मा के लिये क्रियाशक्ति एकत्रित करता है।

८–विद्या :—इसके संसर्ग से परम प्रकाश स्वरूप परमेश्वर की सर्वज्ञ शक्ति अर्थात् ज्ञान शक्ति संकुचित हो जाती है। बाद में चेतन एवं अचेतन इन्द्रियादि में सीमित ज्ञान का उदय होता है। सीमित ज्ञान का मुख्य कारण होने से इसे विद्या कहा जाता है।[2] जीव कुछ ही जान सकता है। अतः प्रमेयों को अपने से सर्वथा भिन्न समझता है। उसकी इस संकुचित ज्ञान रूपा विद्या को 'अशुद्ध विद्या' कहा जाता है। यह पुरुषों में विवेक शक्ति के रूप में स्थित है। इन्द्रिय प्रणालिकाओं से बुद्धि में सुख-दुःख आदि प्रतिसंक्रान्त होते हैं और उसका विवेचन विद्या करती है। यह बुद्धिरूपी दर्पण में प्रतिबिंबित नील-पीत आदि बाह्य और सुख-दुःख आदि आभ्यन्तर वेद्यभावों का विवेचन करके जीवात्मा को उनसे होने वाले सुख दुखादि प्रत्ययों से अवगत कराती है।[3] विद्या ज्ञान की सीमित शक्ति है, जो सर्वज्ञता के स्थान पर सीमित ज्ञातृता को उत्पन्न करती है। यह बुद्धि तत्त्व से भिन्न है जो अचेतन है। बुद्धि सत्वरूपा होते हुए भी गुणों का कार्य होने के कारण जड़ है। इसलिए जड़रूपा बुद्धि अपने में प्रतिबिंबित भावों को पृथक्-पृथक् कर उनसे उत्पन्न सुख-दुःख आदि प्रत्ययों का ज्ञान मितात्मा को नहीं करा सकती।[4]

९—राग :—राग तत्त्व पूर्णत्व को परिमित करके पुरुष में इच्छा या कामना का उदय कराता है। इस प्रकार यह सीमित इच्छा शक्ति ही है जिस पर किसी वस्तु का वरण करना अथवा निषेध करना निर्भर है। सुन्दरता आदि गुणों का शरीर के ऊपर अध्यारोप राग तत्त्व ही के कारण होता है। इस राग तत्त्व नामक कंचुक को वैराग्य का अभावरूप राग नहीं समझा जा सकता क्योंकि वह तो बुद्धि का एक

१—एवं कला विद्याकालरागनियतिभिरोतप्रोतो माययापहृतैश्वर्य सर्वस्वः सन् पुनरपि प्रतिवितीर्णतत्सर्वस्व राशिमध्यगतभाग मात्र एवं भूतोऽयं मितः प्रमाता भाति।
—(ई० प्र० वि० ३-१-९)

२—सर्वज्ञातस्य शक्तिः परिमिततनुरल्प वेद्यमात्रपरा।
ज्ञानमुत्पादयन्तीविद्येति निगद्यते बुधैराद्यैः॥
—षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह श्लो० ९

३—ई० प्र० वि० भा० २, पृ० २०८

४—षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह विवरण पृ० ७

धर्म विशेष है, पुरुष का कंचुक नहीं। यह राग तत्त्व बुद्धि की भूमिका से ऊपर का तत्त्व है और बुद्धि के धर्म 'स्थूल-राग' से सूक्ष्मतर है।[1]

माया से स्वरूप संकोच हो जाने के कारण मितात्मा समस्त विश्व को आत्म-भाव से न देखकर शरीर जैसी वस्तु को 'अहम्' (मैं) अथवा मम् (मेरा) समझता है तथा उसे अत्यन्त गुणशालिनी मानने लगता है। मितात्मा के देह आदि प्रभातृभाव और प्रमेय में इस तरह के गुणारोपणमय आसक्ति को राग कहते हैं।[2] राग व्यक्तियों में विषय के लिये लालसा उत्पन्न करता है। शाश्वत संतुष्टि के अनुभव के बदले यह आत्मा में काल की सीमितता को उत्पन्न करता है। इसके कारण, शाश्वत क्षणिक प्रतीत होता है। यह राग तत्त्व मितात्मा को भेदगत भोगों में अनुरंजित करता है।[3]

यह राग तत्त्व द्वेष के विरोधी भाव राग से भिन्न है। वह अन्तःकरण का एक स्वभाव होता है। राग तत्त्व अन्तःकरण तत्त्वों से बहुत ऊपर स्थित है। यह मायीय प्रमाता को पुरूष तत्त्व के रूप में प्रकट करने वाला एक संकोचक तत्त्व होता है।

१०-काल :—काल तत्त्व चिदात्मा के नित्यत्व स्वरूप को संकुचित कर उसको काल-क्रम में ग्रथित कर परिमित कर देता है। वह पूर्ण नित्यत्व भूत, भविष्य तथा वर्तमान क्रम में आवद्ध हो जाता है तथा इसी के अनुसार अनुभव भी होता है। इस प्रकार कोई वस्तु पहले और कोई पीछे और कोई अनन्तर अवभासित होने लगती है।[4] इस प्रकार के पौर्वापर्य का क्रम 'काल' कहलाता है।[5] इस क्रमरूपता का अवभासन करने वाली पारमेश्वरी शक्ति ही 'काल शक्ति' कही जाती है।[6] मैं कृश हूँ या स्थूल हूँ अथवा अमुक वस्तु मुझे पूर्व ज्ञात थी, जानता हूँ तथा जानूँगा आदि नाना प्रकार की कल्पनाएँ काल तत्त्व के द्वारा ही हुआ करती हैं।

१—ई० प्र० वि० भा० २, पृ० २०९

२—ई० प्र० वि० भा० २, पृ० २०९.

३—रागोऽपि रंजयत्येन स्वभोगेष्वशुचिष्वपि।

—मालिनी वि० त० १। २८

४—ई० प्र० वि० भा० २, पृ० २०८

५—क्रम एव च कालो।—ई० प्र० वि० भा० २ पृ० ९

६—सेयम इत्थंभूताभासवैचित्र्यप्रथनशक्तिः भगवत् काल शक्तिः इत्युच्यते।

—ई० प्र० वि० भा० २, पृ० १२

११ नियति :—नियति तत्त्व परम स्वातन्त्र्य एवं व्यापकत्व को सीमित कर एक निश्चित नियमितता का प्रसार करता है। इसके अनुसार एक निश्चित कारण से ही निश्चित कार्य की प्राप्ति हो सकती है, यथा अग्नि से ही धूम रूपी कार्य का निकलना हो सकता है। इस प्रकार जिस पुण्या-पुण्य से आत्मा का नियमन होता है वही इसका नियति तत्त्व है। नियति वह शक्ति है जो विषयी की कारणात्मक क्षमता को सीमित करती है। यह सीमित कर्ता के क्रिया-कलापों को नियन्त्रित करती है।

विद्या और कला के द्वारा जीवात्मा कुछ वस्तुओं को जानने और करने में समर्थ होता है किन्तु किंचित-रूप समझे जाने वाले वेद्य अंशों के समान होने पर भी वह 'कुछ' के प्रति ही क्यों उन्मुख होता है और 'अन्य' के प्रति उन्मुखता क्यों नहीं होती। विद्या और कला का नियमन राग करता है और राग का यह नियमन नियति करती है।[१] नियति के नियमों के अनुसार ही जीव में वस्तु विशेष के प्रति राग उदय होता है।[२] यह मूलतः सबकी नियामिका है। इसी के नियम के अनुसार प्रत्येक प्राणी अपने पूर्व कर्मों के फल को भोगने के लिए वाध्य बना रहता है।

१२-पुरुष तत्त्व :—जब परम तत्त्व माया और इसके कंचुकों के प्रभाव से सीमित विषयी का रूप ग्रहण कर संसारी हो जाता है, इसे पुरुष कहा जाता है। परमशिव अपनी स्वतन्त्रेच्छा से अपनी परिपूर्ण स्वभाव को छिपाकर सर्वज्ञता और सर्वकर्तृता को भूल जाने की कल्पना कर डालता है और ऐसा हो जाने पर अपने आपको अगणित अल्पज्ञ और अल्पकर्ता जीवों के रूप में प्रकट कर देता है।[3] शिव का अपने स्वातन्त्र्य भाव से परिगृहीत यह परिमित भाव ही पुरुष तत्त्व है।[४] इस अवस्था में आत्मा सीमित हो जाता है और अपने मूल स्वरूप को भूल जाता है। पाँच सर्वोच्च मूल शक्तियों, चित्, आनन्द आदि के स्थान पर आत्मा अब कला, विद्या आदि गुणों को ग्रहण करता है जो आत्मा के सच्चे स्वरूप को छिपाते हैं।

१—ई० प्र० वि० भा० २, पृ० २०९

२—नियतिः ममेदं कर्तव्यं इतिनियमन हेतुः।

—पराप्रावेशिका, पृ० ९!

३—पर एव प्रकाशः स्वस्वातन्त्र्यात् स्वरूपगोपायित्वायदासंकुचितात्मतायवभासयति तदा सकल एवायं भेदव्यवहार समुल्लसेत।—त० लो० टी० भा० ६ पृ० १५६

४—मायाग्रहीत संकोचः शिवः पुंस्तत्त्वमुच्यते।—अनुत्तर प्रकाश पञ्चाशिका,

—श्लो० २२

पुरुष अस्तित्व की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न नाम ग्रहण करता है। जब यह शरीर आदि से अपना तादात्म्य स्थापित करता है, यह देह प्रमाता कहलाता है।[1] जब यह विश्व के किसी विषय के सम्बन्ध से स्वतन्त्र रहता है जैसे प्रलय में, प्रलयाकल कहलाता है। जब यह कर्म से स्वतन्त्र रहता है, इसे विज्ञानाकल कहते हैं। कंचुक रूपी पाशों से आवद्ध होने के कारण जीव को पशु भी कहा गया है।[2] पुरुष तत्त्व अतीव संकुचित 'अहं' का नाम है। यह अणु, जीव, पुमान, मितात्मा, पुद्गल आदि विविध नामों से अभिहित किया गया है।[3]

पुरुष तत्त्वतः शिव ही है किन्तु माया के तिरोधानकारी प्रभाव से अपने स्वरूप को भूलकर परिमित जीव बन जाता है। इस प्रकार अज्ञानवश अपने को वन्धन में डाल लेता है। जब तक उसे शिव भाव के स्वातन्त्र्य का बोध नहीं होता तब तक वह अनेकानेक जीव योनियों में संचरण करता हुआ अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुःख आदि को भोगता रहता है।[4] आत्मस्वभाव की पूर्णता की अभिव्यक्ति हो जाने पर वह मुक्त हो जाता है।[5]

काश्मीर शैव दर्शन और सांख्य दर्शन के पुरुष तत्त्व विषयक अवधारणाओं में उल्लेखनीय साम्य है। दोनों ही दर्शन पुरुष वहुत्व को स्वीकार करते हैं। दोनों की दृष्टि में प्रकृतिकृत गुणमयी सृष्टि का प्रयोजन पुरुष के कर्मों के अनुसार उसके भोग और मोक्ष के लिये क्षेत्र प्रदान करना है।

पुरुष में मल और षट्-कंचुक मानना काश्मीर शैव दर्शन की अपनी विशेषता है जो सांख्य में नहीं है। सांख्य की दृष्टि में असंख्य पुरुष स्वतन्त्र और निरपेक्ष सत्ताएँ हैं; परन्तु काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार पुरुष परमसत्ता के आभास हैं। एक स्वप्रकाश संविद् ही भिन्न-भिन्न आत्माओं में स्फुरित होता है।[6] सांख्य के अनुसार पुरुष पुष्करपलाशवत्' निर्लेप किन्तु चेतन होता है। काश्मीर शैव

१—अभिनवगुप्त, पृ० २५०

२—ई० प्र० वि० भा० २, पृ०२२०

३—इदमेव च पंचविंश पुंस्तत्त्वमित्युच्यते, यत श्रीपूर्वशास्त्रेपु पुमानिति, अणुरिति, पुद्गलमिति चोक्तम्।—तं० लो० टी० भा० ६ पृ० १६५

४—परिमितात्मा स स्वात्मैश्वर्यमपि प्रत्यभिज्ञातुमपटुः संचरति विचित्रयोनिपु। —षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह विवरण, पृ० ५

५—स्वशक्त्यभिव्यक्ता मोक्षः।—परमार्थसार का० ६०

६—स्वप्रकाश संविदेव एका तत्तदात्मना स्फुरति।—तं० लो० टी० १, पृ १०३

दर्शन पुरुष को उतना ही चेतन मानते हुए भी मल और षट्-कंचुकों के प्रभाव को संयुक्त करके उतना निर्लेप स्वीकार नहीं करता।

१३–प्रकृति :—परमशिव के भेदमय दृष्टिकोण से अवभासित होता हुआ उसका जो वेद्यरूप विश्व का अविभक्त सामान्य रूप है उसे प्रकृति तत्त्व कहा जाता है। यह सत्त्व, रजस और तमस की साम्यावस्था है। महत् तत्त्व से लेकर पृथिवी तत्त्व पर्यन्त सभी तत्त्वों का मूल कारण प्रकृति तत्त्व है। शून्य आदि प्रमाता के अपने आप से व्यतिरिक्त वेद्यरूप वाले प्रकृति तत्त्व से कार्य और करण भाव से तेईस प्रकार के प्रमेयों का विकास होता है।[1] पुरुष भोक्ता है और प्रकृति उसकी भोग्या है। परन्तु वास्तव में दोनों एक ही हैं। दोनों की अभिव्यक्ति एक साथ होती है। जिस प्रकार पुरुष जगद्-उन्मेष रूपी क्रीड़ा करने वाले परमेश्वर की आत्म कल्पना है उसी प्रकार प्रकृति उसकी वेद्यकल्पना है।[2]

काश्मीर शैव दर्शन और सांख्य, दोनों ही दर्शनों में प्रकृति का सत्त्व, रज और तम की अक्षुब्ध दशा माना गया है और इसके परिणामभूत सम्पूर्ण प्रमेयों को सुख-दुःख और मोहात्मक माना गया है।[3] सत्, रज और तम, ये तीनों जगत् की भेदावस्था में परमेश्वर की क्रमशः ज्ञान, क्रिया और माया शक्ति की संकुचित अभिव्यक्तियाँ हैं।[4] सांख्य दर्शन में प्रकृति जड़ है और पुरुष क्रिया विहीन होते हुए भी चेतन है। कर्तृत्व का अभाव होने से चेतन पुरुष प्रकृति के क्षोभ में कारण नहीं बन सकता है और प्रकृति पुरुष के पूर्वकृत कर्मों के अनुरूप उसके भोगापेक्षिक अनादि संयोग से विक्षुब्ध होकर जगत् रूप में परिणमित हो जाती है।[5] परन्तु काश्मीर शैव दर्शन में प्रकृति स्वयमेव विक्षुब्ध नहीं होती। प्रकृति को भगवान् अनन्तनाथ पुरुषों के कर्मों के आधार पर उन्हें सुख-दुःख का अनुभव कराने के लिए क्षुब्ध करते हैं।[6]

१—तयोविंशतिधामेयं यत्कार्यकरणात्मकम्।
तस्याविभागरूप्येकं प्रधानं मूलकारणम्।—ई० प्र० प्र० भा० २ ३। १। १०।

२—इदमेव हि परं स्वातन्त्र्यं-यत-स्व स्वरूपं वेदकमेव सत् वेद्यत्वेन अवभासयति।
—तं० विवेक भा० १, पृ० २०९.

३—तावदेष एव सुख-दु.ख मोहात्मक भोग्यविशेषानुस्यूतस्यसामान्यमात्रस्य तद्गुण सामान्यापरनाम्नः प्रकृतितत्त्वस्य सर्ग :—तंत्रसार पृ० ८३

४—स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या।
मायातृतीये त एव पशोः सत्वंरजस्तमः।'—ई० प्र० वि० ४-१-४

५—सांख्यतत्त्वकौमुदी का० २१ पृ० १७३-१७४.

६—भोक्तृत्वाय स्वतंत्रेशः प्रकृति क्षोभयेद्यमम।—तं० लो० ६, १-२.५

सांख्य दर्शन में असंख्य पुरुषों की प्रकृति एक है। परन्तु काश्मीर शैव दर्शन में प्रकृति भी अनेक हैं। प्रत्येक पुरुष के लिये पृथक्-पृथक् प्रकृति है।[1]

अन्तःकरण

१४–बुद्धितत्त्व—मूल प्रकृति में क्षोभ के फलस्वरूप गुणों में विषमता आ जाती है। अपने परिणाम-क्रम में प्रकृति सर्वप्रथम अन्तःकरणों के रूप में प्रकट होती है। अन्तःकरणों में सवसे पहले सत्त्वगुण प्रधान महत् तत्त्व प्रकट होता है। इसी तत्त्व को बुद्धि तत्त्व कहा जाता है। यह एक स्वच्छ जड़ तत्त्व होता है। अपनी स्वच्छता के प्रभाव से यह अगली सृष्टि में सन्निहित वस्तुओं के प्रतिविम्ब को धारण कर सकता है। प्रमाता के प्रतिविम्ब को धारण करने से यह चेतन जैसी प्रतीत होने लगती है और चेतन की तरह काम करने लगती है। यह अपने भीतर प्रतिविम्वित विषय को पुरुष के प्रति प्रकाशित करती है। बुद्धि ही प्रतिविम्वित विषय के नाम रूप की कल्पना करती है। प्रमेय को प्रकाशित और नाम रूप की कल्पना कर के यह ज्ञान का साधन बनती है। बुद्धि ही पुरुष का सबसे प्रधान और निकटतम करण तत्त्व है।

बुद्धि इस स्थूल सृष्टि में पुरुष के शरीर के अन्तः अर्थात् भीतर रह कर ही कार्य करती है। अतः इसे अन्तःकरण कहा करते हैं। यह वाहर के विषयों को चक्षु आदि वाह्य करणों की सहायता के विना प्रकट नहीं कर सकती। इसलिये भी यह वाह्य करण न होकर एक अन्तःकरण ही होता है। इसके विना पुरुष प्रमेय के प्रति किसी भी व्यवहार को कर ही नहीं सकता।

१५–अहंकार:—'यह मेरा है' 'यह मेरा नहीं है' इस प्रकार अभिमान का साधन 'अहंकार' तत्त्व है। अहंकार बुद्धि पर आत्मा के अध्यारोपण के कारण पैदा होता है और इस प्रकार बुद्धि का एक उत्पादन है। विषय के प्रतिविम्व के सविकल्प या निर्विकल्प आभास को जीव के साथ सम्बद्ध करने वाली उसकी शक्ति अहंकार कहलाती है। निश्चित या अनिश्चित दोनों प्रकार के प्रतिबिम्व बुद्धि दर्पण में पड़े रहते हैं। परन्तु अहंकार के प्रभाव से जीव यह समझता है कि इन्हें मैं जानता हूँ। इसी प्रकार से बुद्धि या शरीर या प्राण की क्रियाओं के विषय में जीव को यह अभिमान होता रहता है कि 'मैं करता हूँ'[2] अथवा शरीर या प्राण को वह समझने लगता है कि 'मैं हूँ'। यह भी एक अन्तःकरण तत्त्व है।

१—तच्चप्रति पुंनियतत्वात् अनेकयः।—तं० लो० टी० ६, पृ० १७२.

२—ग्राह्-ग्राहकभिमानरूपोऽहङ्कारः! —ई० प्र० वि० ३-१-११

१६–मनसतत्त्व—'करूँ या न करूँ' इस प्रकार संकल्प और विकल्प का कारण 'मन' है। मनस् अहंकार का उत्पादन है। यह जीव की 'मनन' शक्ति है। विषय ज्ञान के सन्दर्भ में जब इन्द्रियों द्वारा चित्त पर विषय का प्रतिविम्ब पड़ जाता है तो सर्वप्रथम किसी वस्तु के होने का आभास मात्र होता है। उस क्षण में कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि वह वस्तु क्या है। इस प्रकार वस्तुत्व का आभास तो बुद्धि द्वारा हो जाता है परन्तु वस्तु के स्पष्ट और निश्चित नाम रूप की कल्पना नहीं हो पायी रहती। इस प्रकार की अवस्था में मन वस्तु के विषय में अनेकों सम्भाव्यमान नाम रूपों की कल्पना करती है। इस कल्पना की कर्त्री शक्ति को 'मन' कहते हैं। यह भी एक अन्तःकरण है।

१७–२१ पांच ज्ञानेन्द्रियाँ :—अहंकार के और परिणमित होने पर पांच ज्ञानेन्द्रियों की अभिव्यक्ति होती है। ये ज्ञानेन्द्रियाँ पुरुष की अशुद्ध विद्या की सहायक कही गयी हैं। पुरुष के संकुचित ज्ञान सामर्थ्य को उसकी अशुद्ध विद्या कहा गया है। ये ज्ञानेन्द्रियाँ पुरुष के भिन्न-भिन्न प्रकार की क्षमतायें हैं जो उसके भिन्न व्यवहारों की साधन बनती हैं। उनमें से (१) श्रोत्र शब्द और समस्त शब्दात्मक विषय के प्रतिविम्ब को ग्रहण करता हुआ उसे बुद्धि के समक्ष प्रस्तुत करता है। श्रोत्र पुरुष के सुनने की क्षमता को कहते हैं। यह स्थूल शरीर में कान के छिद्र में स्थित होता है।

(२) शीत, उष्ण, नम, कठोर आदि स्पर्शों को जानने की पुरुष की क्षमता को त्वक् या त्वचा कहते हैं। यह इन्द्रिय स्थूल शरीर के सारे अंगों में रहती है।

(३) रूप वर्ण, आकार आदि जानने की पुरुष की क्षमता को अथवा साधन को चक्षु कहते हैं। यह इन्द्रिय स्थूल शरीर में आंखों के तारों में स्थित होती है।

(४) खट्टा, मीठा, नमकीन आदि स्वाद जान लेने का साधन बना हुआ पुरुष का करण साधन रसना है। स्थूल शरीर में इसका स्थान जीभ का अग्र भाग होता है।

(५) गन्ध को जान लेने के पुरुष के ज्ञान साधन को घ्राण-इन्द्रिय कहते हैं। स्थूल शरीर में यह इन्द्रिय नाक के छिद्रों के मुख पर स्थित होती है।

ये पाँचों इन्द्रियां विषयों के प्रतिविम्वों को लेकर बुद्धि के दर्पण में डाल देती हैं। बुद्धि उन प्रतिविम्वों को विशेष आकार में प्रकट करती है और बुद्धि में प्रतिविम्वित पुरुष अपनी चेतना के बल से उन निर्विकल्प या सविकल्प आकारों को विषय के रूप में जान लेता है। ये इन्द्रियाँ स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों में

रहती हैं क्योंकि ऐसी मान्यता है कि सूक्ष्म शरीर में भी रहता हुआ जीव सभी विषयों को ग्रहण कर सकता है।

२२–२६ पाँच कर्मेन्द्रियाँ :—पुरुष की कला में उपयुक्त होने वाली उसकी इन्द्रियां कर्मेन्द्रियां कहलती हैं। इन कर्मेन्द्रियों के सहारे ही पुरुष किसी कार्य में क्षम होता है।

(१) वाक् उसके बोलने का साधन है। स्थूल शरीर में यह जीव के मुख में रहती है। इस वाक् की अभिव्यक्ति प्राणवायु के आघात से होती है। इस वाक् को वैखरी वाणी कहते हैं। मध्यमा, पश्यन्ती और परा इस इन्द्रिय के अधिकार क्षेत्र में नहीं हैं।

(२) पुरुष के ग्रहण करने की क्रिया का साधन पाणि इन्द्रिय कहलाता है। स्थूल शरीर में इसका स्थान हाथ है। यह क्षमता अंशतः पुरुष के अन्य अंगों में भी रहती है। यथा मुख में, पैर में, बगल में आदि जिससे वह वस्तु को ग्रहण कर सकता है।

(३) गमन करने, आने-जाने अथवा चलने-फिरने की क्रियाओं का साधन पादेन्द्रिय कहा जाता है। स्थूल शरीर में इसका मुख्य स्थान पैर है। परन्तु जिनके पास पैर नहीं होता उनके अन्य अंगों में यह सामर्थ्य होती है। पंक्षी पंख से उड़ते हैं। जल जन्तु अन्य कई प्रकार से संचरण करते हैं। रेंगने वाले जन्तु पेट के बल चलते हैं।

(४) विसर्जन अर्थात् मलत्याग की क्रिया का साधन इन्द्रिय पायु कहलाती है। स्थूल शरीर में इसका मुख्य स्थान गुदा होता है। यह क्रिया क्षमता अन्य इन्द्रियों में भी होती है। यथा मूत्र त्याग जननेन्द्रिय से ही किया जाता है और नाक, आँख, मुख, त्वचा के छिद्र आदि भी मल त्याग के साधन बनते रहते हैं।

(५) विषय आनन्द को अभिव्यक्त करने की क्रिया का साधन इन्द्रिय उपस्थ कहलाती है। स्थूल शरीर में इसका मुख्य स्थान जननेन्द्रिय होता है। यह क्षमता अंशतः शरीर के अन्य अंगों में भी पायी जाती है।

ये कर्मेन्द्रियाँ स्थूल शरीर के साथ-साथ सूक्ष्म शरीर में भी अधिष्ठित होती हैं। ऐसी मान्यता है कि सूक्ष्म शरीर में रहता हुआ भी जीव कला के सभी व्यापारों को कर सकता है।

२७–३१ पंच तन्मात्राएं :—तमोगुण प्रधान अहंकार के परिणामस्वरूप ज्ञानेन्द्रियों के पांच सूक्ष्म विषयों की अभिव्यक्ति होती है। ये विषय अत्यन्त सूक्ष्म

होते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच तन्मात्र होते हैं। ये सर्वथा प्रविभाग से रहित सूक्ष्मतर विषय मात्र होते हैं। प्रत्येक में अपने को छोड़कर अन्य कुछ रहता है। इसलिये इन्हें तन्मात्राएँ कहा जाता है।

३२-३६ पंचमहाभूत :—ज्ञानेन्द्रियों के सूक्ष्म विषय जब परिणाम द्वारा स्थूल बन जाते हैं तो आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी नामक स्थूल पंच महाभूतों की अभिव्यक्ति होती है। आकाश का गुण शब्द है। इसी महाभूत के भीतर शब्द की तरंगे चलती हैं। वायु स्पर्श गुण प्रधान है, अग्नि रूप प्रधान, जल रस प्रधान और पृथ्वी गन्ध प्रधान है। आकाश से लेकर पृथ्वी तक क्रम से स्थूलता अधिक होती है। जो महाभूत जितना अधिक स्थूल होता है वह परिमाण में उतना ही अधिक विशाल होता है। सबसे कम स्थूलता आकाश में होती है और उसी का परिमाण सबसे अधिक होता है। सबसे थोड़ा परिमाण पृथ्वी का होता है और सबसे अधिक स्थूलता भी उसी में होती है।

उपर्युक्त चौबीस तत्त्वों (प्रकृति से लेकर पृथ्वी तक) के विकास के विषय में काश्मीर शैव दर्शन और सांख्य में सहमति है। अन्तर केवल इतना ही है कि सांख्य के अनुसार ये तत्त्व प्रकृति के विकास हैं, किन्तु काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार ये तत्त्व प्रकृति का विकास होते हुए भी अन्ततः परमशिव की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। सांख्य में प्रकृति आदि तत्त्व हैं, किन्तु काश्मीर शैव दर्शन में प्रकृति स्वयं सृष्टि विकास का एक तत्त्व है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार सृष्टि के सभी तत्त्व परमशिव की विभिन्न अवस्थाओं के विभिन्न रूप ही हैं। इनका अलग से अपना कोई अस्तित्व नहीं होता।

आत्मा

अद्वैतवादी दर्शनों का मुख्य प्रतिपाद्य आत्मज्ञान अथवा आत्मा का स्वरूप विवेचन है। आत्म-ज्ञान जहाँ तात्त्विक दृष्टि से (अथवा तत्त्व शास्त्र की दृष्टि मे) महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि आत्मा और शिव (अथवा आत्मा और ब्रह्म) को तत्त्वतः एक ही माना गया है तथा आत्मा की बद्धावस्था और मुक्तावस्था (अथवा बन्धन और मोक्ष) की परिकल्पना की गई है, वहीं अपने को जानने की सहज मानव उत्कंठा की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। बन्धन और मोक्ष एवं जगत् में उपस्थित अशुभ की समस्या भी निराकरण के लिये आत्म-ज्ञान की अपेक्षा रखती है। अद्वैत-वेदान्त और काश्मीर शैव दर्शन में समान रूप से आत्मा का परमतत्त्व से तादात्म्य निरूपण (अद्वैत सिद्धि) किया गया है। वह परमतत्त्व (ब्रह्म या शिव) ही आत्मा के रूप में अथवा बन्धन ग्रस्त जीव के रूप में भासित होता है। आत्मा की यह बद्धावस्था चाहे अद्वैत-वेदान्त के अनुसार अज्ञान के कारण हो अथवा काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार स्वेच्छा से गृहीत लीला-रूप के कारण हो, किन्तु दोनों ही स्थितियों में आत्मा की स्व रूप-प्राप्ति अथवा आत्म-ज्ञान या सत्य ज्ञान ही मोक्ष का कारक होने से दर्शन का परम लक्ष्य है। आत्म-ज्ञान और शिव-ज्ञान (अथवा ब्रह्म ज्ञान) में विभेद नहीं है। आत्म-ज्ञान ही शिव-ज्ञान का कारक है अथवा आत्म-ज्ञान ही शिव-ज्ञान में परिणित होता है। इस प्रकार 'आत्म-ज्ञान परम ज्ञान है और यही काश्मीर शैव दर्शन में मोक्ष का परम साधन 'प्रत्यभिज्ञा'[1] है।

आत्म-ज्ञान ज्ञानमीमांसा तथा तत्त्वशास्त्र दोनो ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। आत्म-ज्ञान सभी प्रमाणों को प्रामाणिकता प्रदान करता है अथवा सभी प्रमाणों के मूल में है।[2] तत्त्वशास्त्र की दृष्टि से आत्मा को शिव रूप कहा गया है। काश्मीर

१—'प्रत्यभिज्ञा' साध्य (end) एवं साधन (means) दोनों ही है। अपने स्वरूप की पहचान (प्रत्यभिज्ञा) होने का नाम ही मोक्ष है—इस दृष्टि से प्रत्यभिज्ञा साध्य (end) है। किन्तु स्वरूप की पहचान होने का वास्तविक साधन भी स्वरूप की पहचान करना ही है—इस दृष्टि से प्रत्यभिज्ञा ही साधन (means) है।

२—ज्ञानमीमांसा के विवेचन में हम देख चुके हैं कि चिति ही एक मात्र यथार्थ प्रमाण है।

शैव दर्शन में आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में ज्ञान-मीमांसा की दृष्टि से आत्मा ज्ञान-रूप है तथा तत्त्वशास्त्र की दृष्टि से आत्मा तत्त्व है (अथवा शिव है)। ज्ञान आत्मा का गुण अथवा आकस्मिक गुण नहीं है, वरन् उसका स्वरूप ही है। यह ज्ञानरूपता ही आत्मा की क्रियाशीलता है। आत्मा को क्रियाशील मानने में कोई कठिनाई नहीं है, क्योंकि काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार शिव में स्पन्दात्मक क्रिया मानने में कोई दोष नहीं है। ज्ञान की प्रक्रिया पर विचार करने से ज्ञानरूप आत्मा की सत्ता स्वतःसिद्ध दीखती है, क्योंकि ज्ञान की प्रक्रिया में ज्ञाता की सत्ता पूर्वसिद्ध है। यह ज्ञानरूप आत्मा ही तत्त्वरूप आत्मा अथवा शिव है, यह वात आगम प्रमाण से प्रमाणित होती है। अतः काश्मीर शैव दार्शनिक सर्वप्रथम आत्मा की स्वयं प्रामाणिकता को सिद्ध करते हैं तथा फिर आत्मा के तात्त्विक स्वरूप का विवेचन आगम के आधार पर करते हैं।

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि क्या आत्मा (self) के (अर्थात् अपने आप के) वास्तविक स्वरूप का ज्ञान संभव है ? पाश्चात्य दर्शन जगत् में काण्ट ने आत्मा के वास्तविक स्वरूप को अज्ञेय कहा है, क्योंकि वह हमारी ज्ञान-सीमा के भीतर नहीं आता। डेकार्टस् के 'मैं सोचता हूँ, इसलिए हूँ (Cogeto ergo sum) जैसी चिन्तन की तार्किक पद्धति द्वारा ज्ञाता का अस्तित्व तो सिद्ध किया जा सकता है, किन्तु यह कैसे जाना जा सकता है कि यह ज्ञाता आत्मा (soul) है अथवा ईश्वर रूप है ? काश्मीर शैव दार्शनिक भी काण्ट के समान साधारण ज्ञान को सीमित मानते हैं तथा यह मानते हैं कि इस स्तर के ज्ञान द्वारा आत्मा अज्ञेय है। किन्तु ज्ञान की उच्चतर अवस्था (आगम-ज्ञान या शिव-ज्ञान) द्वारा वे आत्मा को ज्ञेय मानते हैं। इसलिये काश्मीर शैव दार्शनिक आत्मा का स्वयं-प्रकाश या स्वयंसिद्ध (अथवा आदि सिद्ध) होना तो तार्किक प्रक्रिया द्वारा ही दिखाते हैं, किन्तु तत्त्व-रूप में आत्मा का विवेचन आगम-ज्ञान के आधार पर ही करते हैं।

आत्मा की सत्ता सिद्धिः—आत्मा की सत्ता स्वयंसिद्ध है; क्योंकि आत्मा स्वयं प्रकाश है। ज्ञान की हर प्रक्रिया में ज्ञाता पूर्वसिद्ध है। जिस प्रकार क्रिया कर्ता के विना नहीं हो सकती, उसी प्रकार ज्ञान ज्ञाता के विना नहीं हो सकता। इस ज्ञाता की अनुभूति ज्ञान होने के क्षणों में ही हो जाती है। ज्ञाता ज्ञान के विषय (object) के रूप में ज्ञात नहीं होता, वरन् ज्ञाता के रूप में (अथवा विषयी रूप में) ही ज्ञात हो जाता है। न्याय दर्शन में ज्ञाता को ज्ञान के विषय रूप में ही ज्ञात होना माना गया है, किन्तु काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार ज्ञाता स्वयं ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। यदि ज्ञाता (subject) भी ज्ञान या विषय अथवा

ज्ञेय (object) वन जाय तो फिर वह ज्ञाता ही नहीं रहेगा। ज्ञाता को ज्ञेय वनाना आत्मविरोधी है। फिर भी यह सत्य है कि हमें अपने आप का ज्ञान होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि हमें अपने आप का ज्ञान 'ज्ञेय' (object) रूप में नहीं होता, वरन् स्वयं प्रकाश (self-illumined) रूप में होता है। इस वात को समझने में प्रकाश (light) का दृष्टान्त सहायक है। प्रकाश अपने को भी प्रकाशित करता है तथा घट पट आदि वस्तु को भी प्रकाशित करता है। किन्तु (घटपटादि) को प्रकाशित करने का उसका ढंग (mode) अन्य है और अपने आपको प्रकाशित करने का उसका ढंग अन्य है। घटपटादि को प्रकाशित करने के लिए प्रकाश उन पर पड़ता है, अर्थात् उनको अपना विषय (object) बनाता है; किन्तु अपने आप को प्रकाशित करने के लिये ऐसा नहीं होता कि प्रकाश घूमकर अपने ऊपर पड़े (अर्थात् अपने को अपना विषय वनावे और तव अअने को प्रकाशित करे। प्रकाश अपने आपको विना अपना विषय बनाये ही प्रकाशित करता है। दूसरे शब्दों में, प्रकाश स्वयंप्रकाश (self-illumined) है। इसको इस तरह भी कहा जा सकता है कि घटपटादि वस्तु को देखने के लिए प्रकाश की आवश्यकता है, किन्तु प्रकाश को देखने के लिए अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं है—प्रकाश अपने को स्वयं दिखाता है। जैसे प्रकाश स्वयं प्रकाश है, उसी प्रकार अत्मा (self) भी स्वयंप्रकाश (स्वयं ज्ञात) है।

काश्मीर शैव दार्शनिक कहते हैं कि आत्मा का निषेध भी आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करता है।[1] अद्वैत-वेदान्ती भी ऐसा ही मानते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपने अस्तित्व अथवा आत्मा की चेतना रहती है, क्योंकि कोई भी यह नहीं सोचता कि 'मैं नहीं हूँ'।[2] आत्मा के प्रति संशयकर्ता का भी वास्तविक स्वरूप आत्मा ही है।[3] स्मृति आदि ज्ञान के कारकों को धारण करने वाला आत्मा अनित्य अथवा परिवर्तनशील भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसी अवस्था में ज्ञान भी संभव नहीं होगा। सभी प्रमाणों का आधार होने से आत्मा को स्वयं प्रमाणों की अपेक्षा

१—तेन आत्मादेर्निकारणे साधने वापि अवश्यमेव साधयिता पूर्वकोटा बातिप्रः सिद्धः। नहि साधयितारमन्तरेण अर्थानां साध्यतैव स्यात्, स च स्वतः सिद्ध प्रकाशात्मा परमार्थरूपः परमेश्वरः शिव एव।

—तंत्रालोक (विवेक) १।५६

२—सर्वो हि आत्मस्तित्वम् प्रत्येति न नाहम् अस्मीति ...... शा० भा० १।१

३—य एवहि निराकर्ता तस्यैवात्मत्वात्। —शा० भा० १।१।४

नहीं रहती। प्रमाणों को भी स्वयं आत्मा ही प्रकाशित करता है।[1] प्रमाण आत्मा के ज्ञान के साधन मात्र हैं। काश्मीर शैव दर्शन में ज्ञाता और ज्ञेय अथवा विषयी और विषय में तात्त्विक दृष्टि से विभेद स्वीकार नहीं किया गया है। ज्ञाता ही स्वयं को ज्ञेय के रूप में प्रकाशित करता है।[2] अतः ज्ञाता (चैतन्य) ही मूलतः प्रकाशक और प्रकाशित दोनों रूप है।

आत्मा का स्वरूप :—काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार आत्मा ही स्वयं को अपने स्वातन्त्र्य शक्ति से विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त करता है।[3] काश्मीर शैव दर्शन की दृष्टि में अन्य दर्शन आत्मा के वास्तविक स्वरूप का दिग्दर्शन नहीं कराते क्योंकि वे आत्मा द्वारा अभिव्यक्त कतिपय रूपों में से किसी एक रूप को ही उसका वास्तविक स्वरूप मान लेते हैं। उनके सिद्धान्त न तो पूर्ण रूप से सत्य हैं और न ही पूर्णतया निराधार हैं, वरन् आंशिक दृष्टि से सत्य हैं। इस प्रकार शरीर, प्राण आदि को ही आत्मा मान लेना आंशिक रूप से सत्य है। आत्मा अपने को विभिन्न रूपों में वैसे ही अभिव्यक्त करता है जैसे कोई अभिनेता नाटक में विभिन्न भूमिकायें अदा करता है।[4] जिस प्रकार अभिनेता का वास्तविक स्वरूप अभिनीत स्वरूपों से भिन्न होता है, वैसे ही आत्मा का वास्तविक स्वरूप अभिव्यक्त स्वरूपों (शरीर आदि) से भिन्न है। किन्तु यह कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि आत्मा का इन स्वरूपों से कोई सम्बन्ध नहीं है अथवा ये स्वरूप आत्मा से पृथक् स्वतन्त्ररूप से अस्तित्ववान हैं। इस कथन का तात्पर्य केवल इतना ही है कि आत्मा स्वयं को इन रूपों में अभिव्यक्त करते हुए भी इनसे परे है अर्थात् आत्मा विश्वमय अथवा अन्तर्भूत होते हुए भी तत्त्वातीत अथवा विश्वोत्तीर्ण है।

आत्मा और अनात्मा में वास्तविक विभेद काश्मीर शैव दर्शन में स्वीकार नहीं किया गया है। आत्मा से पृथक् अनात्मा से अभिहित कोई वस्तु नहीं है।

१—तन्त्रालोक १।५५

२—काश्मीर शैव दर्शन के आभासवाद के अनुसार वस्तु की सत्ता ज्ञान सापेक्ष है; अतः चैतन्य के बाहर अथवा चैतन्य से पृथक् वस्तु का अस्तित्व नहीं है।

३—तस्य प्रत्यवमर्शो यः परिपूर्णोऽहमात्मकः।
स स्वात्मनि स्वतन्त्रत्वाद् विभागमवभासयेत्॥

—तंत्रालोक ३.२३५

४—तद् भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः। सर्वेषा चार्वाकादिदर्शनानां स्थितयः, सिद्धान्ताः 'तस्य' एतस्य आत्मनो नटस्येव स्वेच्छावगृहीता कृत्रिमा 'भूमिकाः'।

—प्रत्यभिज्ञाहृदयम् VIII

आत्मा से पृथक् अनात्म की अवधारणा अज्ञान अथवा अपूर्ण ज्ञान के कारण है। समस्त पदार्थों में आत्म दर्शन ही यथार्थ अथवा पूर्ण ज्ञान का कारक है। आत्मा तत्त्वातीत और अन्तर्भूत दोनों होने से एक ही समय में वस्तुओं से परे है और उन वस्तुओं में अन्तर्भूत भी है। यह स्वयं को ही वस्तुओं के रूप में अभिव्यक्त करता है। अतः सामान्यतः जिसे ज्ञेय या विषय समझा जाता है वह भी वास्तव में आत्मा ही है। आत्मा सर्वोच्च अहंता अथवा सर्वोच्च अनुभवकर्ता है तथा ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की क्रिया भी है।[1] यह मानने में कोई विरोध भी नहीं है क्योंकि काश्मीर शैव दर्शन के आभासवाद के अनुसार ज्ञाता से स्वतन्त्र ज्ञान-रूप ज्ञेय (वस्तु) का अस्तित्व नहीं हो सकता।

अद्वैत-वेदान्त और काश्मीर शैव दर्शन के आत्मा सम्बन्धी विचार में मौलिक विभेद यह है कि आत्मा के वास्तविक स्वरूप निरूपण के प्रयास में अद्वैत-वेदान्त अनात्मा अथवा सामान्यतः आत्मा से पृथक् समझी जाने वाली वस्तुओं का सर्वथा निषेध करता है, अथवा उन्हें परमार्थतः मिथ्या मानता है; किन्तु काश्मीर शैव दर्शन में अनात्म वस्तुओं को परमार्थतः आत्मा-रूप स्वीकार किया जाता है। आत्मा ही अपने ही खेल (लीला) में अनात्म रूप भी धर लेता है। इसीलिए काश्मीर शैव दर्शन लीलावाद है। अद्वैत-वेदान्त में जो भी ज्ञान के विषय रूप में ज्ञात होता है, वह अन्ततः मिथ्या है; जो अनात्म है वह आत्मा का स्वरूप प्रसार न होकर तटस्थ आत्मा पर अध्यारोपित मात्र है। इसीलिए अद्वैत-वेदान्त लीलावाद न होकर मायावाद है। अद्वैत-वेदान्त के अनुसार 'मैं ब्रह्म हूँ' यह अनुभूति भी बुद्धि से सम्बन्धित है जो परिवर्तनशील है, न कि आत्मा से जो अपरिवर्त्य तथा साक्षी रूप है। इसलिए मोक्ष की अवस्था में भी आत्मा को यह ज्ञान नहीं होता कि 'मैं आनन्दित हूँ', यद्यपि वह स्वयं आनन्द रूप होता है। अद्वैत-वेदान्त में आत्मा को आनन्द का ज्ञान या अनुभूति होना नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसी अवस्था में अद्वैतसिद्धि में बाधा होगी। वहाँ आत्मा को आनन्दरूप कहने का तात्पर्य केवल यह है कि आत्मा सभी प्रकार की सीमाओं तथा अशुद्धताओं से परे है। इस आनन्द रूप आत्मा का ज्ञान सभी प्रकार की ससीमता अथवा अशुद्धता के ज्ञान से पृथक्करण में निहित है। अर्थात् यदि 'मैं दुखी हूँ' इस ज्ञान से आत्मा को अलग कर के सोचा जाय तो वह परिकल्पना आनन्द रूप आत्मा की होगी। इसी प्रकार सभी अनात्म वस्तुओं से पृथक् करना ही आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान है। समस्त अनात्म वस्तुओं से पृथक्करण के पश्चात् ज्ञेय से अभिहित कोई वस्तु ही नहीं रह जाती;

१—तंत्रालोक III, १२५

इसलिए वहाँ आत्मा को ज्ञानरूप तो कहा जाता है, किन्तु वह ज्ञान किसी वस्तु का ज्ञान नहीं है, वरन् केवल ज्ञान मात्र है। आत्मा अपने सर्वोच्च रूप में केवल ज्ञान या साक्षी मात्र होता है।

जड़वादी शरीर को ही आत्मा मानता है अथवा आत्मा (चेतना) को शरीर से उत्पन्न मानतां है। किन्तु आत्मवादी आत्मा को शरीर से भिन्न स्वतन्त्र तत्त्व मानता है। यह सत्य है कि शरीर से अलग स्वतन्त्र रूप में आत्मा नहीं दिखता, और यह भी सत्य है कि शरीर में सांघातिक खराबी आ जाने पर आत्मा विलुप्त हो गया दिखता है; किन्तु इतने मात्र से यह सिद्ध नहीं हो जाता कि आत्मा शरीर का ही परिणाम है। इसे हम निम्नलिखित दृष्टान्त से समझ सकते हैं। विद्युत प्रवाह के लिए तार (या अन्य कोई माध्यम) आवश्यक है, और यह भी आवश्यक है कि तार अपेक्षित ढंग से लगा हो। यदि तार नहीं है अथवा तार में गड़बड़ी है तो विद्युत प्रवाह नहीं होगा। किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध हो जाता है कि विद्युत् तार का ही परिणाम है; वस्तुतः विद्युत् स्वतन्त्र वस्तु है जो तार के माध्यम से प्रवाहित होता है। उसी प्रकार आत्मा शरीर से भिन्न स्वतन्त्र तत्त्व हो सकता है और शरीर उसके प्रकटीकरण का आवश्यक माध्यम मात्र हो सकता है। आत्मवादी यह कहेगा कि आत्मा शरीर पर निर्भर नहीं है, बल्कि शरीर आत्मा पर निर्भर है क्योंकि आत्मा के अलग हो जाने पर शरीर मर जाता है।

चेतना का उपादान कारण भी शरीर को नहीं माना जा सकता। इन्द्रियों से भी आत्मा का तादात्म्य निरूपण नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसी अवस्था में जितनी इन्द्रियाँ हैं उतने ही आत्मा का अस्तित्व मानना होगा तथा आत्म-चेतना अथवा अपने एक व्यक्तित्व की अनुभूति नहीं होगी। विभिन्न गुणों यथा रंग, मिठास, कठोरता आदि का ज्ञान एक साथ ही होगा न कि क्रम से। स्वप्न, निद्रा आदि अवस्थाओं में चेतना तो रहती है किन्तु इन्द्रियाँ निष्क्रिय रहती हैं। सत्य यह है कि इन्द्रियाँ सदैव आत्मा पर निर्भर हैं। आत्मा ही आँखों के द्वारा देखता है तथा कानों के द्वारा सुनता है; न कि आँख या कान स्वयं देखते सुनते हैं। इसीलिये लोग कहते हैं कि 'मेरा कान बहरा है; 'मेरी आँख अन्धी है'।[1] स्वादिष्ट

१—आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये इन्द्रियों का यन्त्र की भाँति उपयोग करता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि यन्त्र (इन्द्रिय) में कोई खराबी न हो। किन्तु इन्द्रिय पर आत्मा की निर्भरता का यह अर्थ नहीं है कि इन्द्रिय ही आत्मा है। दूसरे, योगसिद्धि की अवस्था में जब शरीर पर आत्मा की

भोजन का दृश्य या गन्ध मात्र ही प्रत्यक्षकर्ता के मन में सुखदायक अनुभूति भर देता है। यह तथ्य भी आत्मा का इन्द्रियों से अलग अस्तित्व संकेत करता है।

आत्मा का तादात्म्य निरूपण प्राण वायु से नहीं किया जा सकता जिसकी अनुपस्थिति में शरीर और इन्द्रियाँ क्रिया नहीं करती हैं। यदि प्राण ही आत्मा होता तो निद्रावस्था में भी आत्मा को क्रियाशील होना चाहिए क्योंकि निद्रावस्था में प्राण तो रहता ही है। इसी प्रकार मन को भी आत्मा नहीं कहा जा सकता। मन सुख और दुःख के आन्तरिक प्रत्यक्ष का करण है। ज्ञाता को ज्ञान के साधन से तदनुरूपित नहीं किया जा सकता। मन ज्ञान का धारक नहीं हो सकता। आत्मा का शून्य से तादात्म्यनिरूपण भी नहीं किया जा सकता क्योंकि शून्य 'अहम्' अथवा 'मैं' के ज्ञान का आधार नहीं हो सकता। जिस प्रकार सूर्य सदैव प्रकाशित है (अर्थात् बादलों के आच्छादन के कारण यदि कोई वस्तु उससे प्रकाशित न हो तब भी) उसी प्रकार आत्मा चैतन्य रूप प्रकाशित है।

आत्मा के वास्तविक स्वरूप में आत्म-चेतना का होना अद्वैत-वेदान्ती नहीं मानते, किन्तु काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार आत्म-चेतना आत्मा का वास्तविक स्वरूप ही है। अद्वैत-वेदान्ती आत्म-चेतना के लिये द्वैत-ज्ञान आवश्यक मानते हैं; किन्तु काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार अद्वैत ज्ञान में भी आत्म-चेतना रह सकती है।[1] आत्म-चेतना को ही आत्मा का वास्तविक स्वरूप मानने पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि यदि आत्म-चेतना आत्मा का वास्तविक स्वरूप ही है तो निद्रावस्था में आत्म-चेतना क्यों नहीं रहती? इसके उत्तर में काश्मीर शैव दर्शन की ओर से कहा जा सकता है कि निद्रावस्था में आत्म-चेतना आच्छादित रहती है। जैसे बादलों से आच्छादित रहने पर सूर्य का प्रकाश बाहर नहीं दीखता, किन्तु यह नहीं कहा जाता कि सूर्य प्रकाशित ही नहीं है। बादलों के छँट जाने पर सूर्य पुनः प्रकाशित दीखने लगता है, वैसे ही नींद टूटने पर आत्म-चेतना पुनः प्रकाशित हो जाती है। अतः निद्रावस्था में आत्म-चेतना का अभाव नहीं माना जा सकता।

निर्भरता समाप्त हो जाती है तो इन्द्रियों के उपयोग के विना भी आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञान कर लेता है।

१—'शिव-शक्ति स्वरूप' के सन्दर्भ में इस विषय पर विचार किया जा चुका है।

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में सच्चिदानन्द शिव है।[१] यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान शिव किस प्रकार ससीम आत्मा अथवा पशु या जीव रूप में भासित होता है ? अथवा असीम किस प्रकार ससीम हो जाता है ? काश्मीर शैव दार्शनिक कहते हैं कि सर्वोच्च आत्मा माया की अशुद्धताओं से आच्छादित अथवा लिप्त हो जाने से पशु या जीव रूप में भासित होता है।[२] अपनी स्वतन्त्र इच्छा से सर्वोच्च शिव अणु रूप धारण करता है। स्वेच्छा से ही शिव आणवमल के आवरण को धारण करता है जिससे उसकी सर्वज्ञता पशु रूप में समाप्तप्राय हो जाती है। यह सर्वोच्च चेतना से पृथक् जैसा ससीम रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। इस प्रकार वह तीन मलों-आणव, माया और कर्म से संसिक्त हो जाता है। मलावरण ग्रहण करने के पूर्व आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में शुद्ध अध्वा की सृष्टि के तत्त्वों के रूप में अभिव्यक्त रहता है। यह परमात्मा ही शरीर में स्थित होकर विभिन्न प्रकार के सुख-दुःख की अनुभूति करता है।[३] जिस प्रकार अभिनेता अपने वास्तविक स्वरूप को दर्शकों के सामने छिपाकर विभिन्न भूमिकायें निभाता है, वैसे ही आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को छिपाकर विभिन्न रूपों को अभिव्यक्त करता है। स्वेच्छा से गृहीत ये रूप वास्तव में आत्मा से अभिन्न हैं। केवल अज्ञान अथवा अपूर्ण ज्ञान के कारण आत्मा के ये रूप विभिन्न प्रतीत होते हैं; किन्तु वास्तव में ये आत्मा से अभिन्न अथवा तदनुरूप ही हैं।

१—आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में शिव है, इसलिये आत्मा के वास्तविक स्वरूप के लिये 'शिव-शक्ति स्वरूप' देखना चाहिए।

२—मायापरिग्रहवशाद
बोधो मलिनः पुमान् पशुर्भवति।—परमार्थसार. कारिका १६

३—शिव जीव (पशु) बन जाता है, इससे यह नहीं समझना चाहिए कि शिव अब नहीं रहता और जीव ही हो जाता है। सत्य यह है कि शिव पूर्णरूप से शिव रहता है और साथ ही अलग से जीव भी बन जाता है। इसलिए पशु बनने से शिव में कोई कमी नहीं आती। शिव बने रहते हुए पशुरूप में भी अपने को अभिव्यक्त करना शिव का लीला-विलास है। मुझमें यह शक्ति नहीं है कि मैं जैसा हूँ वैसा ही रहते हुए अपने को अपने से अलग अन्य रूपों में भी अभिव्यक्त कर लूँ; किन्तु शिव में यह शक्ति है कि वह पूर्णरूप से शिव रहते हुए साथ ही अपने को अपने से भिन्न पशुरूप में भी अभिव्यक्त कर लेता है।

पशु रूप ग्रहण करने पर भी शिव की सर्वोच्चता अथवा पूर्णता में कोई कमी नहीं आती। कहने का तात्पर्य यह कि पशु रूप ग्रहण कर के भी शिव शिव-रूप भी रहता है तथा पशु-रूप भी, अथवा शिव विश्वोत्तीर्ण भी रहता है और विश्वमय भी। यह किस प्रकार संभव है, इस तथ्य को समझाने के लिये कल्पना सृष्टि का उदाहरण दिया जा सकता है। कल्पना-सृष्टि में जिस प्रकार हम काल्पनिक सृष्टि से परे भी रहते हैं और कल्पना में संलग्न भी रहते हैं, उसी प्रकार शिव शिवरूप भी रहता है तथा पशुरूप में जगत् में भी अवतीर्ण रहता है। शिव पशुरूप स्वेच्छा से ग्रहण करता है, किन्तु मायीय मलों के आवरण के कारण पशु (अथवा पशु बना शिव) अपने को शिव से पृथक् ससीम रूप समझने लगता है जो आणव से उत्पन्न अज्ञान अथवा अपूर्ण ज्ञान के कारण है। यहीं से शिव तथा आत्मा की स्वरूपगत अथवा अवस्थागत विभेद आरम्भ होता है। शिव का पशुरूप ग्रहण माया के पाँच कंचुकों के क्रम में होता है।[1]

शिव द्वारा पशुरूप की अभिव्यक्ति को सृष्टि-क्रम के सन्दर्भ में समझा जा सकता है। शिव के इस अवरोहण क्रम को सात वर्गों में विभाजित किया जाता है, जो अभिव्यक्ति की सात अवस्थाएँ हैं। इस क्रम में शिव को प्रमाता कहा जाता है। अभिव्यक्ति की इन अवस्थाओं को शुद्धाध्वा तथा अशुद्धाध्वा के अनुसार दो वर्गों में विभाजित किया जाता है। प्रथम चार अवस्थाएँ शुद्धाध्वा अथवा शुद्ध वर्ग की हैं तथा शेष तीन अवस्थाएँ अशुद्धाध्वा अथवा अशुद्ध वर्ग की हैं। अभिव्यक्ति की प्रथम अवस्था शिव प्रमाता की अवस्था है। तत्त्व की दृष्टि से यह शिव-शक्ति का स्तर है। इस स्तर पर अनुभूति का रूप 'अहम्' होता है तथा शक्ति की दृष्टि से यह चिदानन्द की अवस्था है। अभिव्यक्ति की दूसरी अवस्था मन्त्र-महेश्वर प्रमाता की अवस्था है। तत्त्व की दृष्टि से यह सदाशिव का स्तर है। इस अवस्था में अनुभूति का रूप 'अहमिदम्' है तथा शक्ति की दृष्टि से यह इच्छा शक्ति की अवस्था है। अभिव्यक्ति की तीसरी अवस्था में शिव मन्त्रेश्वर प्रमाता से अभिहित होता है। तत्त्व की दृष्टि से यह ईश्वर की अवस्था है। इस स्तर पर अनुभूति का रूप 'इदमहम्' होता है तथा शक्ति की दृष्टि से यह ज्ञान शक्ति की अवस्था है। चौथी अवस्था में शिव मन्त्र प्रमाता या विद्या प्रमाता अथवा विद्येश्वर प्रमाता से अभिहित होता है। तत्त्व की दृष्टि से यह सद्विद्या का स्तर है। इस स्तर पर अनुभूति का रूप 'अहञ्चेदञ्च' है तथा शक्ति की दृष्टि से यह क्रियाशक्ति का स्तर है। अभिव्यक्ति की पाँचवीं अवस्था में शिव को

१—इन कंचुकों की विवेचना 'सृष्टि-क्रम' में की जा चुकी है।

विज्ञानाकल प्रमाता कहा जाता है। तत्त्व की दृष्टि से इस अवस्था में शिव पुरुष तत्त्व से अभिहित होता है। अभिव्यक्ति की छठीं अवस्था में शिव सकल प्रमाता से अभिहित होता है तथा सातवीं अवस्था में शिव को प्रलयाकल प्रमाता कहा जाता है। अभिव्यक्ति की छठीं और सातवीं अवस्था में भी शिव पुरुष तत्त्व से अभिहित होता है। ये तीन अवस्थाएँ (विज्ञानाकल, सकल और प्रलयाकल) मलों के प्रभाव की अवस्थाएँ हैं तथा अशुद्धाध्वा की अवस्थाएँ हैं। इन अवस्थाओं में शिव की शक्तियाँ सीमित हो जाती हैं। विज्ञानाकल अवस्था में शिव केवल आवणमल से युक्त होता है। सकलावस्था में तीनों मल (आणव, माया और कर्म) कार्य-शील होते हैं। प्रलयाकल अवस्था में तीनों मल सुषुप्त रहते हैं। आत्मा इस स्तर पर सुषुप्तावस्था में रहता है।

विज्ञानाकल अवस्था में आत्मा केवल आणव मल से युक्त होता है; इस अवस्था में माया मल और कार्म मल का सन्निवेश नहीं हुआ रहता है। प्रलया-कल अवस्था में आत्मा माया मल और कार्म मल से भी युक्त हो जाता है, किन्तु इस अवस्था में ये मल सक्रिय (कार्यशील) नहीं रहते। यह अवस्था आत्मा के विश्रान्ति की अवस्था है, जिसमें कर्मों का परिपाक तो होता है, किन्तु कर्म आत्मा को शरीर ग्रहण करने के लिये प्रेरित नहीं करते। पुनः सृष्टि की अवस्था में जब ये सक्रिय (कार्यशील) हो जाते हैं तो आत्मा सकल कहलाते हैं।

सकलावस्था आत्मा की जीवावस्था है। इस अवस्था में आत्मा पशु से अभिहित होता है। यद्यपि आत्मा को अपने पूर्णत्व की चेतना इस अवस्था में नहीं रहती, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आत्मा के वास्तविक स्वरूप में कोई अन्तर आ जाता है। आत्मा पूर्ण ही रहता है। अपूर्णता की चेतना माया के कंचुकों से उत्पन्न अज्ञान अथवा अपूर्ण ज्ञान के कारण है। आत्मा परम अद्वैत रूप है, जहाँ द्वैत का सर्वथा अभाव है। शरीर, प्राण, बुद्धि आदि के विभिन्न संयोग के कारण आत्मा पुरुष रूप में अनेक होकर भासित होता है।[1] अनेक रूपों में भासित होते हुए भी आत्मा एकत्व रूप परमात्मा ही है। अनेकत्व माया की सृष्टि है जिसे आत्मा स्वेच्छा से ग्रहण करता है। अद्वैत-वेदान्त में आत्मा के अनेकत्व रूप को असत्य माना गया है, किन्तु काश्मीर शैव दर्शन में इसे अद्वैत-वेदान्त के अर्थ में असत्य नहीं माना गया है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार अनेकत्व माया जन्य होने के कारण कृत्रिम है, मौलिक नहीं। कहने का तात्पर्य यह

१—अत एवानेकः तत्तद्देहप्राणबुद्धिविशेषण संकोचग्रहणात्।

—ई० प्र० वि IV. ३.

नहीं है कि अनेकत्व सर्वथा असत्य अथवा मिथ्या है, वरन् यह है कि अनेकत्व आभासरूप है तथा आभासरूप में इसकी सत्ता है। अद्वैत-वेदान्ती आभासरूपता की व्याख्या मिथ्यात्व अथवा नास्तित्व के अर्थ में करते हैं, किन्तु काश्मीर शैव दार्शनिक आभासरूपता की व्याख्या आत्मप्रक्षेपण (Self-Projection) के अर्थ में करते हैं। अनेकत्व आत्मा का ही आत्म-प्रक्षेपण है, जैसे स्वप्न हमारे मन के ही प्रक्षेपण हैं। स्वप्न को स्वप्न रूप में सत्य मानने में कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु इसे असत्य अथवा नास्तित्ववान कहना या वस्तुवादी अर्थ में सत्य कहना दोनों ही गलत होगा। उसी प्रकार अनेकत्व को आत्म-प्रक्षेपण रूप में अपने से अभिन्न तथा सत्य मानना पूर्ण ज्ञान है तथा भिन्न जड़रूप समझना अपूर्ण ज्ञान है। अद्वैत-वेदान्त के अनुसार पूर्ण ज्ञानोदय होने पर अनेकत्व सर्वथा बाधित अथवा नास्तित्ववान हो जाता है, किन्तु काश्मीर शैव दर्शन में पूर्ण ज्ञानोदय होने पर यह बाधित अथवा नास्तित्ववान नहीं होता वरन् आत्म-प्रक्षेपण के रूप में अथवा आभास रूप में अपने से अभिन्न समझा जाने लगता है। इसका बाध सृष्टि की प्रलयावस्था में होता है, अर्थात् जब शिवरूप आत्मा आत्म-प्रक्षेपण को पुनः अपने में संकोच (निमेष) कर लेता है।

बन्धन

सामान्यत: भारतीय दर्शनों में आत्मा के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञता अथवा अज्ञान को वन्धन तथा इसके फलस्वरूप उत्पन्न दुख को वन्धन का लक्षण माना गया है। वास्तविकता से अनभिज्ञ जीव कर्म में लिप्त होता है; उसकी स्वाभाविक शक्तियाँ क्षीणप्राय रहती हैं। असीम (अथवा असीमित शक्तियों से युक्त) आत्मा असीम हो जाता है। वह असीम अवस्था को ही अपनी सहज अथवा स्वाभाविक अवस्था समझने लगता है। इस अवस्था से पुन: वास्तविक अवस्था की ओर जाना अथवा आत्मोपलब्धि ही मोक्ष कहा गया है। जिन कारणों से आत्मा के वास्तविक स्वरूप के प्रति अनभिज्ञता है, उन कारणों के उन्मूलन से ही आत्मोपलब्धि भी हो सकती है। कहने का तात्पर्य यह कि भारतीय दर्शनों में सामान्य रूप से वन्धन का कारण अज्ञान माना गया है तथा मोक्ष का कारण ज्ञान अथवा अज्ञान का विनाश माना गया है। इस अज्ञान की व्याख्या में भारतीय दर्शनों में मतभेद पाया जाता है। इस मतभेद को मोटे तौर पर तीन वर्गों अथवा प्रकारों में बाँटा जा सकता है। कुछ दर्शन जैसे शैव-सिद्धान्त, जैन आदि अज्ञान से आत्मा की संसिक्तता को अनादि और वन्धन को सत्य मानते हैं तथा कुछ दर्शनों में अज्ञान से उत्पन्न वन्धन को मिथ्या, आभास मात्र अथवा असत्य माना गया है जो आत्मा पर अध्यारोपित मात्र है (जैसे अद्वैत-वेदान्त में)। तीसरे प्रकार में काश्मीर शैव दर्शन को रखा जा सकता है जिसमें वन्धन का कारण अज्ञान माना गया है,[१] किन्तु यह आत्मा (शिव) द्वारा लीला के लिए स्वेच्छा से गृहीत है।[२]

वन्धन को अनादि मानने से समस्या उत्पन्न होती है कि फिर उसका विनाश कैसे होता है क्योंकि जो अनादि है उसका अन्त नहीं हो सकता। वन्धन को असत्य अथवा मिथ्या मानने से यह प्रश्न उठता है कि असत्य बन्धन से मुक्ति पाने के लिये प्रयास करने अथवा कठोर आध्यात्मिक साधना की क्या आवश्यकता है। जो मिथ्या

१—अज्ञानं संसृतेहेतु: ज्ञानं मोक्षैक कारणम् —तंत्रालोक १।२२

२—'अज्ञानं' तिमिरं·········चाणवं 'मलम्' —तंत्रालोक १।२३

मलमज्ञानमिच्छन्ति संसारांकुरकारणम् —तंत्रालोक १।२३

३—इस समस्या पर इसके द्वितीय भाग 'शैव-सिद्धान्त दर्शन' में 'बन्धन' के सन्दर्भ में विचार किया गया है।

मात्र है अथवा वास्तविकता में है ही नहीं उसके दूर होने का अर्थ क्या है ? स्वेच्छा से गृहीत (अथवा लीलावश गृहीत) बन्धन के विषय में भी यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि बन्धन लीला के लिए स्वयं ग्रहण किया गया है तो फिर इसे बन्धन कहने का क्या तात्पर्य है ? अथवा तब इससे मुक्ति पाने के लिये किया जाने वाला प्रयास भी लीलारूप ही होगा और बन्धन से उत्पन्न सुख दुःख को भी क्या लीला का ही अंग कहेंगे ? यदि हाँ, तो फिर अशुभ की समस्या का निराकरण असंभव होगा।

इन समस्याओं का गम्भीर रूप सामने तब आता है जब बन्धन पर अद्वैत वादी परिप्रेक्ष्य में विचार किया जाता है। अद्वैतवादी दर्शनों में आत्मा को उसके वास्तविक स्वरूप में ब्रह्म अथवा शिव रूप माना गया है, जो असीम है। असीम आत्मा जो अपने वास्तविक स्वरूप में सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् अथवा ज्ञान स्वरूप है, किस प्रकार असीम अथवा अज्ञानी हो जाता है ? सर्वज्ञ अथवा ज्ञानरूप आत्मा को अज्ञान प्रभावित नहीं कर सकता। आत्मा को मिथ्या ज्ञान अथवा मिथ्या प्रतीति होना उसके वास्तविक स्वरूप से मेल नहीं खाता (इसीलिए काश्मीर शैव दार्शनिक अज्ञान अथवा बन्धन को आत्मा द्वारा स्वेच्छा से गृहीत अवस्था मानते हैं)।

शिव की दृष्टि से बन्धन स्वेच्छा से गृहीत है, किन्तु जब शिव बन्धन ग्रहण कर पशु बन जाता है[1] तो पशु की दृष्टि से बन्धन वास्तविक हो जाता है। शिव के लिये बन्धन लीला है, एवं पुनः बन्धन से मुक्ति पाना भी उसकी लीला का अंग है। किन्तु जीव के लिए यह लीला नहीं है। इससे मुक्ति पाने के लिए प्रयास करना भी काश्मीर शैव दार्शनिक आवश्यक मानते हैं। शिव स्वयं को ही सृष्टि-प्रक्रिया में विभिन्न आत्माओं के रूप में अभिव्यक्त करता है। सृष्टि-प्रक्रिया में स्वयं को अभिव्यक्त कर के भी शिव इनसे परे रहता है। शिव एक ही समय में विश्वोत्तीर्ण तथा विश्व-मय दोनों है। कहने का तात्पर्य यह है कि शिव एक ही समय में शिव और आत्मा दोनों है। अतमा (अथवा आत्मावस्था में शिव) जब बन्धन के मल आदि कारकों को ग्रहण कर कर्म में संलग्न हो जाता है तो उसकी स्वाभाविक शक्तियाँ सीमित हो जाती हैं।

आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप (शिवरूप) में पूर्ण शक्तिरूप है। शक्ति के सीमित दशा में अवभासन होने से आत्मा ससीम हो जाता है, फलतः उसे पूर्णज्ञान होने की अपेक्षा अपूर्ण ज्ञान होता है। इस अपूर्ण अथवा सीमित ज्ञान-शक्ति के कारण

१—यह पहले ही कहा जा चुका है कि शिव बन्धन ग्रहण कर पशु बन जाता है तो शिव का शिवत्व समाप्त नहीं हो जाता; वरन् यह कहना चाहिए कि शिव पूर्ण रूप से शिव ही रहता है और अलग से पशु भी बन जाता है।

वह अपने पूर्ण रूप को नहीं जानता अथवा उसे भूल जाता है। यह अपूर्ण ज्ञान ही काश्मीर शैव दर्शन में अज्ञान कहा गया है। वेदान्ती अज्ञान को ज्ञान के विरोधी अर्थ में लेते हैं। उनके अनुसार अज्ञान और ज्ञान में तम और प्रकाश का सम्बन्ध है। काश्मीर शैव दार्शनिक अज्ञान को ज्ञान की सर्वथा अनुपस्थिति के अर्थ में नहीं लेते।[1] उनके अनुसार इस प्रकार का अज्ञान केवल अचेतन पदार्थ (पत्थर आदि) में ही हो सकता है, चेतन में ज्ञान की सर्वथा अनुपस्थिति नहीं माना जा सकता। अतः बद्धात्मा में होने वाला अज्ञान अपूर्ण ज्ञान अथवा सीमित ज्ञान ही कहा जा सकता है।[2]

पूर्णावस्था अथवा पूर्णज्ञान की स्थिति में बन्धन नहीं है। बन्धन केवल अपूर्णावस्था अथवा अपूर्ण ज्ञान की स्थिति में है। अतः पूर्ण की दृष्टि से अथवा शिव की दृष्टि से बन्धन लीलारूप है, किन्तु अपूर्ण की दृष्टि से अथवा आत्मा की दृष्टि से बन्धन सत्य है तथा इस सत्य बन्धन सें मुक्ति पाने के लिये प्रयास करना आवश्यक है। यह प्रयास भी शिव की दृष्टि से लीलारूप कहा जा सकता है क्योंकि तत्त्वतः आत्मा रूप धारण करके भी शिव के पूर्णत्व में कोई कमी नहीं आती। किन्तु आत्मा की दृष्टि से इसे लीला रूप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बन्धन उसके अपूर्ण ज्ञान के कारण उसके लिये लीलारूप न होकर यथार्थ होता है। आत्मा कर्म करता है तथा कर्म के फलस्वरूप उत्पन्न सुख-दुख को भोगता हुआ बन्धन में और जकड़ता जाता है। इस बन्धन से मुक्ति उसे पूर्ण ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् ही हो सकती है। पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति अपूर्ण ज्ञान अथवा सीमित दशा प्राप्त होने के कारणों को नष्ट कर के ही हो सकती है जिसके लिये आत्मा को प्रयास करना होगा।

बन्धन की प्रक्रिया को समझाते हुए काश्मीर शैव दार्शनिक कहते हैं कि परमशिव अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से स्वयं को सीमित रूप में अभिव्यक्त करता है तथा पशु रूप में अपनीं पूर्णावस्था को भूल कर सीमित हो जाता है। किन्तु पशु रूप में स्पष्ट सीमित अवस्था में होने पर भी शिव रूप में वह शुद्ध पूर्ण बना रहता है। यह कहा जा सकता है कि शिव शुद्ध शिव (असीम) है और पशु

१—अज्ञानमिति न ज्ञानाभावश्चातिप्रसङ्गतः।
स हि लोष्टादिकेऽप्यस्ति न च तस्यास्ति संसृतिः॥

—तंत्रालोक १।२५

२—अतो ज्ञेयस्य तत्त्वस्य सामस्त्येनाप्रथात्मकम्।
ज्ञानमेव तदज्ञानं शिवसूत्रेषु भाषितम्॥

—तंत्रालोक १।२६

भूला हुआ शिव (सीमित) है। इस सीमित अथवा भूले हुए शिव को छत्तीस सृष्टि-तत्त्वों की शृंखला में पुरुष कहा जाना है। पुरुष मूलतः पूर्ण होने के अज्ञान (आणव) से युक्त है। सीमितता के कारण विभिन्न शरीर, प्राण आदि के संयोग होने के कारण अनेक पुरुष प्रतीत होते हैं। पुरुष स्वयं द्वारा सम्पादित कर्मों के फलों का भोक्ता है तथा इसलिए बन्धन में है। जब आत्मा जो मूलतः चिदानन्द रूप है, पुरुष रूप ग्रहण करता है तो यह तीन गुणों से युक्त हो जाता है जो उसकी पराशक्ति की सीमित अभिव्यक्तियाँ हैं। भोग सीमित क्रिया और सीमित आनन्द है। सीमित क्रिया कष्ट है, क्योंकि रजस जो ज्ञान और अज्ञान का मिश्रण है, दुःख रूप है; सत्त्व जो मूलतः ज्ञान का प्रकाश है, सुख है; तमस् पूर्ण अज्ञान है जो सत्त्व और रजस् के मध्य की प्रलय जैसी स्थिति है। माया शिव की शक्ति है जो 'मैं शरीरादि हूँ' के बोध के लिए जिम्मेदार है। ये शक्तियाँ आत्मा में स्वभावतः हैं। किन्तु आत्मा के मूल स्वरूप के अज्ञान के कारण सीमित रूप में अभिव्यक्त होती हैं। शक्तियों की सीमित अभिव्यक्ति के कारण सत्त्व, रजस् और तमस् उत्पन्न होते हैं जो सुख-दुःख और मोह रूप में वर्णित हैं और जिनके कार्य ज्ञान, क्रिया और बाधा हैं। जहाँ शिव के पास आत्म-चेतना और क्रिया पूर्ण रूप में है, ससीम आत्मा के पास ये सीमित रूप में हैं।

यहाँ यह पूछा जा सकता है कि यदि ससीम आत्मा तत्त्वतः स्वयं शिव ही है तो वह सार्वभौम सृष्टि क्यों नहीं कर सकता ? इसके उत्तर में शैव मानते हैं कि व्यक्ति भी निश्चय ही परम स्रष्ट होगा, यदि वह अपनी पूर्ण शक्तियों को जान सके।[1] चूँकि वह अपनी शक्तियों को नहीं जानता, इसलिये उसकी सृष्टि शिव की सृष्टि के समान नहीं है। सीमितता या बन्धन तब होता है जब आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है। इस सीमितता का स्वरूप स्वातन्त्र्य की समाप्ति या अपूर्णता में निहित है। सीमितता प्रत्येक विषयी को व्याप्त करती है और यह पूर्णता या स्वातन्त्र्यरूपता की अनभिव्यक्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं है। यह अज्ञान रूप है। अज्ञान दो प्रकार का है—आत्मा को अनात्म मानना अथवा समझना और अनात्म को आत्मा होना समझना। अथवा दूसरे शब्दों में, द्वैत-

---

१—ननु यदि पशोरपि सृष्टिशक्तिरस्ति तर्हीश्वर एव ? सत्यम् ईश्वर एवासौ। नन्वेवं साधारणत्वं कस्मात् सृष्टेनं भवति ? भवेत् यदि स्वशक्ति परिजानीयात्, यावता सा तस्यापरिज्ञाता परवशस्यैव सतो विकल्पक्रिया विकल्पनशक्तिरुदेति।

—भास्करी II, पृ० २९६.

ज्ञान वन्धन का कारक है तथा अद्वैत-ज्ञान मोक्ष का कारक है।[1] यहाँ द्वैत-ज्ञान का तात्पर्य है जगत् तथा जागतिक पदार्थों को आत्मा से भिन्न समझना तथा अद्वैत-ज्ञान से तात्पर्य है जगत् तथा जागतिक पदार्थों को आत्मा से अभिन्न मानना। वन्धन रूपी द्वैत-ज्ञान का प्रादुर्भाव अशुद्धताओं के कारण होता है जिसे काश्मीर शैव दर्शन में मल कहा गया है। आत्मा के साथ मल का संसर्ग तव होता है जव आत्मा अशुद्ध सृष्टि के तत्त्वों में स्वयं को अभिव्यक्त करता है। शिव तत्त्व से लेकर शुद्ध विद्या तक की शुद्ध सृष्टि में वन्धन के कारक नहीं होते। राग, काल, कला, नियति आदि माया के पञ्चकंचुकों से अशुद्धता अथवा मल की उत्पत्ति होती है।[2] काश्मीर शैव दर्शन में वन्धन के कारणस्वरूप मल के तीन प्रकार बताये गये हैं।

आणव मल :—पञ्चकंचुकों से लिप्त होने पर पञ्चकंचुकों के प्रभाव से आत्मा की शक्तियाँ सीमित हो जाती हैं। इनके प्रभाव से आत्मा स्वयं को सीमित अनुभव करने लगता है तथा उसमें आसक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। जिसके फलस्वरूप द्वैत-ज्ञान का उदय होने लगता है। पञ्चकंचुकों के स्तर तक चेतना का संयोग शरीर आदि मायीय पदार्थों से नहीं हुआ रहता। अतः इस स्तर तक वन्धन चैतसिक (मानसिक) ही कहा जा सकता है। शरीर आदि से संयोग न होने के कारण आत्मा कर्म आदि संपादित नहीं करता। इस स्तर में प्रादुर्भूत मल आणव मल कहा जाता है। आणव शब्द 'अणु' से वना है। 'अणु' का अर्थ है छोटा या सीमित (finite or limited)। अपने को छोटा या सीमित (अणु) समझना—यही आणव मल है। दूसरे शब्दों में, सीमित या संकुचित व्यक्तित्व (limited individuality) का नाम आणव है। जैसे सागर लहर वनता है तो लहर संकुचित व्यक्तित्व है, उसी प्रकार जव शिव पशु वनता है तो पशु सीमित व्यक्तित्व (अणु) हो जाता है; इस अणुत्व का भाव आणव कहलाता है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि आणव का सम्वन्ध समझ से है, अर्थात् पशु अपने को छोटा समझता है न कि वस्तुतः छोटा हो जाता है। इसीलिये आणव

१—द्वैतप्रथा तदज्ञानं तुच्छत्वाद्वन्ध उच्यते—तन्त्रालोक १।३०
अज्ञानं संसृतेर्हेतुर्ज्ञानं मोक्षैककारणम्—तन्त्रालोक १।२२
२—मायापरिग्रहवशाद् वोधो मालिनः पुमान् पशुर्भवति।
कालकलानियतिवशाद् रागाविद्यावशेन संवद्धः॥

वस्तुतः अज्ञान (गलत ज्ञान) या नासमझी है; यह कोई भौतिक परिवर्तन जैसा नहीं है। यदि यहाँ यह प्रश्न किया जाय कि आणव यदि समझ का ही खेल है तो केवल 'समझने' मात्र से इतना बड़ा परिवर्तन कैसे हो जाता है, तो उत्तर है कि समझ ही तो सब कुछ है—समझ के ही अनुसार वास्तविकता दीखने लगती है। इसे स्वप्न के दृष्टान्त द्वारा समझा जा सकता है। हम स्वप्न में देखते हैं कि डाकू घर में घुस आये हैं तथा हमें बाँध कर पीट रहे हैं। ऐसी स्थिति में हम अपने को असहाय अनुभव करते हैं तथा पीड़ा की अनुभूति भी हमें उस क्षण होती है। यद्यपि स्वप्न की स्थिति में हम केवल अपने को बँधा हुआ समझ लेते हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि हम बँधे हुए नहीं हैं, फिर भी हमें कष्ट होता है। यह केवल हमारी समझ के कारण है। जब हम जाग्रतावस्था में यह जान लेते हैं कि वह केवल स्वप्न था अथवा हमारी नासमझी था तो हम उस कष्ट से मुक्त हो जाते हैं। इसी प्रकार आणव मल के प्रभाव से आत्मा में सीमित व्यक्तित्वाभिमान आ जाता है, जिसके फलस्वरूप वह अपने को सीमित अथवा बद्ध अनुभव करने लगता है और ससीम पशुरूप हो जाता है। जब उसे अपनी पूर्णता का ज्ञान होता है अथवा उसे अपनी नासमझी (अज्ञान) का एहसास (ज्ञान) होता है तो वह पूर्ण अथवा मुक्त हो जाता है।

आणव मल का यह प्रभाव आत्मा (पशु) के साथ अनादि काल से है। आणव को अनादि कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा जब से पशुरूप में है तब से आणव मल से युक्त है। आणव मल के अनादित्व को जन्मान्ध व्यक्ति के उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। जिस प्रकार जन्मान्ध व्यक्ति जब से पैदा हुआ है, उसका अन्धत्व भी तभी से है; उसी प्रकार पशु जब से पशु रूप में (सृष्टि में) अवतीर्ण हुआ है, उसका पशुत्व (अणुत्व) भी तभी से है। कहने का तात्पर्य यह है कि पशुत्व (अथवा आणव मल) पशु के लिये नवीन अथवा आकस्मिक घटना नहीं है। यह इस प्रकार नहीं है जैसे व्यक्ति जन्म ग्रहण के कुछ वर्षों बाद अन्धा हो जाता है, वरन् जन्मान्ध व्यक्ति के अन्धत्व के समान है। इस अर्थ में पशु के लिए आणव अनादि है। किन्तु शिव के लिए अथवा शिव की दृष्टि से आणव अनादि नहीं है। शिव के लिए यह भी नहीं कहा जा सकता कि आणव उस व्यक्ति के अन्धत्व के समान है जो जन्म-ग्रहण के कुछ वर्षों पश्चात् अन्धा हो जाता है। शिव शिवरूप भी रहता है और पशुरूप भी हो जाता है। शिव आणव के अणुत्व को लीलारूप में ग्रहण करता है। वह पशुरूप में आणव के प्रभाव से सीमित पशु भी रहता है तथा शिवरूप में आणव के प्रभाव से सर्वथा मुक्त पूर्ण भी रहता है। इस प्रकार समझने के लिए यह कहा

जा सकता है कि शिव शिवरूप तथा पशुरूप दोनों ही भूमिकायें अपनी लीला-सृष्टि में अभिनीत करता है।

आणव मल ही मूल मल है, जिसके कारण दो अन्य मल (कार्म मल और मायीय मल) भी पशु से युक्त हो जाते हैं। आणव मल सीमित व्यक्ति त्वाभिमान है जिसके कारण पशु में सीमित कर्तृत्व (कार्म मल) तथा द्वैत-ज्ञान (मायीय मल) आ जाता है। अपने को सीमित समझने के कारण ही व्यक्ति को उसके वास्तविक (शिव रूप की) पूर्ण शक्तियों का विस्मरण हो जाता है, फलतः वह सीमित कर्ता हो जाता है तथा जगत् को अपने से भिन्न समझने लगता है। इन सारी बातों के मूल में व्यक्ति की नासमझी (अज्ञान) अथवा सीमित व्यक्ति-त्वाभिमान (अणुत्व) ही है, इसीलिए आणव को मूल मल कहा जाता है।

कार्म मल :—आणव मल के प्रभाव से आत्मा कर्म करने की ओर अभिमुख होता है तथा शरीर आदि मायीय पदार्थों के साथ संयोग होने पर कर्म करने लगता है। इस अवस्था में उत्पन्न अशुद्धता को कार्म मल कहा जाता है। कार्म मल कर्म संस्कार से भिन्न है। कार्म मल कर्म करने की प्रवृत्ति है जो आत्मा में आणव मल के प्रभाव से प्रादुर्भूत होती है। इसके कारण कर्म करने में संलग्न आत्मा तदुत्पन्न फलों को भोगता हुआ मायीय तत्त्वों के प्रभाव में आवेष्टित होता जाता है।

सामान्यतया सभी भारतीय दर्शनों में (चार्वाक को छोड़ कर) कर्म को मल रूप अथवा बन्धनस्वरूप माना गया है। कर्म को बन्धनस्वरूप मानने का कारण एक यह है कि इससे प्राणी कर्मनियम के बन्धन में पड़ जाता है, जिसके अनुसार वह जो भी कर्म करेगा उसका फल उसे अवश्य भोगना होगा। दूसरा कारण यह है कि कर्म से आत्मा के वास्तविक स्वरूप पर आवरण सा पड़ जाता है। कर्म रूपी आवरण ही दिखाई देता है, आत्मा का वास्तविक स्वरूप अनुभूत नहीं होता। आत्मा के वास्तविक स्वरूप को अनुभूत करने के लिए इस आवरण को भेद कर के ही अनुभूत किया जा सकता है। उदाहरण के लिए सागर और उसकी लहर को लिया जा सकता है। सागर से वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए आधार में जाना आवश्यक है।

मायीय मल :—द्वैत-ज्ञान अर्थात् जगत् को अपने से भिन्न समझना मायीय मल है। यहाँ ध्यातव्य है कि जगत् को भिन्न देखना मल नहीं है, जगत् को भिन्न समझना मल है। इस द्वैत-ज्ञान के कारण ही पशु का कर्म उसका स्पन्द न होकर उसका ऐच्छिक कर्म हो जाता है। वह जगत् को अपने से भिन्न

समझता है तथा इसके फलस्वरूप उसमें आसक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। यह आसक्ति ही उसे कर्म करने के लिए प्रेरित करती है, जिससे पशु कार्म मल से भी संसिक्त होता जाता है। सामान्यतया मायीय तत्त्वों से युक्त होने पर तदुत्पन्न अशुद्धता को मायीय मल कहा जाता है (जैसा कि शैव-सिद्धान्त में समझा गया है), किन्तु काश्मीर शैव दर्शन में द्वैत-ज्ञान को ही मायीय मल कहा गया है। मायीय तत्त्वों से युक्त होने पर भी यदि आत्मा को पूर्णत्व का ज्ञान है (जैसे जीवन्मुक्ति की स्थिति में) अथवा अद्वैत-ज्ञान है तो वहाँ मायीय मल नहीं होगा।

आणव मल ही कार्म एवं मायीय मलों का आधार है। सीमित व्यक्तित्वाभिमान से ही सीमित कर्तृत्व तथा द्वैत-ज्ञान का अभ्युदय होता है। इन मलों को अज्ञान रूप कहा जाता है जो जीव को आवेष्टित किये रहते हैं। काश्मीर शैव दर्शन में अज्ञान के दो प्रकार बताये गये हैं—बौद्ध अज्ञान तथा पौरुष अज्ञान।[1] बौद्ध अज्ञान केवल बुद्धिगत (intellectual) है। शास्त्रज्ञान होने से यह दूर हो जाता है; किन्तु इतने से ही मोक्ष नहीं होता।[2] इसके लिए पौरुष अज्ञान का हटना आवश्यक है। जो अज्ञान पूरे व्यक्ति (पुरुष) को पकड़े होता है और जिससे व्यक्तित्व में ही परिवर्तन आ जाता है, वह पौरुष अज्ञान है। दीक्षादि से प्राप्त साधना करने पर यह दूर होता है।

कुछ लोग यह समझते हैं कि बौद्ध ज्ञान होने मात्र से मुक्ति हो जाती है, किन्तु उनके लिए पौरुष ज्ञान समझना आवश्यक है अन्यथा शास्त्र-ज्ञान से मुक्ति हो जाती। पौरुष-ज्ञान की अवधारणा ही यह समझाती है कि क्यों नहीं बुद्धिगत अज्ञान मिटने मात्र से मोक्ष हो जाता। पौरुष अज्ञान (एवं पौरुष ज्ञान) की अवधारणा तथा पौरुष एवं बौद्ध का भेद शैव शास्त्र की अपनी विशेषता है।[3]

१—ज्ञानाज्ञानस्वरूपं यदुक्तं प्रत्येकमप्यदः। द्विधा पौरुष बौद्धत्वभिदोक्तं शिवशासने॥
—तंत्रालोक १।३६

२—नहि बौद्धाज्ञानमात्र निवृत्तौ मोक्षो भवेत् यत्तस्मिन्निवृत्ते बौद्धमेव ज्ञानमुदेति। ....पौरुषे पुनरज्ञाने दीक्षादिना निवृत्ते सति...... पौरुषं पुनरज्ञानमुदितं सत् अत्यनिरपेक्षमेव मोक्षकारणम्।—तंत्रालोक १।२४, विवेक,

३—इस सन्दर्भ में और विवेचन आगे 'प्रत्यभिज्ञा' के सन्दर्भ में किया गया है।

मोक्ष

अपूर्ण ज्ञान अथवा आत्मा के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञता बन्धन है तथा पूर्ण ज्ञान अथवा आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानना ही मोक्ष है।[1] आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में सच्चिदानन्द रूप, असीम, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान है किन्तु बन्धन के कारण अथवा अपूर्ण ज्ञान के कारण उसे अपने वास्तविक स्वरूप की विस्मृति हो जाती है। फलतः वह अपने को ससीम समझने लगता है। पुनः अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित होना अथवा अपने वास्तविक पूर्ण शक्तियों को जानना ही काश्मीर शैव दर्शन में मोक्ष कहा गया है।

शिव स्वेच्छा से लीलावश ससीम स्वरूप को धारण करता है तथा पुनः स्वेच्छा से ही पूर्ण रूप को भी ग्रहण करता है। क्योंकि शिव को यह ज्ञान रहता है कि बन्धन और मोक्ष अथवा सृष्टि की प्रक्रिया उसकी लीला मात्र है। अतः प्रश्न उठता है कि बन्धन और मोक्ष में किस प्रकार विभेद किया जा सकता है? यदि बन्धन और मोक्ष में विभेद नहीं है, क्योंकि दोनों ही शिव की लीला के भाग हैं, तो फिर मोक्ष के लिये किये गये उपाय अथवा बद्धात्मा द्वारा किये गये प्रयास का क्या महत्त्व है? काश्मीर शैव दर्शन में मोक्ष प्राप्ति के लिये उपायों का भी निर्देशन है। इन उपायों का फिर क्या महत्त्व है? क्या ये उपाय या आध्यात्मिक साधनायें लीलामात्र हैं? इसे स्पष्ट करते हुए काश्मीर शैव दर्शन में कहा गया है कि वास्तव में कोई बन्धन या मोक्ष पारमार्थिक दृष्टि से नहीं

१—सामान्य रूप से भारतीय दर्शन में मोक्ष को दो अर्थों में लिया जाता है—निषेधात्मक तथा भावात्मक। निषेधात्मक अर्थ में बन्धन (मल अथवा अज्ञान) से निवृत्ति ही मोक्ष है तथा भावात्मक अर्थ में स्वरूप (वास्तविक स्वरूप) की प्राप्ति ही मोक्ष है। स्वरूप की प्राप्ति में मोक्ष प्राप्त कर उसे ही प्राप्त किया जाता है जो पहले से ही प्राप्त है। इस अवस्था में कोई नवीन चीज प्राप्त नहीं की जाती। देखने में लगता है कि यह नवीन अवस्था की ही प्राप्ति है, किन्तु वास्तव में यह पूर्वावस्था की ही प्राप्ति है। काश्मीर शैव दर्शन में मोक्ष को दोनों ही अर्थों में ग्रहण किया गया है। इसके अनुसार आणव आदि मलों से निवृत्त होकर स्वरूप की प्राप्ति ही मोक्ष है।

है। कहने का तात्पर्य यह है कि शिव की दृष्टि से बन्धन या मोक्ष नहीं है, यह लीला मात्र ही है। किन्तु बद्धात्मा की दृष्टि से बन्धन और मोक्ष वास्तविक है। बन्धन की स्थिति में उसे अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं रहता। वास्तविक स्वरूप का ज्ञान करने के लिये उपायों अथवा साधनों की आवश्यकता है। मोक्ष प्राप्त कर लेने पर अथवा अपने वास्तविक स्वरूप को जान लेने पर आत्मा के लिये भी यह लीला मात्र ही रह जाता है। किन्तु जब तक पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है तब तक बन्धन और मोक्ष सत्य हैं अथवा इनमें विभेद है।

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार मोक्ष पूर्णता की स्थिति है। मोक्ष में आत्मा पूर्ण आनन्दस्वरूप स्वयं शिव हो जाता है। इस स्थिति में भेद ज्ञान अथवा द्वैत-ज्ञान अभेद ज्ञान अथवा अद्वैत-ज्ञान में परिणत हो जाता है। 'यह' और 'वह' का भेद ज्ञान 'सर्व मैं ही हूँ' में परिणत हो जाता है। आत्मा यह जानने लगता है कि सारा विश्व उसका ही विभव है।[1] इस स्थिति में आत्मा (जीवन्मुक्ति की स्थिति में) जो भी कर्म करता है वह उसकी स्पन्द क्रिया होती है। इस प्रकार काश्मीर शैव दर्शन में जीवन्मुक्ति की अवस्था में भी कर्म (स्पन्द क्रिया) संभव है। अद्वैत-वेदान्त में जीवन्मुक्ति की स्थिति में कर्म का मोक्ष से विरोध देखा जा सकता है क्योंकि अद्वैत-वेदान्त में कर्म को बन्धन का कारक माना गया है (क्योंकि कर्म अपूर्णता के द्योतक हैं); किन्तु काश्मीर शैव दर्शन में कर्म (ऐच्छिक कर्म) अपूर्णता के द्योतक हैं न कि स्पन्द-क्रिया। अतः पूर्णता की स्थिति में चूँकि आत्मा का कर्म स्पन्द क्रिया में परिणत हो जाता है, इसलिये जीवन्मुक्ति में यह संभव है।

अद्वैत-वेदान्ती मोक्ष की अवस्था में आत्मा से इतर समझी जाने वाली वस्तुओं का निषेध किया जाता है। आत्मा से भिन्न जगत् आदि को मिथ्या मान लिया जाता है। काश्मीर शैव दार्शनिक मुक्ति की अवस्था में आत्मा से भिन्न समझी जाने वाली वस्तुओं का निषेध नहीं करते, प्रत्युत उन्हे आत्म रूप ही मानते हैं। जगत् आदि वस्तुओं को अपने से भिन्न समझना ही बन्धन है तथा उन्हें अपने से अभिन्न समझना ही मोक्ष है। काश्मीर शैव दार्शनिक मोक्ष को पूर्णता की स्थिति मानने पर विशेष आग्रह करते हैं। उनके अनुसार मोक्ष केवल मलों के विनाश की अवस्था नहीं है और न ही प्रकृति आदि से निवृत्त आत्मा की केवलावस्था ही मोक्ष है। मोक्ष शक्तियों के पूर्ण प्रकाशन की स्थिति है। बद्धावस्था में आत्मा की शक्तियाँ सीमित हो जाती हैं। मुक्तावस्था शिवावस्था है, जो

१—सर्वो ममायं विभव......

अहम् की स्थिति है। शिवावस्था में आत्मा स्वयं शिव हो जाता है। शैव-सिद्धान्त में भी शिवावस्था अथवा शिवानुभूति को मोक्ष की स्थिति माना गया है, किन्तु इस सम्बन्ध में काश्मीर शैव दर्शन और शैव-सिद्धान्त में मतभेद है। शैव-सिद्धान्ती मोक्ष की स्थिति में आत्मा और शिव का अस्तित्व की दृष्टि से भेद मानते हैं। उनके अनुसार मोक्ष की स्थिति में शिव और आत्मा का नित्य सामीप्य होता है। इस नित्य सामीप्य की अनुभूति ही शिवानुभूति है। यह आत्मा के पूर्णता की स्थिति है, जहाँ पूर्णज्ञान अथवा शिवज्ञान है। आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकाशित कर शिव को अपने प्रकाशक के रूप में अनुभूत करता है। किन्तु काश्मीर शैव दार्शनिक मोक्ष की स्थिति में आत्मा और शिव का तात्त्विक ऐक्य मानते हैं। उनके अनुसार शिव ही अपनी लीलावश आत्म रूप ग्रहण करता है तथा मोक्ष की अवस्था में पुनः शिव रूप ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार आत्मा स्वयं शिव होकर शिवानुभूति या शिवानन्द की अनुभूति करता है।

मोक्ष चेतना की शुद्धावस्था है। यह पूर्ण अहम् अथवा पूर्णाहन्ता की स्थिति है। इस स्थिति में आत्मा सीमित ज्ञातृत्व, सीमित कर्तृत्व, सीमित चेतना से ऊपर उठ कर पूर्ण ज्ञाता, पूर्ण कर्ता तथा प्रकाश विमर्श रूप हो जाता है। मोक्ष शिवावस्था है, इसलिये इस स्थिति का विवेचन शब्दों में अथवा वाणी द्वारा नहीं हो सकता। इस अवस्था की अनुभूति की जा सकती है जो स्वयं शिवा-वस्था प्राप्त कर ही की जा सकती है। सामान्य आनुभविक ज्ञान द्वारा इस अवस्था का निर्वचन नहीं हो सकता। काश्मीर शैव दार्शनिक आगम प्रमाण के आधार पर अपने मोक्ष सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। मोक्ष की अवस्था का विवेचन करते हुए काश्मीर शैव दार्शनिक अन्य दार्शनिक मतों पर भी दृष्टिपात करते हैं। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार अन्य दार्शनिक मतों द्वारा प्रतिपादित मुक्ति आंशिक मुक्ति अथवा पद मुक्ति है। मोक्ष सत्य के साक्षात्कार अथवा अनुभूति पर आधारित है। अन्य दर्शन सत्य के पूर्णरूप का साक्षात्कार नहीं कर पाये हैं। वे पूर्ण सत्य की विभिन्न अवस्थितियों का ही साक्षात्कार कर पाये हैं। सत्य की विभिन्न अवस्थितियों को ही उन दर्शनों में पूर्ण अथवा अन्तिम ज्ञान मान लिया गया है। फलतः उन दर्शनों में मुक्ति की व्याख्या भी सत्य के साक्षात्कार के विभिन्न स्तरों के आधार पर की गयी है। उदाहरणार्थ बौद्ध दार्शनिक बुद्धि तत्त्व के ही स्वरूप को अच्छी प्रकार समझे हैं। अतः वे बुद्धि तत्त्व के स्वरूप को भलीभाँति प्रकाशित करते हैं। सांख्य दार्शनिक पुरुष तत्त्व का ही साक्षात्कार कर पाये हैं,

अतः वे पुरुष[1] की आत्यन्तिक निवृत्ति को ही मोक्ष मानते हैं। पातंजल योग दार्शनिक नियति[2] तत्त्व तक का ही साक्षात्कार कर पाये हैं। अतः वे चित्त वृत्तियों के निरोध द्वारा आत्मा की स्वयं में स्थिति को ही मोक्ष मानते हैं।

काश्मीर शैव दार्शनिक यह मानते हैं कि ये अन्य दर्शन सत्य के पूर्ण रूप का साक्षात्कार नहीं कर पाये है, अतः इनकी सहायता से सत्य का पूर्ण साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। किन्तु काश्मीर शैव दार्शनिक इन दार्शनिक सिद्धान्तों को सर्वथा अनुपयोगी अथवा व्यर्थ नहीं मानते। उनके अनुसार ये दर्शन सत्य के जिस स्तर तक की अनुभूति कर पाये हैं, उस स्तर की भलीभाँति विवेचना करते हैं; अतः सत्य के उस स्तर तक की अनुभूति अथवा ज्ञान के लिये ये दर्शन उपयोगी हैं। इन दर्शनों के अनुयायी साधारण व्यक्तियों के स्तर से ऊपर उठते हैं; क्योंकि ये मायीय मल से छुटकारा प्राप्त कर आंशिक मुक्ति तो प्राप्त करते ही हैं। किन्तु इनकी मुक्ति में कार्म मल और आणव मल का अवशेष रह जाता है। फलतः उनके पुनः पुनः बन्धन में पड़ने की सम्भावना बनी रहती है। काश्मीर शैव दार्शनिक कहते हैं कि पूर्णमुक्ति उनके द्वारा प्रतिपादित प्रत्यभिज्ञा से ही हो सकती है।

विज्ञानवादी बौद्धों के अनुसार चित्त स्वभावतः शुद्ध है। अनादि अज्ञान के कारण चित्त अशुद्धताओं से आच्छादित है। अज्ञान से उत्पन्न चित्त की अशुद्धता ही प्रपंचात्मक जगत् का कारण है। अशुद्धताओं का नष्ट होना ही विज्ञानवादी बौद्धों के अनुसार मोक्ष है। चूंकि प्रपञ्चात्मक जगत् अशुद्धता के कारण है, अतः अशुद्धताओं के नष्ट होते ही जागतिक अनुभव भी स्वभावतः नष्ट हो जाता है। इस प्रकार बौद्धों का निर्वाण अशुद्धताओं से मुक्ति है, जो निर्बाध समाधि तथा अन्य बौद्ध साधनाओं द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। बौद्धों के निर्वाण की विवेचना करते हुए काश्मीर शैव दार्शनिक कहते हैं कि विज्ञानवादी बौद्धों के अनुसार प्रत्येक क्षण दूसरे क्षण को उत्पन्न करता है। इस क्रिया में उत्पन्न होने वाला परवर्ती क्षण पूर्ववर्ती क्षण के समान ही होता है। किन्तु इस सिद्धान्त के अनुसार किस प्रकार मलग्रस्त पूर्व क्षण मल से मुक्त परवर्ती क्षण को उत्पन्न कर सकता है।

मुक्ति की शून्यवादी विचारधारा पर विचार करते हुए काश्मीर शैव दार्शनिक कहते हैं कि शून्यवाद के अनुसार विज्ञान का भी अस्तित्व नहीं है ओर मोक्ष इस शून्यता की ही अनुभूति या ज्ञान है। किन्तु सबकुछ शून्य मान लेने पर अनुभूति या ज्ञान का होना असम्भव है। यदि कुछ भी अस्तित्ववान नहीं है तो किसके द्वारा

१—तं० आ०, I, ६९.

२—तं० आ० I, ७०

और क्या अनुभूत किया जायेगा ? यदि मोक्ष की अवस्था में अनुभवकर्ता का अस्तित्व स्वीकार किया जाय तो शून्यवाद के मौलिक सिद्धान्त के विरुद्ध होगा।

सांख्य दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण जगत् प्रकृति का विकास है। सांख्य के अनुसार पुरुष निष्क्रिय और साक्षी मात्र है। मोक्ष पुरुष की केवलावस्था है जो वह चौबीस तत्त्वों के ज्ञान द्वारा प्राप्त करता है। पुरुष चौबीस तत्त्वों का ज्ञान कर यह जान लेता है कि उसका स्वरूप इन तत्त्वों से अलग है। काश्मीर शैव दार्शनिक सांख्य के मोक्ष सिद्धान्त पर विचार करते हुए कहते हैं कि सांख्य द्वारा प्रतिपादित कैवल्य आंशिक मुक्ति है, किन्तु यह सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों के अनुसार असंगत एवं असम्भव है। प्रकृति अचेतन है, अतः भेद ज्ञान प्रकृति पर आरोपित नहीं किया जा सकता। पुरुष चेतन है, अतः यह भेदज्ञान पुरुष को हो सकता है, किन्तु सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष निष्क्रिय एवं साक्षी मात्र है। निष्क्रिय होने और उदासीन होने से पुरुष में भेद ज्ञान के प्रति चाह भी नहीं हो सकती। यदि उसमें किसी प्रकार की चाह मानी जाय तो यह सांख्य की मूलभूत मान्यताओं का विरोधी होगा।[1]

इस प्रकार अन्य दर्शनों के मोक्ष-सिद्धान्त को पद-मुक्ति अथवा आंशिक मुक्ति कहते हुए भी काश्मीर शैव दार्शनिक अपने मोक्ष की अवधारणा में आत्मा के पूर्णता की प्राप्ति अथवा अनुभूति पर आग्रह करते हैं। उनके अनुसार शिव स्वेच्छावश आत्मरूप ग्रहण करता है, किन्तु मायीय तत्त्वों के प्रभाव से उसे अपने

१—वास्तव में मोक्ष की अवधारणा को लेकर जो मतभेद विभिन्न दर्शनों में पाया जाता है वह आत्मा के स्वरूप के विषय में मतवैभिन्न्य के कारण है। स्वरूप की प्राप्ति को ही मोक्ष मानने के कारण मोक्ष की अवधारणा आत्मा के स्वरूप पर आधारित है। सभी दर्शन आत्मा के स्वरूप के अनुकूल ही मोक्ष की अवधारणा का प्रतिपादन करते हैं। न्याय-वैशेषिक के अनुसार मोक्ष की अवस्था में आत्मा सत्, चित् (ज्ञान) रूप रहता है तथा सुख,दुख, एवं क्रिया का अभाव रहता है। सांख्य दर्शन में आत्मा में सत्, चित् (ज्ञान) रहता है तथा सुख-दुःख एवं क्रिया का अभाव रहता है। अद्वैत-वेदान्त में सत्, चित्, एवं आनन्द रहता है तथा दुःख एवं क्रिया का अभाव रहता है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार सत्, चित्, आनन्द तथा क्रिया (स्पन्द) रहता है, केवल दुःख का अभाव मोक्ष की अवस्था में रहता है। जैन दर्शन में प्रतिपादित जीव में अनन्तवीर्य की अवधारणा का साम्य काश्मीर शैव दर्शन से देखा जा सकता है, किन्तु जैन दर्शन अनेक जीववादी तथा अनीश्वरवादी है, जबकि काश्मीर शैव दर्शन परम अद्वैतवादी दर्शन है, जिसके अनुसार मुक्तात्मा स्वयं शिव है।

पूर्णरूप की विस्मृति हो जाती है। बौद्ध अज्ञान और पौरुष अज्ञान के विनाश के पश्चात् पूर्णज्ञान प्राप्त करने पर उसे अपने वास्तविक पूर्णरूप की प्रत्यभिज्ञा हो जाती है। ऐसी स्थिति में वह पुनः पूर्ण, सच्चिदानन्द शिव हो जाता है तथा सम्पूर्ण विश्व को अपने से अभिन्न अपना ही प्रसार अथवा अभास समझने लगता है। प्रत्यभिज्ञा को ही काश्मीर शैव दर्शन में मोक्ष का अन्तिम कारक समझा गया है, अतः काश्मीर शैव दर्शन की मुक्ति की अवधारणा को समझने के लिए प्रत्यभिज्ञा पर विचार कर लेना आवश्यक है।

प्रत्यभिज्ञा

प्रत्यभिज्ञा काश्मीर शैव दर्शन का आधारभूत सिद्धान्त है। यह मोक्ष का साधन भी है तथा मानव जीवन का परम लक्ष्य होने से स्वयं मोक्षस्वरूप भी है। प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप समझने के लिये सर्वप्रथम इसका स्मृति से विभेद समझना आवश्यक है। स्मृति मानसिक संस्कारों से उत्पन्न ज्ञान है। प्रत्यभिज्ञा में भी मानसिक संस्कारों से उत्पन्न ज्ञान की महत्त्वपूर्ण भूमिका है, किन्तु यह भूमिका प्रत्यभिज्ञा-ज्ञान की प्रक्रिया का एक अंग मात्र है। प्रत्यभिज्ञा में जिस वस्तु का ज्ञान होता है, उसका स्मृति-ज्ञान के विषय से तादात्म्य निरूपण भी आवश्यक है। अतः प्रत्यभिज्ञा में स्मृति ज्ञान के मानसिक संस्कारों के साथ स्मृति के विषय की उपस्थिति भी आवश्यक है। स्मृति ज्ञान में विषय वस्तु की उपस्थिति आवश्यक नहीं है, यहाँ केवल मानसिक संस्कारों का उत्थित होना ही आवश्यक है जो किसी भी कारण वस्तु को देख कर हो सकता है। प्रत्यभिज्ञा और स्मृति के विभेद को एक उदाहरण की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है। मान लिया जाय कि किसी समय कोई व्यक्ति किसी हाथी सवार राजा के दृश्य से बहुत प्रभावित था; कुछ समय पश्चात् वह केवल उस हाथी को देखता है। हाथी को देखने से उसके मन में पूर्व देखे हुए दृश्य के संस्कार उत्थित हो जाते हैं; फलतः उसे हाथी सवार राजा का ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान उसका स्मृति-ज्ञान है, जिसे केवल संस्कार ज्ञान ही कहा जा सकता है। परन्तु वह राजा फिर दिखायी दे (प्रत्यक्ष) और हम उसे पहचान लें तो यह प्रत्यभिज्ञा हुई।

प्रत्यभिज्ञा पूर्व के संस्कारों का केवल उत्थित हो जाना मात्र नहीं है वरन पूर्व के संस्कारों का वर्तमान प्रत्यक्ष से उत्पन्न संस्कारों का तादात्म्य निरूपण है। उदाहरणार्थ कोई किसी व्यक्ति विशेष को देख कर पूर्व काल में देखे गये व्यक्ति को स्मरण कर यह तादात्म्य निरूपण करता है कि यह वही व्यक्ति है जिसे उसने पहले कभी देखा था। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा में पूर्वज्ञान आवश्यक है क्योंकि यही

प्रत्यभिज्ञा का आधार बनता है। किन्तु केवल पूर्वज्ञान ही प्रत्यभिज्ञा के लिये पर्याप्त नहीं है, पूर्वज्ञान अंग मात्र है; प्रत्यभिज्ञा तो तादात्म्यनिरूपण में निहित है।

प्रत्यभिज्ञा के लिये आवश्यक पूर्व ज्ञान का कारण कुछ भी हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि पूर्व ज्ञान का उदय श्रवण, अध्ययन, उपदेश आदि किसी भी साधन द्वारा हो सकता है। पूर्वज्ञान के आधार पर अभीष्ट के साथ तादात्म्य निरूपण के लिये भी विश्वसनीय माध्यम की आवश्यकता पर काश्मीर शैव दार्शनिक विशेष आग्रह करते हैं। उनके अनुसार आत्मा (बद्धात्मा) श्रवण, अध्ययन, उपदेश आदि द्वारा अपने वास्तविक स्वरूप (शिव रूप) का ज्ञान प्राप्त करता है, किन्तु वह स्वयं इसकी प्रत्यभिज्ञा नहीं कर पाता। दूसरे शब्दों में, आत्मा स्वयं अपनी पूर्ण शक्तियों की अनुभूति नहीं कर पाता। काश्मीर शैव दार्शनिक यह मानते हैं कि शिव गुरु रूप में प्रकट होकर आत्मा को स्वरूप-ज्ञान कराता है। शिव गुरु रूप में प्रकट होकर अज्ञान रूपी मल का विनाश कर आत्मा को इस ज्ञान की अनुभूति कराता है कि जिस पूर्ण रूप का ज्ञान वह वेदों, आगमों तथा श्रुतियों द्वारा प्राप्त करता है, वह स्वयं वही है।

प्रत्यभिज्ञा के इस तथ्य को सममझने के लिये काश्मीर शैव दार्शनिक एक उदाहरण का प्रयोग करते हैं, जिसके द्वारा इसे समझा जा सकता है। इस उदाहरण के अनुसार कोई नव यौवना किसी व्यक्ति विशेष के श्रेष्ठ गुणों को सुनकर विना उसे देखे ही उस पर मुग्ध हो जाती है। वह उस व्यक्ति विशेष से प्रेम करने लगती है तथा उसे देखने के लिये आतुर हो जाती है। वह उसे अपनी प्रेम-व्यथा पत्र द्वारा सूचित करतो है। वह व्यक्ति विशेप उसके पास आ जाता है, किन्तु वह न तो उस व्यक्ति को पहचान ही पाती है और न ही उसमें उन श्रेष्ठ गुणों को ही देख पाती है। ऐसी स्थिति में उसे कोई सन्तुष्टि प्राप्त नहीं हो पाती, क्योंकि न पहचानने के कारण वह व्यक्ति उसे अन्य सामान्य व्यक्तियों जैसा ही प्रतीत होता है। किन्तु जब कोई जानकार व्यक्ति उसका (प्रिय का) परिचय कराता है अथवा वह (प्रिय) स्वयं अपना परिचय देता है तो अब वह जान जाती है कि यह व्यक्ति वही है जिसे 'मैं चाहती हूँ'। दूसरे शब्दों में, अब वह उसे 'पहचान' जाती है। यह 'पहचान' ही प्रत्यभिज्ञा है। प्रत्यभिज्ञा में यह आवश्यक नहीं है कि जिसकी प्रत्यभिज्ञा होती है वह दृष्टपूर्व हो। मुख्य बात यह है कि प्रत्यभिज्ञात होने वाला व्यक्ति हमारे सामने खड़ा है; पहले हम उसे देखते तो थे लेकिन उसे पहचानते नहीं थे (अर्थात् जानते नहीं थे कि यह कौन है),

और अब उसे पहचान लिए हैं (अर्थात् जान गये कि यह कौन है)। सामने दृष्ट पदार्थ की वास्तविकता की जानकरी हो जाना ही प्रत्यभिज्ञा (पहचान) है।

प्रकृत विषय यह है कि मैं अपने को देखता हूँ। मैं वस्तुतः शिव हूँ, किन्तु इस बात की मुझे जानकारी अथवा पहचान नहीं है।[1] मैं नहीं जानता हूँ कि मैं कौन हूँ, अथवा अपने को गलत जानता हूँ (अपने को अणु रूप में जानता हूँ)। इसका अर्थ यह है कि मुझे अपने स्वरूप की पहचान (प्रत्यभिज्ञा) नहीं है। जब आगम अथवा गुरु के द्वारा यह बोध कराया जाता है कि मैं शिव हूँ तो मुझे अपनी प्रत्यभिज्ञा होती है। उपनिषदें 'तत्त्वमसि' ('तू वही है'), 'अयमात्मा ब्रह्म' ('यह आत्मा ब्रह्म है') आदि महावाक्यों के द्वारा स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा ही कराती हैं।

किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि स्वरूप की पहचान (प्रत्यभिज्ञा) केवल बौद्धिक ज्ञान नहीं है। काश्मीर शैव दार्शनिक यह बात स्पष्ट करते हैं कि 'आत्मा स्वयं शिव है' केवल इस बौद्धिक ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती जब तक कि आत्मा इस तथ्य को स्वयं अनुभूत न करे। आत्मा जिस अज्ञान के कारण अपने वास्तविक शिव-रूप को नहीं जानता वह दो प्रकार का है—बौद्ध अज्ञान और पौरुष अज्ञान।[2] स्वरूप के विषय में बौद्धिक जानकारी का अभाव बौद्ध अज्ञान है जो शास्त्र पढ़ लेने से अथवा उपदेश सुन लेने से दूर हो जाता है। किन्तु वास्तविक अज्ञान जिसके कारण हम पशु हैं, पौरुष है। पौरुष अज्ञान आध्यात्मिक मल है जो पूरे व्यक्तित्व को जकड़े है। अतः प्रत्यभिज्ञा के लिए इन दोनों प्रकार के अज्ञान को (विशेषतः पौरुष अज्ञान को) दूर करना अथवा दोनों प्रकार के मलों के आवरण को हटाना आवश्यक है। काश्मीर शैव दार्शनिक बौद्ध अज्ञान को दूर करने के लिए शास्त्र द्वारा बौद्ध ज्ञान का निर्देश देते हैं तथा पौरुष अज्ञान को दूर करने के लिए पौरुष ज्ञान अथवा दीक्षादि के द्वारा आध्यात्मिक ज्ञान का निर्देशन देते हैं। बौद्ध अज्ञान आगमों आदि के अध्ययन से दूर हो जाता है, जिसे काश्मीर शैव दर्शन में बौद्ध ज्ञान कहते है। किन्तु पौरुष अज्ञान के कारण आत्मा अपना तादात्म्य-निरूपण शिव से नहीं कर पाता। इस तादात्म्य-निरूपण के लिए शिव गुरु रूप में प्रकट होकर आत्मा को आध्यात्मिक ज्ञान देता है, जिसे दीक्षा कहते हैं।

१—गोदी में पिय परिचय नाहीं—कबीर

२—इसका संक्षिप्त विवेचन 'बन्धन' के सन्दर्भ में किया जा चुका है, यहाँ बौद्ध ज्ञान और पौरुष ज्ञान के सन्दर्भ में इसका विवेचन किया जा रहा है।

प्रत्यभिज्ञा के लिए केवल बौद्ध ज्ञान पर्याप्त नहीं है। आगम आदि के अध्ययन, मनन द्वारा व्यक्ति को यह ज्ञान हो जाता है कि वह शिव ही है, किन्तु मात्र इस ज्ञान से प्रत्यभिज्ञा नहीं हो जाती क्योंकि मलों का प्रभाव शेष रहता है। मलों का आवरण दूर होने पर ही पूर्ण प्रत्यभिज्ञा संभव है। काश्मीर शैव दार्शनिक मानते हैं कि मलों का प्रभाव पौरुष ज्ञान द्वारा अथवा आध्यात्मिक साधनाओं द्वारा ही दूर हो सकता है। काश्मीर शैव शास्त्र में ऐसा कहा गया है कि केवल बौद्ध ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता, किन्तु केवल पौरुष ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त हो सकता है।[1] पौरुष ज्ञान मोक्ष प्राप्ति के लिये आवश्यक है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि बौद्ध ज्ञान अनावश्यक है अथवा महत्त्वपूर्ण नहीं है। काश्मीर शैव दार्शनिक बौद्ध ज्ञान को महत्त्वपूर्ण मानते हैं क्योंकि बौद्ध ज्ञान ही मोक्ष के आध्यात्मिक पथ का प्रथम चरण है। सर्वप्रथम बौद्ध ज्ञान द्वारा ही अथवा आगमादि के अध्ययन-मनन द्वारा ही व्यक्ति में आध्यात्मिक जिज्ञासा का प्रादुर्भाव होता है तथा तदुपरान्त वह पौरुष ज्ञान के लिये प्रयत्नशील होता है।

बौद्ध ज्ञान और पौरुष ज्ञान में अन्तर ज्ञान के स्तर भेद के अनुसार किया जा सकता है। आरम्भ में आगमादि के अध्ययन मनन द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, उस समय ज्ञाता के मन में आगमिक कथनों के प्रति विश्वास नहीं होता अथवा वह उन्हे अच्छी तरह समझ नहीं पाता। ज्ञान की इस प्राथमिक अवस्था को शुद्ध रूप से बौद्ध ज्ञान कहा जा सकता है। जब बार-बार के अध्ययन, मनन द्वारा अथवा शास्त्रों के अभ्यास द्वारा व्यक्ति के मन में श्रद्धा अथवा विश्वास उत्पन्न होने लगता है और उसे उनकी समझ भी होने लगती है तो इसका तात्पर्य यह है कि उसके मल भी आंशिक रूप से दूर होने लगते हैं। मलों के आंशिक रूप से दूर होने का तात्पर्य यह है कि उसके बौद्ध ज्ञान में पौरुष ज्ञान का भी समावेश होने लगता है। व्यक्ति आगमों को पूर्णतया तभी समझ सकता है जब उसकी बुद्धि शुद्ध हो जाय। बुद्धि का शुद्धीकरण मलों का आवरण जो बुद्धि पर पड़ा है, उसके दूर होने में निहित है। बुद्धि का शुद्धीकरण पौरुष ज्ञान अथवा आध्यात्मिक साधनाओं अथवा दीक्षा द्वारा होता है। जब आध्यात्मिक साधना से मलों का आवरण पूरी तरह दूर हो जाता है तब साधक को पौरुष ज्ञान पूर्णतया प्राप्त हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि बौद्ध ज्ञान और पौरुष ज्ञान में किसी

१—पौरुषं पुनर्ज्ञानमुदितं सत् अन्यनिरपेक्षमेव मोक्षकारणम्।

—तन्त्रालोक (विवेक, १।२४

प्रकार की स्पष्ट विभाजन-रेखा नहीं खींची जा सकती। ये दोनों ही प्रकार के ज्ञान आरम्भ में साथ-साथ चलते हैं। जब तक मलों का आवरण शेष रहता है तब तक बौद्ध ज्ञान और पौरुष ज्ञान एक दूसरे में मिश्रित रहते हैं। मलों का आवरण पूर्णतया दूर हो जाने पर पूर्ण पौरुष ज्ञान प्राप्त होता है, जिसे पूर्ण ज्ञान कहा जा सकता है। पूर्ण ज्ञान की अवस्था में बौद्ध ज्ञान और पौरुष ज्ञान का कोई विभेद नही रहता। पूर्ण ज्ञान की अवस्था में साधक को अपने वास्तविक स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा हो जाती है। फलतः उसकी ज्ञान शक्ति पूर्णतया अभिव्यक्त हो जाती है। इस पूर्णावस्था में उसे ज्ञान के लिए आगमादि शास्त्रों के अध्ययन, मनन अथवा श्रवण की आवश्यकता नहीं रह जाती और न ही उसे ज्ञान के लिये किसी साधन की ही अपेक्षा रहती है। पूर्णावस्था सर्वज्ञ की अवस्था है। इस अवस्था में साधनों का प्रयोग सर्वज्ञ (जीवन्मुक्त) की स्वतन्त्रेच्छा पर निर्भर करता है। वह चाहे तो उनका प्रयोग कर सकता है और यदि न चाहे तो विना उनके प्रयोग के ही सब कुछ जान सकता है। मलावरोध दूर हो जाने के कारण वह सब कुछ साक्षात् अनुभूत कर सकता है।

पौरुष ज्ञान द्वारा मलावरण दूर कर प्रत्यभिज्ञा होने से यह बात स्पष्ट होती है कि प्रत्याभिज्ञा केवल बौद्धिक ज्ञान नहीं है, वरन् आत्मा का मलावरण दूर कर आत्मा के शुद्ध वास्तविक रूप का प्रकाशन है। इस प्रक्रिया द्वारा आत्मा किसी वाह्य वस्तु के साथ अपना तादात्म्य निरूपण नहीं करता, वरन् अपने ही वास्तविक स्वरूप से अपना तादात्म्य निरूपण करता है। शुद्ध शिव रूप ही उसका वास्तविक स्वरूप है। यह स्वरूप उसका आगन्तुक स्वरूप नहीं है। उसका अशुद्ध रूप अथवा वद्ध रूप (पशु रूप) आगन्तुक स्वरूप है, जो मलों के आवरण के कारण प्रादुर्भूत होता है। मलावरण दूर हो जाने पर प्रत्यभिज्ञा द्वारा आत्मा अपने शुद्ध रूप में पुनः प्रतिष्ठित हो जाता है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा अशुद्ध रूप अथवा अणुरूप (पशु रूप) से शुद्ध रूप (शिव रूप) में रूपान्तरण है। दूसरे शब्दों में, प्रत्यभिज्ञा आत्मा का शुद्धीकरण है। इस शुद्धीकरण अथवा रूपान्तरण की प्रक्रिया में आत्मा कोई नवीन रूप धारण नहीं करता अथवा यह रूपान्तरण भौतिक रूपान्तरण (परिणाम) नहीं है जैसा कि दूध से दही का रूपान्तरण समझा जाता है। आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में शुद्ध चैतन्य रूप है, इस रूपान्तरण की प्रक्रिया द्वारा मलावरण दूर किया जाता है। मलावरण दूर हो जाने से आत्मा पुनः शुद्ध चैतन्य रूप हो जाता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि आत्मा कोई नवीन रूप धारण करता है अथवा उसमें कोई भौतिक परिवर्तन होता

है, जैसा कि दूध से दही के रूपान्तरण में होता है। प्रत्यभिज्ञा द्वारा होने वाले रूपान्तरण को अवस्था-परिवर्तन कहा जा सकता है। यह अवस्था-परिवर्तन अशुद्ध से शुद्ध अथवा अपूर्ण से पूर्ण का है।

प्रत्यभिज्ञा द्वारा होने वाले रूपान्तरण को भौतिक रूपान्तरण के अर्थ में इसलिये भी नहीं लिया जा सकता कि इसके द्वारा केवल मलावरण दूर किया जाता है। यह मलावरण भी भौतिक मल (गन्दगी) के समान नहीं है। यह अज्ञान-रूप है। अज्ञान के कारण आत्मा स्वयं को सीमित अनुभव करता है तथा जगत् को अपने से भिन्न मानता है। अज्ञान दूर हो जाने पर (अर्थात् मलावरण दूर हो जाने पर) आत्मा स्वयं को असीम शिव के रूप में समझ जाता है तथा जगत् को अपना ही विभव तथा अपने से अभिन्न अनुभूत करने लगता है।[1] अज्ञान को भी काश्मीर शैव दर्शन में अपूर्ण ज्ञान ही कहा गया है। अतः प्रत्यभिज्ञा द्वारा मलावरण दूर करने की प्रक्रिया का तात्पय है अपूर्ण ज्ञान को पूर्ण ज्ञान में परिवर्तित करना। कहने का तात्पर्य यह है कि संकुचित ज्ञान को विकसित करना ही प्रत्यभिज्ञा का उद्देश्य है। इसलिए प्रत्यभिज्ञा वस्तुतः ज्ञान है।

शिव और आत्मा के अद्वैत की अनुभूति ही वस्तुतः प्रत्यभिज्ञा है। काश्मीर शैव दर्शन में शिव और आत्मा को मूलतः एक ही तत्त्व माना गया है। शिव ही स्वेच्छावश पशुभाव को ग्रहण करता है। अज्ञान के कारण आत्मा को इस तथ्य का विस्मरण हो जाता है। प्रत्यभिज्ञा द्वारा पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर आत्मा इस तथ्य को जानकर पुनः शिव रूप में प्रकाशित हो जाता है। अद्वैत-वेदान्त में भी आत्मा को मूलतः ब्रह्म ही माना गया है। अतः अपरोक्षानुभूति द्वारा वहाँ भी आत्मा अपने वास्तविक रूप अथवा ब्रह्म रूप को ही जानता है। अपरोक्षानुभूति में और प्रत्यभिज्ञा में ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। दोनों ही आत्मज्ञान हैं और दोनों में इस ज्ञान का ढंग (mode) अपरोक्ष (immediate or intuitive or direct) है। दोनों (अपरोक्षानुभूति एवं प्रत्यभिज्ञा) की विषय-वस्तु (Content) भी एक ही है—आत्मा (Self) जिसे ब्रह्म या शिव कहा जाता है। दोनों में थोड़ा जो भेद है वह मुख्यतः तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से है। जिस आत्मा का ज्ञान होता है उसके स्वयं के स्वरूप एवं जगदाभास से उसके सम्बन्ध की अवधारणा दोनों में भिन्न है।

अपरोक्षानुभूति द्वारा आत्मा से इतर भासित होने वाली वस्तुओं का निषेध कर आत्मा के वास्तविक स्वरूप की अनुभूति की जाती है, किन्तु प्रत्यभिज्ञा द्वारा

१—सर्वो ममायं विभव......

आत्मा से इतर भासित होने वाली वस्तुओं को आत्मरूप मानकर अनुभूति की जाती है। यह विभेद दार्शनिक सिद्धान्तों के मतभेद पर आधारित है। अद्वैत-वेदान्त के अनुसार ब्रह्म से अतिरिक्त भासित होने वाला जगत् अन्ततः मिथ्या है। तथा काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार शिव से इतर भासित होने वाला जगत् अन्ततः शिवाभास है। इसी प्रकार अपरोक्षानुभूति और प्रत्यभिज्ञा में आत्मा के स्वरूप को लेकर मतभेद देखा जा सकता है। अद्वैत-वेदान्त के अनुसार आत्मा सच्चिदानन्द हैं; सत्, चित्, और आनन्द होते हुए भी आत्मा वस्तुतः निष्क्रिय है, क्योंकि अद्वैत-वेदान्त में ब्रह्म में क्रिया नहीं माना गया है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार आत्मा सच्चिदानन्द है तथा आत्मा के वास्तविक स्वरूप में क्रियाशीलता (स्पन्द) भी है।

जीवन्मुक्ति

अन्य भारतीय दर्शनों की भाँति काश्मीर शैव दर्शन में भी जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति की अवधारणा है। देह रहते ही बन्धन से छुटकारा पा लेना (अर्थात् शिवानुभूति हो जाना) जीवन्मुक्ति है तथा तत्पश्चात् शरीर त्याग होने पर शिव में विलीन (merged) हो जाना विदेह मुक्ति है। शिवानुभूति (आत्मानुभूति) की दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं है; ऐसा भी नहीं है कि जीवन्मुक्ति अधूरी मुक्ति है और विदेह मुक्ति पूरी मुक्ति है। जीवन्मुक्ति भी पूर्ण शिवानुभूति है, केवल इतना ही फर्क है कि उसमें शरीर भी साथ है। इस दृष्टि से देखने पर यह भी स्पष्ट होता है कि जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति मुक्ति के दो प्रकार (kinds) नहीं हैं, वरन् ये मुक्ति की दो अवस्थायें (stages) हैं। प्रथम अवस्था (जीवन्मुक्ति) में शरीर बना रहता है और शरीर रहने से जगत् से साक्षात् सम्बन्ध बना रहता है। इसी कारण जीवन्मुक्त जगत् का कल्याण करने में समर्थ होता है। शिव को यदि जगत् का कल्याण करने के लिये जगत् में आना हो तो जीवन्मुक्त होकर (अर्थात् शरीर लेकर) ही आना होगा अन्यथा वह जगत् से सम्पर्क (communication) ही नहीं कर सकेगा। मुक्ति की दूसरी अवस्था (विदेहमुक्ति) में हम देहादि से परे परमतत्त्व शिव ही हो जाते हैं, अर्थात् विदेह मुक्त और शिव में कोई फर्क ही नहीं रहता। यह कहा जा सकता है कि विदेह मुक्त देह विहीन शिव है तथा जीवन्मुक्त देहधारी शिव है।

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार आणव, कार्म तथा मायीय मलों का विनाश हो जाने पर जीवन के रहते हुए ही आत्मा बन्धन मुक्त होकर पूर्ण शिवरूप हो जाता है। जीवन्मुक्ति को मानने वाले प्रायः सभी दर्शनों में यह माना गया है कि जीवन्मुक्त अनासक्त भाव से कर्म करता है, इसलिए कर्म करते हुए भी वह बन्धन

में नहीं पड़ता। यह भाव काश्मीर शैव दर्शन में भी है, किन्तु काश्मीर शैव दर्शन में यह भाव अत्यन्त स्पष्ट रूप से है जितना स्पष्ट अन्य दर्शनों में प्रतीत नहीं होता। कर्म को सामान्य रूप से सभी दर्शनों में बन्धन का कारक माना गया है, इसलिये जीवन्मुक्ति की अवस्था में होने वाले कर्म पर विचार करना आवश्यक है।

गीता में स्थितप्रज्ञ की स्थिति वस्तुतः जीवन्मुक्ति की स्थिति है। गीता में यह कहा गया है कि स्थितप्रज्ञ अनासक्त भाव से कर्म करता है। वेदान्त के अनुसार भी जीवन्मुक्त अनासक्त भाव से ही कर्म करता है, जिससे बन्धन में नहीं पड़ता। अनासक्त भाव से किया गया कर्म उतना भावात्मक अर्थ नहीं देता जितना काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार जीवन्मुक्ति की अवस्था में होने वाला स्पन्दात्मक कर्म (क्रिया) देता है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार जीवन्मुक्त के सारे कर्म उसके स्पन्द (क्रिया) में परिणत हो जाते हैं। अनासक्त भाव से किये गये कर्म द्वारा यह समझा जा सकता है कि व्यक्ति पुनः बन्धन में नहीं पड़ेगा; किन्तु इससे यह नहीं समझा जा सकता कि जीवन्मुक्त विश्व कल्याण के लिए उत्साहपूर्वक कार्य करेगा। काश्मीर शैव दर्शन की मान्यताओं के अनुसार सम्पूर्ण जगत् शिव की ही लीला है, अतः जीवन्मुक्ति की अवधारणा में यह बात बैठ जाती है कि जीवन्मुक्त विश्वकल्याण के लिऐ उत्साह पूर्वक कार्य करेगा, क्योंकि यह उसकी लीला का ही अंग होगा। इस अवस्था में होने वाला उसका कर्म भी अनासक्त भाव से परिपूर्ण होगा, क्योंकि आसक्ति वहाँ होती है जहाँ द्वैत-ज्ञान होता है। (अर्थात् जहाँ वस्तुओं को अपने से भिन्न समझा जाता है)।

दूसरे दर्शनों में जीवन्मुक्ति की अवधारणा के साथ कर्म का विरोध भी देखा जा सकता है, किन्तु काश्मीर शैव दर्शन में यह सर्वथा संगत है। उदाहरण के लिए यदि अद्वैत-वेदान्त की दार्शनिक मान्यताओं पर विचार किया जाय तो ऐसा प्रतीत होगा कि वहाँ जीवन्मुक्ति के साथ कर्म की अवधारणा संगत नहीं है। अद्वैत-वेदान्त में कर्म को अपूर्णता का द्योतक कहा गया है, इसलिए जीवन्मुक्त कर्म संन्यास ही ग्रहण करेगा। इसके प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि जीवन्मुक्त अनासक्त भाव से कर्म करेगा, जिससे वह बन्धन या अपूर्णता की ओर नहीं जायेगा। यह उत्तर सन्तोषजनक हो सकता है; किन्तु इससे यह ध्वनित तो नहीं ही होता है कि जीवन्मुक्त विश्व कल्याण के लिए उत्साहपूर्वक कार्य करेगा। किन्तु काश्मीर शैव दर्शन की मान्यताओं में इस प्रकार की असंगति की सम्भावना ही नहीं होती। यहाँ जीवन्मुक्त अपने लीला के लिए विश्व-कल्याण का कार्य करेगा। यहाँ विश्व-कल्याण का कार्य जीवन्मुक्त की लीला का अंग है। जगत् के लिए जो कल्याण-कार्य है वह जीवन्मुक्त

के लिए स्वाभाविक रूप से आनन्दोद्रेक में उत्थित क्रिया (स्पन्द) है—एक ही क्रिया जीवन्मुक्त के लिए स्पन्द है और जगत् के लिये उपकार-कार्य है। चूँकि काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार स्पन्द आत्मा (शिव) का स्वरूप है इसलिए जीवन्मुक्त सजीव (lively) एवं आनन्दपूर्ण क्रिया से युक्त रहता है। अद्वैत-वेदान्त के जीवन्मुक्त को अवकाश प्राप्त (retired) व्यक्ति की भाँति समझा जा सकता है, जो जागतिक कार्यों से विश्राम ले चुका है। काश्मीर शैव दर्शन का जीवन्मुक्त मानों सक्रिय सेवा (active service) में है; हाँ यह सेवा मजबूरी की नहीं है, वल्कि स्वातन्त्र्य में और साथ ही आनन्दपूर्ण लीलारूप है।

इस सन्दर्भ में काश्मीर शैव दर्शन की अपनी एक और विशेषता (जो समग्र आगमिक दर्शन की विशेषता कही जा सकती है) यह है कि यहाँ भुक्ति एवं मुक्ति का समन्वय है। भोग को भी लीला का अंग माना गया है। भोग बन्धन का कारक नहीं है[1] क्योंकि जीवनमुक्ति की अवस्था में आत्मा वासनाओं से रहित होकर भोग करता है। वासना से प्रेरित भोग ही बन्धन का कारक है। वासनाएँ द्वैत-ज्ञान के कारण प्रादुर्भूत होती हैं। जीवन्मुक्ति की अवस्था में अद्वैत-ज्ञान होता है, जहाँ सम्पूर्ण जगत् को अपना ही विभव अथवा प्रसार समझा जाता है। अपने ही विभव अथवा ऐश्वर्य के प्रति वासना का होना नहीं माना जा सकता। ऐसी स्थिति में वासनाओं से प्रेरित न होने से भोग लीला का ही अंग होगा। लीला-रूप होने से यह भी जीवन्मुक्त का स्पन्द ही कहा जायेगा।

भगवान कृष्ण को हम जीवन्मुक्त के पूर्ण उदाहरण के रूप में ले सकते हैं। काश्मीर शैव दर्शन की दृष्टि से यह बात पूरी तरह से ठीक बैठती है। कृष्ण का सम्पूर्ण जीवन स्पन्दात्मक क्रिया का उदाहरण है, जो कृष्ण के लिए लीला है एवं जगत् के लिए कल्याणकारी कार्य है। कृष्ण का भोग भी योग है—वहाँ भोग किसी भूख की अभितृप्ति नहीं है, वरन् स्वरूप का आनन्द-प्रसार अथवा लीला-विलास है। काश्मीर शैव-दर्शन की दृष्टि से इस बात को अत्यधिक महत्त्व दिया जाएगा कि क्यों कृष्ण को सोलह कलाओं का पूर्ण अवतार माना गया है। कृष्ण के जीवन में आत्मा अपने पूर्ण स्वरूप में विलसित है। वहाँ भोग और योग का क्रिया और निष्क्रियता का स्वाभाविक समन्वय है।

१—सर्वशोषी यथा सूर्यः सर्वभोगी यथाऽनलः।
योगी भुक्त्वाखिलान्भोगान् तथा पापैर्न लिप्यते॥

—कुलार्णव तन्त्र ९।७६

शक्तिपात

पशु (जीवात्मा) जब अपने अहंभाव को पूर्ण अहं (शिव) में समर्पित कर देता है तो शिव का शक्तिपात होता है और उसी से पशु को अपने स्वरूप (शिवत्व) की प्राप्ति होती है जिसे मोक्ष या मुक्ति कहते है। शक्तिपात शिव का पंचम कृत्य अनुग्रह है। काश्मीर शैव दार्शनिक मानते हैं कि अनुग्रह शिव का स्वतंत्र कृत्य है। शिव स्वेच्छा से अपने इस कृत्य का सम्पादन करता है। मोक्ष अन्ततः शक्तिपात द्वारा ही होता है तथा शक्तिपात पूर्णतया शिव के अधीन हैं। अतः प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जीवात्मा द्वारा किये गये मोक्ष के लिए प्रयास अथवा साधना का क्या महत्त्व है ? काश्मीर शैव दार्शनिक कहते हैं कि शिव की दृष्टि से अथवा पूर्ण के स्तर पर बन्धन और मोक्ष अन्ततः लीलारूप ही है। फलतः जीवात्मा द्वारा किये गये प्रयास अथवा साधनाएँ भी शिव के स्तर पर उसकी लीला के ही भाग मानी जायेंगी। किन्तु जीवात्मा जिसे अपने पूर्ण रूप का ज्ञान नहीं है, उसके लिए आध्यात्मिक साधनाओं का महत्त्व है। शक्तिपात जीवात्मा के प्रयास का फल नहीं है, अपितु शिव की स्वतन्त्रेच्छा का ही स्फुरण है। कहने का तात्पर्य यह है कि जीवात्मा अपने प्रयत्नों द्वारा अनुग्रह अथवा शक्तिपात प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि यह शिवेच्छा पर निर्भर हैं। किन्तु काश्मीर शैव दार्शनिक यह मानते हैं कि जीवात्मा अपने प्रयास द्वारा अथवा आध्यात्मिक साधनाओं द्वारा स्वयं को शक्तिपात प्राप्त करने के लायक बनाता है। शिव सदैव अनुग्रह करता रहता है, किन्तु वे जीवात्मा शक्तिपात प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करते हैं जिनके मलों का आवरण दूर हो चुका रहता है। वस्तुतः शिव का अनुग्रह पशु को पहले से ही प्राप्त है किन्तु मलावरोध के कारण उसे अनुग्रह का लाभ नहीं मिलता। इसे इस दृष्टान्त से समझा जा सकता है। सूर्य का प्रकाश पहले से ही आकर कमरे के बाहर खड़ा है, किन्तु कमरे की खिड़की खुली न होने से कमरा प्रकाशित नहीं है। जब कमरे की खिड़की खोल दी जाती है तो सूर्य का प्रकाश सहज रूप से कमरे में प्रविष्ट हो जाता है। प्रकाश को बुलाना नहीं पड़ता, केवल खिड़की खोलनी होती है, प्रकाश तो पहले से ही आया हुआ है। उसी प्रकार जब साधना के द्वारा मलावरोध दूर कर लिया जाता है तो यह खिड़की खोलने के समान हुआ; तब पहले से ही आया अनुग्रह रूपी प्रकाश हमें अपने आप मिल जाता है।

शक्तिपात तथा अनुग्रह मोक्ष प्राप्ति के लिये आवश्यक माना जाता है क्योंकि बिना अनुग्रह के मोक्ष अथवा पूर्ण ज्ञान (या आध्यात्मिक ज्ञान) के उदय की व्याख्या करने में कठिनाई उत्पन्न हो सकती है आत्मा अपने बद्ध रूप में अज्ञान

अथवा, अपूर्ण ज्ञान से ग्रस्त है। इस अवस्था में उसे अपने वास्तविक स्वरूप अथवा पूर्ण शक्तियों की जानकारी विल्कुल नहीं रहती। फलतः ऐसी दशा में वह स्वयं पूर्ण ज्ञान अथवा आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त करने को कौन कहे उसके विषय में सोच ही नहीं सकता। अनुग्रह ही उसे आध्यात्मिक ज्ञान की ओर अग्रसर करता है तथा अनुग्रह से प्रेरित होकर ही आत्मा आध्यात्मिक साधनाओं को करता है, अथवा यह कहा जाय कि अनुग्रह के कारण ही आत्मा अपनी मुक्ति के लिए प्रयास करता है। दूसरे शब्दो में, यह कहा जा सकता है कि जीवात्मा द्वारा आध्यात्मिक पथ में रखा जाने वाला हर कदम अनुग्रह का संकेत करता है। इस दृष्टिकोण से विचार लरने पर यह भी कहा जा सकता है कि साधक का प्रयास अनुग्रह से ही उद्भूत होने के कारण अन्ततः अनुग्रह का ही कार्य है न कि साधक का कार्य अथवा प्रयास है। दूसरे शब्दों में, जिसे सामान्यतः साधक का व्यक्तिगत प्रयास (self-effort) समझा जाता है, वह भी शिवेच्छा पर ही निर्भर है, क्योंकि शिवेच्छा के विना वह संभव ही नहीं होगा।

मोक्ष के लिए अनुग्रह की आवश्यकता को सामान्यतः सभी ईश्वरवादी दर्शनों में माना गया है, किन्तु अनुग्रह-प्राप्ति के स्वरूप को लेकर विभिन्न दर्शनों में मतभेद है। कुछ दार्शनिक यह मानते हैं कि शक्तिपात ज्ञानोदय के पश्चात् होता है। कुछ दार्शनिक यह मानते हैं कि ज्ञान कर्मों के फल नष्ट कर देता है तथा इस प्रकार शक्तिपात के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्म फल का विनष्ट होना अथवा कर्मों के फलोत्पादन को रोकना आवश्यक है, क्योंकि यदि कर्म फल भोग शेष ही रहेगा तो मोक्ष नहीं हो सकता। किन्तु स्वयं कर्म द्वारा कर्म फल को रोका नहीं जा सकता, क्योंकि हर कर्म फलोत्पादन करता ही है। अतः ऐसा माना जाता है कि ज्ञान द्वारा कर्म के फलोत्पादन को नष्ट किया जाता है। किन्तु यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह ज्ञानोदय किस प्रकार संभव है? यदि यह माना जाय कि ज्ञानोदय कर्मों के परिणामस्वरूप ही होता है तो यह भी कर्मफल ही होगा, फिर कर्मफल की समाप्ति होना नहीं माना जा सकता।

कुछ दर्शनों में शक्तिपात का कारण कर्मसाम्य माना गया है। उनके अनुसार कर्मों की फलोत्पादन क्षमता तब समाप्त हो जाती है जब दो विरोधी कर्म समान रूप से अथवा समान तीव्रता से संपादित होते हैं। ऐसी स्थिति में दोनों ही प्रकार के कर्म निष्क्रिय हो जाते हैं, क्योंकि यदि एक प्रकार का कर्म किसी फल का उत्पादन करेगा तो उसका विरोधी प्रकार का कर्म भी उसके विरोधी

फल को उत्पन्न करेगा। इस सिद्धान्त में यह कठिनाई उत्पन्न होती है कि यदि यह माना जाय कि कर्म क्रमिक रूप से फलोत्पादन करते हैं तो कर्म संघर्ष होगा ही नहीं, फलतः कर्मसाम्य की स्थिति ही नहीं आयेगी। यदि यह कहा जाय कि कर्म क्रमिक रूप से फलोत्पादन न करके सारे कर्म एक ही साथ फलोत्पादन करते हैं तो समस्या यह उत्पन्न होती है कि किस प्रकार प्रत्येक कर्म के फल को एक दूसरे से अलग किया जा सकता है, अथवा किस प्रकार अच्छे और बुरे कर्मों के फल में विभेद किया जा सकता है ?

शैव-सिद्धान्त दर्शन में मलपरिपाक को शक्तिपात का कारण माना गया है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार मलपरिपाक के लिए ही आत्मा जगत् में प्रवेश करता है। आत्मा कर्मों द्वारा मलावरण को परिपक्व करता है अर्थात् मलावरण को दूर होने लायक बनाता है। मलों के परिपक्व हो जाने पर शिव शक्तिपात करता है, जिसके परिणामस्वरूप आत्मा का मलावरण दूर हो जाता है तथा आत्मा का वास्तविक स्वरूप प्रकाशित हो जाता है। अब प्रश्न उठता है कि मलपरिपाक का क्या कारण है ? आत्मा अनादि काल से आणवोत्पन्न अज्ञान से आच्छादित है। अतः अज्ञानी आत्मा स्वयं मोक्ष के लिए प्रयास नहीं कर सकता। फलतः आत्मा स्वयं मलपरिपाक की प्रक्रिया में प्रवृत्त नहीं हो सकता। इसलिए शैव-सिद्धान्ती यह मानते हैं कि ईश्वर के अनुग्रह के कारण ही आत्मा मलपरिपाक की प्रक्रिया में प्रवृत्त होता है। शिव आत्माओं को मुक्त कराने के लिये ही जगत् आदि की सृष्टि कर आत्मा को जगत् में मलपरिपाक के लिये भेजता है। इस प्रकार मलपरिपाक का कारण शिव का अनुग्रह अथवा शिवेच्छा ही है। अतः शिवेच्छा ही अन्ततः शक्तिपात का कारण है न कि मलपरिपाक। शिवेच्छा का कोई कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि शिव परम स्वतन्त्र सत्ता है।

काश्मीर शैव दार्शनिक शक्तिपात का कोई कारण नहीं मानते। उनके अनुसार शक्तिपात के लिये किसी प्रकार की शर्त अथवा अवस्था की अपेक्षा नहीं होती। शिव परम स्वतन्त्र सत्ता है। वह अपनी स्वतन्त्रेच्छा से शक्तिपात करता है। यदि शक्तिपात का कोई कारण अथवा दशा माना जाय तो यह स्वातन्त्र्यवाद के विरुद्ध होगा। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि शिव किसी असंयत चित्त वाले (whimsical) व्यक्ति की भाँति मनमाने (arbitrary) ढंग से शक्तिपात करता है। नैतिक (moral) दृष्टि से यह कहा जायेगा कि शिव की कृपा तभी प्राप्त होती है, जब हम शुद्ध आचरण द्वारा अपने को भला बनाते हैं, अथवा दूसरे शब्दों में, अपने को शिव की कृपा के योग्य बनाते हैं। जैल से कैदी

तभी छोड़ा जाता है जब उसने दण्ड की अवधि पूरी कर ली है, अथवा भले आचरण के कारण उसको माफी मिल गयी है। तात्पर्य यह कि हम यदि दुष्ट हैं अथवा अनैतिक आचरण करते हैं तो हमें क्यों मुक्ति' आदि अच्छा फल मिलना चाहिए? बुरे को भी अच्छा मिल जाये तो यह नैतिक नियम के विरुद्ध होगा। इसीलिये जब तक हम 'लायक' नहीं होते तब तक शिव की कृपा नहीं मिलती।[1] इसीलिए 'अहैतुकी' कृपा कहना उपचार मात्र है। 'अहैतुकी' कृपा का यह अर्थ नहीं है कि भगवान् जीव के लायक बने बिना ही कृपा बरसा देता है; इसका अर्थ यह है कि भगवान् की ओर से कृपा करने में कोई कारण या 'हेतु (motive) नहीं है। दूसरे शब्दों में, भगवान् को कृपा करने के लिए बाध्य करने वाला कोई 'हेतु' (जैसा कि बद्ध जीव के व्यवहार में देखा जाता है) नहीं है—भगवान् तो अपने शुद्ध स्वातन्त्र्य से ही कृपा करता है, कृपा कराने के लिए उसको कोई भी कारण मजबूर नहीं कर सकता।

इसी बात को आध्यात्मिक (spiritual) दृष्टि से यों कहा जायेगा कि जब साधना के द्वारा जीव के मलपरिपाक की अवस्था आ जाती है और अहंकार की समाप्ति होकर वह कृपा प्राप्ति के लिए तैयार हो जाता है, तभी उस पर अनुग्रह (शक्तिपात) होता है। शिव तो जीवों पर सदैव अनुग्रह करते रहता है, किन्तु उसके अनुग्रह द्वारा वे ही मुक्त होते हैं जो पौरुष अज्ञान (मल) समाप्त कर मुक्त होने के लिए तैयार हो गये रहते हैं, जैसे सूर्योदय होने पर केवल वे ही कलियाँ खिलती हैं जो खिलने के लिए तैयार अथवा परिपक्व (mature) हो गयी रहती हैं।

यहाँ फिर यह प्रश्न उठता है कि यदि अनुग्रह के लायक बनने पर ही अथवा आत्मशुद्धि करने पर ही कृपा प्राप्त होती है तो फिर इसे कृपा क्यों कहा जाय? यह तो आत्म शुद्धि के प्रयत्न का परिणाम हो गया, अथवा आत्मशुद्धि कर लिए जीव का अधिकार हो गया। इसका उत्तर यह है कि यह सत्य है कि

१—भक्ति के इतिहास में जहाँ ऐसी कहानियाँ मिलती हैं कि भगवान् ने पतित का भी उद्धार कर दिया, वहाँ समझने की बात यह है कि भगवान् ने तभी कृपा की जब उस तथाकथित पतित का चित्त वास्तविक पश्चात्ताप के द्वारा शुद्ध हो गया। इसीलिए भगवान् सभी 'पतितों' का उद्धार नहीं कर देते। ईसा मसीह ने भी इसीलिए पश्चात्ताप (repentance) पर बल दिया है। ईसा मसीह कहते हैं—"पश्चात्ताप करो, भगवान का राज्य समीप है। Repent, the kingdom of Heaven is at hand.)"

लायक बनने पर ही कृपा मिलेगी, किन्तु लायक बनने मात्र से शक्तिपात हो जाना आवश्यक नहीं है, यदि शिव स्वयं न चाहे। अर्थात् हम कितना भी लायक बन जाएँ, किन्तु शिव शक्तिपात न करना चाहें तो शक्तिपात नहीं होगा; हम किसी भी हालत में शिव को कृपा करने के लिए बाध्य नहीं कर सकते। हमारे 'लायक' बनने पर भी शिव जो शक्तिपात करता है, इसमें उसका पूर्ण स्वातन्त्र्य है; इसीलिए इसको अनुग्रह या कृपा (grace) कहते हैं। इस बात को निम्न-लिखित दृष्टान्त से समझा जा सकता है। सरकार ने या किसी उदार व्यक्ति ने किसी विद्यालय में छात्रवृत्ति प्रदान की है और उसके लिए विद्यार्थी में योग्यता (merit) की शर्त लगा दी है। योग्य होने पर विद्यार्थी छात्रवृत्ति पाता है। किन्तु छात्र यदि यह सोचे कि मेरी योग्यता के कारण छात्रवृत्ति मिली है अथवा योग्य होने के कारण छात्रवृत्ति पाना मेरा अधिकार है, तो यह सही नहीं होगा। छात्र लाख योग्य बन जाये, किन्तु यदि दान दाता (donar) ने छात्रवृत्ति नहीं दी है तो वह नहीं मिलेगी। दानदाता ने छात्रवृत्ति अपनी स्वेच्छा से प्रदान की है, ऐसा करने के लिए वह मजबूर नहीं है। इसीलिए छात्र के योग्य होने पर भी छात्रवृत्ति कृपा ही है। उसी प्रकार यदि शिव ने शक्तिपात की कृपा नहीं की है तो हमारे शुद्ध होने अथवा 'लायक' होने मात्र से वह नहीं मिलेगी। इसे यों कहा जाय कि शिव ने कृपा की है और यह नियम बना दिया है कि जो लायक होगा उसी को कृपा मिलेगी।

यहाँ यह भी उल्लेख किया जा सकता है कि कर्म-नियम भी शिव की कृपा ही है। यदि भगवान् ने कर्मनियम न लागू किया होता तो हमारे भला काम करने मात्र से हमको भला फल नहीं मिल जाता। भले काम का फल भला और बुरे का बुरा इसलिए होता है कि भगवान् ने कृपा करके कर्मनियम लागू कर रक्खा है। शिव को कर्मनियम लागू करने के लिए हम मजबूर नहीं कर सकते; अपने स्वातन्त्र्य से उसने कर्मनियम चलाया है। इसीलिये कर्म-नियम उसका अनुग्रह है।

मोक्ष के उपाय

काश्मीर शैव दर्शन में मोक्ष प्राप्ति के चार साधन अथवा उपाय बताये गये हैं। ये उपाय हैं—आणवोपाय, शाक्तोपाय, शाम्भवोपाय तथा अनुपाय।[1] इन उपायों द्वारा साधक क्रमिक रूप से मोक्ष की ओर अग्रसर होता है। शिव सृष्टि-प्रक्रिया में अवतीर्ण होकर जब बद्ध रूप ग्रहण करता है तो वह पहले आनन्द शक्ति को अभि-

१—तंत्रालोक १।२५८

व्यक्त करता है, फिर इच्छा शक्ति तथा उसके बाद ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति को अभिव्यक्त करता है। किन्तु अपूर्णावस्था से पूर्णावस्था की ओर अतिक्रमण करने में वह पहले क्रिया शक्ति की पूर्णता को प्रकाशित करता है, फिर ज्ञान शक्ति को तथा उसके बाद इच्छा शक्ति को और अन्त में आनन्द शक्ति के पूर्णरूपेण प्रकाशित हो जाने पर वह पुनः शिव के रूप में प्रकाशमान हो जाता है। मोक्ष प्राप्ति के ये चार उपाय इसी क्रम का संकेत करते हैं। आणवोपाय क्रिया शक्ति को प्रकाशित करता है, शाक्तोपाय ज्ञान शक्ति को प्रकाशित करता है, शाम्भवोपाय इच्छा शक्ति को प्रकाशित करता है, तथा अनुपाय आनन्दशक्ति को प्रकाशित करता है। इन उपायों को क्रम से क्रियोपाय, ज्ञानोपाय, इच्छोपाय तथा प्रत्यभिज्ञोपाय कहा जाता है।

उपाय के लिए काश्मीर शैव शास्त्र में 'समावेश' शब्द का भी प्रयोग किया गया है। उपाय को समावेश इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह अपूर्ण का पूर्ण में, अहं का अनहं में, अपूर्ण अहं का पूर्णाहन्ता में विलय कराता है। इनके द्वारा ही सीमित चेतना का प्रवेश असीम चैतन्य में होता है। यह समावेश अथवा विलय सृष्टि-क्रम के विपरीत क्रम में होता है। सृष्टि-क्रम पूर्णावस्था से अपूर्णावस्था में अवरोहण है तथा मोक्ष का क्रम अपूर्णावस्था से पूर्णावस्था की ओर वापसी है। इसीलिए इन उपायों का क्रम भी उसी क्रम के अनुसार निर्दिष्ट किया गया है। समावेश का तात्पर्य समाधि भी है। समाधि में अपने स्वरूप में ही स्थित हुआ जाता है। अपने स्वरूप में साधक पूर्ण शिव ही है, इसलिये समाधि द्वारा स्वरूप-स्थिति को समावेश कहा जाता है। समाधि की स्थिति भी उपर्युक्त क्रम को ही संकेत करती है।

इन उपायों पर अलग से विचार करने के पूर्व विचारणीय यह है कि इनकी मोक्ष प्राप्ति में उपादेयता क्या है? अभिनवगुप्त ने इस पर पर्याप्त रूप से विचार किया है। अपने स्वरूप की प्राप्ति ही मोक्ष है। मोक्ष की स्थिति में किसी नवीन वस्तु की प्राप्ति नहीं होती और न ही किसी नवीन अवस्था की प्राप्ति होती है। मोक्ष में वही प्राप्त किया जाता है जो पहले से ही मौजूद है। आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में शिव है तथा शिवता की प्राप्ति ही मोक्ष है। यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि मोक्ष की स्थिति में कुछ नवीन प्राप्त नहीं किया जाता अथवा वही प्राप्त किया जाता है जो पहले से ही मौजूद है तो उसके लिये किसी साधन अथवा उपाय की क्या आवश्यकता है? कहने का तात्पर्य यह है कि जो अपने पास नहीं है उसके लिए उपाय आदि की आवश्यकता है अथवा उसे

उपाय आदि द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु जो अपने पास पहले से ही है उसे प्राप्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

काश्मीर शैव दार्शनिक इस बात से सहमत हैं कि जो अपने पास ही है उसके लिए उपाय की आवश्यकता नहीं है। इसीलिए वे मोक्ष प्राप्ति के सर्वोत्तम उपाय 'प्रत्यभिज्ञा' को 'अनुपाय' कहते हैं। अब पुनः प्रश्न उठता है कि तब विभिन्न उपायों अथवा साधनाओं का क्या महत्त्व है, जिनका वर्णन काश्मीर शैव शास्त्र में किया गया है? काश्मीर शैव दार्शनिक यह मानते हुए कि मोक्ष अनुपाय द्वारा ही प्राप्त होता है, उपायों का महत्त्व भी प्रतिपादित करते हैं। यह सत्य है कि जो पहले से ही प्राप्त है उसके लिए उपाय आवश्यक नहीं है तथा इस दृष्टि से उपायों का महत्त्व नहीं है; किन्तु जिन कारणों से हम अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाते अथवा अपने वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति नहीं कर पाते, उन कारणों के निवारण के लिए उपायों की आवश्यकता है अथवा उपायों का महत्त्व है। काश्मीर शैव दर्शन में यह माना गया है कि आत्मा का वास्तविक स्वरूप मलावरण के कारण परिच्छिन्न हो गया है, जिससे वास्तविक स्वरूप का विस्मरण हो गया है। वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति के लिए अथवा वास्तविक स्वरूप में स्थित होने के लिए मलावरण का दूर होना आवश्यक है। बिना मलावरण दूर हुए आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में प्रकाशित नही हो सकता। उपाय अथवा साधनाओं द्वारा यह मलावरण दूर किया जाता है।

मलावरण भौतिक आवरण न होते हुए भी अथवा अज्ञानरूप होते हुए भी केवल बौद्धिक (बौद्ध अज्ञान) नहीं है, वरन् आध्यात्मिक (पौरुष अज्ञान) भी है। इसलिए केवल यह जान लेने से कि आत्मा वास्तविक स्वरूप में शिव है (केवल बौद्ध ज्ञान से) मोक्ष नहीं हो जाता; इसके लिये साधनाएँ तथा आध्यात्मिक ज्ञान या अनुभूति (पौरुष ज्ञान) आवश्यक है। बौद्ध ज्ञान (शास्त्र ज्ञान) द्वारा पौरुष अज्ञन्न का विनाश नहीं होता। पौरुष अज्ञान स्वरूप को ही आवृत कर अथवा प्रभावित कर सीमित बना देता है। इसके प्रभाव को दूर करने के लिए ही उपायों अथवा विभिन्न साधनाओं का निर्देशन काश्मीर शैव दर्शन में किया गया है।

इस सन्दर्भ में स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि मोक्ष प्राप्ति के चार उपाय क्यों बताये गये हैं अथवा विभिन्न प्रकार की साधनाओं का निर्देशन क्यों किया गया है? क्या एक ही उपाय अथवा एक ही प्रकार की साधना पर्याप्त नहीं है? इस प्रश्न का उत्तर कई दृष्टियों से दिया जाता है। एक तो यह कि ये उपाय

शक्तियों की अभिव्यक्ति की दृष्टि से चार प्रकार के बताये गये हैं, जैसे चिदानन्द शक्ति के लिये अनुपाय, इच्छा के लिए शाम्भवोपाय, ज्ञान के लिए शाक्तोपाय तथा क्रिया के लिए आणवोपाय। दूसरी दृष्टि है अधिकारी भेद की। भारतीय परम्परा में सामान्य रूप से अधिकारी भेद को माना गया है। इसके अनुसार प्रत्येक साधक की आध्यात्मिक स्थिति समान नहीं होती। किसी में वासनाओं का प्रभाव अधिक होता है तो किसी में कम, किसी में सत्त्वगुण का प्राधान्य है तो किसी में रजोगुण का अथवा किसी में तमोगुण का प्रभाव अधिक होता है। सभी साधकों की क्षमताएँ भी समान नहीं होतीं। कहने का तात्पर्य यह है कि सभी साधकों में स्तर-भेद देखा जा सकता है। अतः स्वाभाविक है कि उनके द्वारा अपनायी गयी साधनाओं में भी स्तर-भेद हो। इसीलिये काश्मीर शैव दर्शन में साधना के विभिन्न क्रमिक स्तर के रूप में चार उपायों का निर्देशन किया गया है। बन्धन अथवा मल की दृष्टि से विचार करने पर भी साधनाओं का स्तर-भेद आवश्यक प्रतीत होता है। बन्धन शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक है। शारीरिक (अथवा बाह्य) बन्धन के लिये आणवोपाय तथा मानसिक बन्धन के लिये शाक्तोपाय तथा आध्यात्मिक बन्धन के लिए शाम्भवोपाय बताया गया है।

आणवोपाय अथवा क्रियोपाय वह मार्ग है जिसमें साधना के बाह्य रूपों का प्रयोग आत्मानुभूति के लिए किया जाता है।[1] उपासना के बाह्य रूप अथवा स्थूल रूप का प्रयोग इस मार्ग में किया जाता है। इस मार्ग के मुख्य कार्य मूर्ति-पूजा (लिंग पूजा) तथा मन्त्रों का जप, पाठ, तीर्थाटन, योग इत्यादि हैं। मन्त्रों के जप को इस मार्ग में विशेष स्थान प्रदान किया है। यह मार्ग साधना पथ का प्रथम चरण है। विषयों से प्रभावित व्यक्ति इस मार्ग का अनुसरण करते हैं। क्रिया प्रधान होने से इसे कर्म मार्ग कहा जाता है। इस मार्ग को क्रियोपाय कहने का कारण यह भी है कि यह सद्विद्या स्तर की साधना है जो क्रियाशक्ति की अभिव्यक्ति का स्तर है।

शाक्तोपाय अथवा ज्ञानोपाय क्रियोपाय से उच्चतर मार्ग है। इस मार्ग में साधक द्वैत-ज्ञान से अद्वैत-ज्ञान की ओर अग्रसर होने का प्रयास करता है।[2]

१—अणुर्नाम स्फुटो भेदस्तदुपाय इहाणवः।
विकल्पनिश्चयात्मैव पर्यन्ते निर्विकल्पकः।
—तंत्रालोक १।२२१

२—भूयो भूयो विकल्पांशनिश्चयक्रमचर्चनात्।
यत्परामर्शमभ्येति ज्ञानोपायं तु तद्विदुः॥ —तंत्रालोक १।१४८

इस प्रयास में साधक आत्म-ज्ञान के लिए 'आत्मा ही यह सब कुछ है (अत्मैवेदम् सर्वम्)' का अभ्यास करता है। इस ज्ञान के बार-बार के अभ्यास द्वारा साधक विकल्पों पर नियन्त्रण पा लेता है तथा उसका अद्वैत-ज्ञान दृढ़तर हो जाता है। यहाँ ज्ञान का ही प्राधान्य होने से इस मार्ग को ज्ञानोपाय कहते हैं। ज्ञानोपाय द्वारा साधक शाम्भवोपाय में प्रयोग होने वाली धारणा, समाधि आदि के लिए स्वयं को मानसिक रूप से तैयार करता है अथवा ध्यान, मनन, भावना आदि का अभ्यास करता है।

शाम्भवोपाय अथवा इच्छोपाय द्वारा इच्छाशक्ति के प्रयोग से आत्मानुभूति के लिए प्रयास किया जाता है। साधना के इस स्तर पर इच्छाशक्ति का अन्य शक्तियों पर प्राधान्य होता है। इस स्तर पर साधना के बाह्य रूपों यथा उपासना आदि को महत्त्वपूर्ण नहीं माना गया है। यह साधना का आध्यात्मिक स्तर है जहाँ अहं का समर्पण किया जाता है तथा सर्वाहं-भाव' का अभ्यास किया जाता है।[1]

कर्म, भक्ति तथा ज्ञान की दृष्टि से आणवोपाय कर्म मार्ग अथवा कर्म योग है, शाक्तोपाय ज्ञान मार्ग है तथा शाम्भवोपाय भक्ति मार्ग है। योग की दृष्टि से आणवोपाय हठयोग है, शाक्तोपाय राजयोग है तथा शाम्भवोपाय अध्यात्म योग है। आणवोपाय को हठयोग इसलिये कहा जाता है क्योंकि इसमें योग की बाह्य, शारीरिक क्रियाएँ, यथा यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि किया जाता है। शाक्तोपाय राजयोग है क्योंकि इसमें योग की मानसिक क्रियाएँ ध्यान, मनन, भावना, मन्त्र आदि का अभ्यास किया जाता है तथा शाम्भवोपाय को अध्यात्म योग इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसमें योग की आध्यात्मिक साधनाएँ यथा धारणा, समाधि द्वारा पूर्णाहम् से एकाकार होया जाता है।

इन साधनाओं का अन्तिम चरण प्रत्यभिज्ञा है। शाम्भवोपाय की ही अन्तिम स्थिति में पूर्णाहम् से एकाकार हो जाना प्रत्यभिज्ञा है। इसे अनुपाय कहा जाता है[2]। क्योंकि इस स्तर पर किसी प्रकार की शारीरिक अथवा मानसिक क्रिया नहीं की

१—निर्विकल्पे परामर्शे शाम्भवोपायनामनि।······

—तंत्रालोक ३।२७४

२—साक्षादुपायेन इति शाम्भवेन तदेव हि अव्यवहितं परज्ञानावाप्तौ निमित्तं, स एव परां काष्ठां प्राप्तश्चानुपाय इत्युच्यते। अतः अनुपाय इति नोपायनिषेधनम्। (इति वक्ष्यते)—तंत्रालोक १।१४२ (विवेक)

जाती। इस अवस्था में पूर्ण ज्ञान विना किसी प्रयास के ही हो जाता है। शाम्भवोपाय और अनुपाय में कोई विशेष अन्तर नहीं है। शाम्भवोपाय की ही उच्चतम अवस्थिति को अनुपाय कहते हैं। इसके द्वारा आनन्द शक्ति पूर्ण रूप में प्रकाशित हो जाती है। इसलिए इसे आनन्दोपाय भी कहते हैं तथा इस उपाय द्वारा ही प्रत्यभिज्ञा होने से इसे प्रत्यभिज्ञोपाय भी कहते हैं। प्रत्यभिज्ञा साधन एवं साध्य दोनों है क्योंकि स्वरूप की पहचान (साध्य) के लिए स्वरूप की पहचान (साधन) ही किया जाता है।

प्रत्यभिज्ञा को अनुपाय इसलिए भी कहा जाता है क्योंकि प्रत्यभिज्ञा स्वतन्त्र उपाय न होकर सभी उपायों में अन्तर्भूत है अथवा दूसरे शब्दों में, विभिन्न उपायों द्वारा प्रत्यभिज्ञा ही तो की जाती है (अथवा प्रत्यभिज्ञा के लिए ही प्रयास किया जाता है)। प्रत्यभिज्ञा द्वारा पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति ही की जाती है तथा चूंकि अन्य उपायों द्वारा जो मल दूर किया जाता है वह भौतिक मल न होकर अज्ञान रूप है, इसलिये ये उपाय भी अन्ततोगत्वा ज्ञानात्मक ही हैं। अज्ञान को भी काश्मीर शैव दर्शन में अपूर्ण ज्ञान कहा गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि वद्धावस्था में भी ज्ञान रहता है, यद्यपि यह संकुचित अथवा सीमित होता है। इस सीमित ज्ञान को ही पूर्ण ज्ञान में परिणत किया जाता है। तान्त्रिक योग की भाषा में इसे ही कुण्डलिनी जागरण कहते हैं। ऐसी मान्यता है कि कुण्डलिनी अपने मूलाधार में कुछ जाग्रत अवस्था में रहती है। यदि कुण्डलिनी को पूर्ण रूप से सुप्त मान लिया जाय तो लौकिक जीवन ही नहीं चलेगा। इसलिये ऐसा माना जाता है कि कुण्डलिनी कुछ जाग्रत रहती है तथा विभिन्न साधनाओं (उपायों) द्वारा उसे ही पूर्ण रूप से जाग्रत किया जाता है।

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार कुण्डलिनी वस्तुतः चिति शक्ति ही है। कुण्डलिनी जागरण के तीन स्तर आगमिक परम्परा में वताये गये हैं—प्राण कुण्डलिनी, नाद कुण्डलिनी और बोध कुण्डलिनी। प्राण कुण्डलिनी शारीरिक स्तर से सम्बद्ध है, नाद कुण्डलिनी मानसिक स्तर से सम्बद्ध है तथा बोध कुण्डलिनी आध्यात्मिक स्तर से सम्बद्ध है। शारीरिक स्तर पर कुण्डलिनी प्राण शक्ति के रूप में आंशिक रूप से जाग्रत (क्रियाशील) रहती है, जिससे शरीरिक कार्य व्यापार चलते हैं। प्राण कुण्डलिनी के जाग्रत हो जाने पर शरीर पर नियन्त्रण हो जाता है। मानसिक स्तर पर कुण्डलिनी शक्ति के आंशिक रूप से क्रियाशील होने के कारण चिन्तन, स्मृति आदि क्रियाएँ होती हैं। इस स्तर पर नाद कुण्डलिनी के जाग्रत हो जाने से चिन्तन, स्मृति आदि की शक्तियाँ बढ़ जाती हैं। आध्यात्मिक

स्तर पर कुण्डलिनी के कुछ क्रियाशील रहने से सत्य का कुछ ज्ञान (अपूर्ण ज्ञान अथवा अज्ञान) रहता है। इस स्तर पर बोध कुण्डलिनी के जाग्रत हो जाने से पूर्ण ज्ञात हो जाता है। पूर्ण ज्ञान हो जाने से साधक जो पहले जगत् को अपने से भिन्न समझता था, अब जगत् को अपना अथवा जगत् के साथ अपना एकत्व समझने लगता है।

काश्मीर शैव दर्शन (अथवा आगमिक परम्परा) की साधना की यह विशेषता है कि यहाँ जगत् को छोड़ने अथवा त्यागने की बात नहीं कही गयी है। सामान्यतः वासनाओं पर नियन्त्रण पाने के लिए जगत् को त्यागने अथवा संन्यास की बात की जाती है। वासनाओं पर नियन्त्रण पाने के लिए काश्मीर शैव दार्शनिक विषय वस्तु (अथवा जगत्) का त्याग आवश्यक नहीं मानते। उनके अनुसार इसके लिए वासनाओं का उदात्तीकरण (sublimation) आवश्यक है। जगत् को या विषय-वस्तु को जब अपने से भिन्न समझा जायेगा तभी उनके प्रति आसक्ति अथवा वासना होगी; किन्तु सर्वाहं भाव के अभ्यास द्वारा जब विषय वस्तु को अपना ही ऐश्वर्य समझा जायेगा, तब वहाँ आसक्ति नहीं होगी। इसीलिए शैव साधना में भोग को ही योग में रूपान्तरित किया जाता है अथवा दूसरे शब्दों में, भुक्ति और मुक्ति में आत्मविरोध न मानकर जगत् अथवा जागतिक वस्तुओं को ही मोक्ष का साधन बनाया जाता है।

इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि काश्मीर शैव साधना वस्तुतः वाम मार्ग (कौल मार्ग) है। वाम मार्ग में पंच मकारों की साधना निर्दिष्ट की गयी है (ये पंच मकार हैं—मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन)। इस साधना का लक्ष्य उदात्तीकरण है। इसी का अतिमार्गी रूप अघोर साधना में देखने को मिलता है। पंच मकारों का सेवन इसीलिए साधना में शामिल किया गया है कि वस्तुओं के प्रति जो कृत्रिम भेद अथवा अशुद्धता का भाव है, वह समाप्त किया जाय। मैथुन (Sex) को साधना में ग्रहण करने का प्रयोजन यह है कि कामशक्ति का उदात्तीकरण किया जाय।[1] आगमिक परम्परा में कामशक्ति को कुण्डलिनी शक्ति

१—मैथुन (Sex) को साधना में ग्रहण करने का कारण यह है कि काम को शक्ति के रूप में मानने के कारण ऐसा माना जाता है कि शक्ति कहीं निरुद्ध न की जाय बल्कि उसका उदात्तीकरण किया जाय। काम को निरुद्ध अथवा कुंठित करने से वासनाओं पर नियन्त्रण नहीं पाया जा सकता। उसे विश्व प्रेम अथवा दिव्य प्रेम में परिणत कर उससे अच्छे परिणाम निकाले जा सकते हैं, जैसे उससे श्रेष्ठ कलात्मक सर्जन किया जा सकता है।

के रूप में माना गया है। सर्वाहं भाव की साधना द्वारा इसका उदात्तीकरण किया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि इसे दिव्य प्रेम अथवा विश्व प्रेम के रूप में रूपान्तरित किया जाता है। वाम मार्ग के अतिमार्गी रूप अघोर साधना में जो सामान्यतः गन्दी समझी जाने वाली वस्तुओं (मल, मूत्रादि) का सेवन किया जाता है वह भी इसीलिए कि शुद्धाशुद्ध का जो कृत्रिम भाव हम अपने अहं द्वारा बना लिए हैं, उसका विलय हो।

*

उपसंहार

काश्मीर शैव दर्शन के मूल सिद्धान्तों की विवेचना के पश्चात् कोई निष्कर्ष निकालने से पूर्व काश्मीर शैव दर्शन की विशिष्टताओं पर तुलनात्मक प्रकाश डालना आवश्यक है। काश्मीर शैव दर्शन की तुलना वैदिक परम्परा के प्रमुख दर्शन अद्वैत-वेदान्त से की जाती है।[1] अद्वैत-वेदान्त से तुलना करने पर ही काश्मीर शैव दर्शन की विशिष्टतायें स्पष्टतर होती हैं। इसका कारण यह है कि दोनों ही दर्शन अद्वैतवादी दर्शन हैं तथा दोनों ही आभासवादी (Idealistic) हैं, किन्तु दोनों की दार्शनिक विचारधारा में मौलिक विभेद है। अद्वैत-वेदान्त का जगत् के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण है जबकि काश्मीर शैव दर्शन का जगत् के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण है। अद्वैत-वेदान्त जगत् को मायारूप मानता है, इसलिये जगत् का निषेध करता है तथा काश्मीर शैव दर्शन जगत् को शिव रूप मानता है, इसलिए जगत् का निषेध नहीं करता।

जगत् की व्याख्या अद्वैतवादी दर्शनों के लिये प्रमुख समस्या होती है। एक मात्र परमतत्त्व की सत्ता मानने के कारण जगत् का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं माना जा सकता। जगत् का स्वतन्त्र अस्तित्व मानने पर परमतत्त्व और जगत् में तात्त्विक विभेद मानना होगा जो अद्वैतवाद की मान्यताओं के प्रतिकूल होगा। इसलिए अद्वैत वेदान्त और काश्मीर शैव दर्शन जगत् को आभासरूप मानते हैं। किन्तु अद्वैत-वेदान्त जगत् को मिथ्याभास मानता है, जबकि काश्मीर शैव दर्शन जगत् को सत्याभास कहता है। अपने निषेधात्मक दृष्टिकोण के कारण अद्वैत-वेदान्त जगत् को मिथ्याभास मानता है, क्योंकि उसके अनुसार जगत् मायारूप अथवा बन्धनस्वरूप है तथा अपने भावात्मक दृष्टिकोण के कारण काश्मीर शैव दर्शन जगत् को सत्याभास कहता है, क्योंकि उसके अनुसार जगत् लीलारूप है।

१—काश्मीर शैव दर्शन की तुलना शैव-सिद्धान्त से भी की जाती है। ये दोनों दर्शन सृष्टि के छत्तीस तत्त्वों का उल्लेख करते हैं जो नाम से समान ही हैं, किन्तु काश्मीर शैव दर्शन आभासवादी दर्शन है तथा शैव-सिद्धान्त यथार्थवादी (Realistic) दर्शन है। यह तुलनात्मक अध्ययन हमने अपनी दूसरी पुस्तक 'शैव-सिद्धान्त दर्शन' में प्रस्तुत किया है, जिसका संक्षिप्त उल्लेख इस पुस्तक के प्रारम्भ में भी किया गया है।

जगत् को मिथ्या अध्यारोपण अथवा सत्य मानने के कुछ कारण हैं जिनका समाधान ये दर्शन अपनी मान्यताओं के अनुसार करते हैं। इन कारणों को अद्वैतवाद से सम्बन्धित कहा जा सकता है। अद्वैत-वेदान्त जगत् को मिथ्या मानता है क्योंकि जगत् को सत्य मानने पर यह (जगत्) सृष्ट होगा तथा इसका स्रष्टा परमतत्त्व (ब्रह्म) को मानना होगा। किन्तु ब्रह्म में क्रिया नहीं मानी जा सकती; यह निष्क्रिय है। इसका कारण यह है कि अद्वैत-वेदान्त के अनुसार क्रिया अपूर्णता का द्योतक है और ब्रह्म में किसी भी प्रकार की क्रिया का समावेश करना उसे अपूर्ण बनाना होगा। काश्मीर शैव दर्शन में क्रिया (स्पंद) को अपूर्णता का सूचक नहीं माना गया है। उसके अनुसार कर्म अपूर्णता के द्योतक हैं। कर्म तथा स्पन्द में मौलिक भेद है। सृष्टि शिव का स्पन्द है। इसलिये काश्मीर शैव दर्शन जगत् को शिव का आभास मानते हुए भी इसे सत्य कहता है। परमतत्त्व में क्रिया का समावेश न होने से अद्वैत-वेदान्त में ब्रह्म निष्क्रिय, तटस्थ, शक्तिरहित तथा विना आत्म-चेतना के है जबकि परमतत्त्व में क्रिया मानने के कारण काश्मीर शैव दर्शन में शिव सक्रिय, स्रष्टा, शक्तिरूप तथा आत्म-चेतना से युक्त है।

जगत् का निषेध करने का कारण जगत् को वन्धनरूप अथवा अज्ञान के कारण उद्भूत मानना है। अद्वैत-वेदान्त की ऐसी अवधारणा है कि यदि वन्धन वास्तविक है तो उसे दूर नहीं किया जा सकता, फलतः बन्धन अज्ञान के कारण ही माना जा सकता है। यहाँ जगत् को वन्धनस्वरूप माना गया है, क्योंकि जगत् अज्ञान के कारण ब्रह्म पर अध्यस्त है। इसलिए जगत् को असत्य अथवा मिथ्या प्रतिपादित किया गया है। काश्मीर शैव दर्शन में भी बन्धन वास्तविक नहीं है, यह अज्ञानरूप ही है किन्तु यहाँ स्वयं जगत् को वन्धन स्वरूप नहीं माना गया है; यहाँ वन्धन के कारण दूसरे तत्त्व हैं। काश्मीर शैव दर्शन में बन्धन का कारण माया के पंचकंचुकों से उत्पन्न वासना है। अद्वैत-वेदान्त में जगत् परमतत्त्व पर आवरण अथवा अवरोध स्वरूप है; इसलिये जगत् का निषेध किया जाता है। काश्मीर शैव दर्शन में जगत् को अपने से भिन्न समझना ही बन्धन है, अतः जगत् को अपनाया जाता है। जगत् को आवरण स्वरूप मानने के कारण अद्वैत-वेदान्त में जगत् को जहाँ तुच्छ समझा जा सकता है, वहाँ काश्मीर शैव दर्शन में लीलारूप होने के कारण जगत् को दिव्य कहा जाता है।

जगत् को असत्य मानने के कारण अद्वैत-वेदान्त में ब्रह्म जगत् से वस्तुतः असम्बद्ध है क्योंकि सत्य ब्रह्म से असत्य जगत् सम्बन्धित नहीं हो सकता। किन्तु काश्मीर शैव दर्शन में शिव और जगत् में अद्वैत-सम्बन्ध प्रतिपादित किया गया है।

यहाँ जगत् शिव का लीलाभास है; दूसरे शब्दों में, जगत् शिव का स्वरूप-विस्तार है। अतः तात्त्विक दृष्टि से शिव का जगत् से तादात्म्य सम्बन्ध है; भिन्नता इतनी ही है कि जगत् शिव का प्रकटित सीमित रूप है। सीमित होने से जगत् का शिवत्व अवरूद्ध है, किन्तु जगत् शिव का दूसरा रूप है। जैसे लहरें सागर से भिन्न होते हुए भी सागर से अभिन्न हैं, अथवा जैसे स्वप्नवस्तु स्वप्नद्रष्टा चैतन्य से भिन्न होते हुए भी वस्तुतः चैतन्य ही है, जड़ वस्तु नहीं; उसी प्रकार जगत् शिव से भिन्न होते हुये भी वस्तुतः शिव (चैतन्य) ही है। अतः शिव और जगत् में वस्तुतः अद्वैत-सम्बन्ध है।[1]

अद्वैत-वेदान्त और काश्मीर शैव दर्शन शुद्ध अद्वैतवादी दर्शन हैं। इन दर्शनों में जीव तात्त्विक दृष्टि से परमतत्त्व ही है। परन्तु अद्वैत-वेदान्त में जहाँ जीव जगत् के प्रति तथा जागतिक कार्यों के प्रति उदासीन पाया जा सकता है (क्योंकि कर्म

१—सत्य ब्रह्म से असत्य जगत् का सम्बन्ध प्रकाश और अन्धकार के समान परस्पर विरोधी होगा, किन्तु यदि जगत् भी सत्य है तो (शिव से) सम्बन्धित होने में कोई तार्किक कठिनाई उपस्थित नहीं होगी। 'कारणता' अध्याय में यह देखा जा चुका है कि अद्वैत-वेदान्त की मान्यताओं से ऐसा प्रतीत होता है कि वह जगत् को पारमार्थिक स्तर पर आभास रूप भी मानना नहीं चांहता (इसलिये मिथ्या कहता है), किन्तु काश्मीर शैव दर्शन में पारमार्थिक स्तर पर ही जगत् को आभास रूप माना गया है तथा आभास रूप में यह सत्य है। अद्वैत-वेदान्त में चूँकि पारमार्थिक दृष्टि से जगत् है ही नहीं, अतः यही कहना उचित होगा कि ब्रह्म और जगत् में कोई सम्बन्ध ही नहीं है। काश्मीर शैव दर्शन में पारमार्थिक दृष्टि से जगत् शुद्ध असत् (mere nothing) न होकर आभास (appearance) रूप है। असत् और आभास में भेद है। असत् वन्ध्यापुत्र आदि की तरह होता ही नहीं, किन्तु आभास होता है—हाँ यह जड़ नहीं होता वरन् प्रतिबिम्ब की भाँति होता है। जैसे दर्पण में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब जड़वस्तु नहीं होता, फिर भी प्रतिबिम्ब के रूप में सत्य होता है, उसी प्रकार काश्मीर शैव दर्शन में जगत् जड़रूप नहीं है, वरन् शिव का आत्मप्रक्षेपित (self-projected) प्रतिबिम्ब अथवा आभास है, और प्रतिबिम्ब (आभास) के रूप में सत्य है। शिव सत्य है, और सत्य से सत्य का ही सम्बन्ध हो सकता है; अतः आभास (प्रतिबिम्ब) रूप जगत् का शिव से सम्बन्ध हो सकता है, असत् जगत् का सत्य ब्रह्म से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

बन्धन के कारक हैं), वहाँ काश्मीर शैव दर्शन में जीव जगत् के प्रति उल्लास से परिपूर्ण होगा। अद्वैत-वेदान्त की मान्यताओं के अनुसार जीवन्मुक्ति की अवस्था में जागतिक कार्यों का संपादित होना असंगत होगा, क्योंकि यदि जीवन्मुक्त कोई कर्म करता है तो वह पुनः बन्धन में पड़ेगा। जीवन्मुक्ति 'अहं ब्रह्मास्मि' की अवस्था है। इस अवस्था में कर्म का होना जीवन्मुक्त की अपूर्णता को ही सूचित करेगा। काश्मीर शैव दर्शन में इस प्रकार की कोई कठिनाई जीवन्मुक्त के लिये नहीं होगी। जीवन्मुक्त यह समझता है कि जागतिक कार्य उसकी लीला के ही अंश हैं। अतः वह जागतिक कार्यों को स्पन्द रूप में संपादित करेगा।

इस प्रकार तुलनात्मक विवेचना से काश्मीर शैव दर्शन की विशेषताएँ स्वयमेव स्पष्ट हो जाती हैं। इन विशेषताओं में महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय विशेषता है स्वातन्त्र्यवाद, जिसके अनुसार सृष्टि होना शिवेच्छा पर निर्भर है। स्वातन्त्र्यवाद ही काश्मीर शैव दर्शन को अन्य दर्शनों (रामानुज, हेगेल आदि के दर्शनों) से अलग करता है। हेगेल आदि के दर्शनों में सृष्टि होना आवश्यक कार्य (necessary-process) है, किन्तु सृष्टि को आवश्यक कार्य मानने पर परमतत्त्व को अनुत्तर (Transcendent) मानने में तार्किक कठिनाई उपस्थित होती है। इसीलिये काश्मीर शैव दर्शन में शिव के स्वातन्त्र्य पर विशेष आग्रह किया गया है। यद्यपि काश्मीर शैव शास्त्र में कुछ ऐसे कथन मिलते हैं जिनसे यह ध्वनित होता है कि सृष्टि होना आवश्यक कार्य ही है, किन्तु इन कथनों की सम्यक् व्याख्या द्वारा इसका निराकरण हो जाता है (जैसा पिछले अध्यायों में किया जा चुका है) तथा स्वातन्त्र्यवाद प्रतिस्थापित हो जाता है।

इस स्वातन्त्र्यवाद के परिप्रेक्ष्य में ही अशुभ की समस्या का समाधान भी किया गया है। यह माना गया है कि जीव कर्म करने के लिये स्वतन्त्र है (भले ही उसका स्वातन्त्र्य सीमित है) तथा अपने कर्म के लिये जिम्मेदार जीव ही है। शिव जीव (पशु) के कर्म-स्वातन्त्र्य में बाधा नहीं डालता, अन्यथा जीव यन्त्र मानव (robot) की तरह हो जायेगा। काश्मीर शैव दर्शन में जीव तत्त्वतः शिव ही है तथा शिव अपनी लीला के लिये सृष्टि करता है, इसलिये साधारणतः यही मान लिया जाता है कि कर्म के लिये जिम्मेदार जीव नहीं प्रत्युत् शिव है। किन्तु पशु (जीव) तात्त्विक दृष्टि से शिव होते हुए भी शुद्ध शिव नहीं है, वरन् मलग्रस्त अशुद्ध शिव है। यह शुद्ध शिव का सीमित रूप है, अतः शिव का दूसरा रूप है। इस दृष्टि से पशु शिव से भिन्न है। जैसे लहरें सागर से तात्त्विक दृष्टि से (अर्थात् जल की दृष्टि से) अभिन्न होते हुए सागर से भिन्न हैं, अथवा

किसी पर्दे से होकर बाहर आनेवाला प्रकाश पर्दे के भीतर वाले शुद्ध प्रकाश से वस्तुतः अभिन्न होते हुए भी अब मलिन होकर भिन्न है, उसी प्रकार जीव शिव से अभिन्न होते हुए भी भिन्न है। अतः जीव का कर्म अपना कर्म है, उसे शिव का कर्म नहीं कहा जा सकता। काश्मीर शैव दर्शन के मूल सिद्धान्तों की पर्याप्त विवेचना द्वारा (जैसाकि 'अशुभ की समस्या' के सन्दर्भ में किया गया है) यह स्पष्ट हो जाता है कि जीव में कर्म करने के लिये इच्छा-स्वातन्त्र्य है तथा अपने कर्म के लिये जिम्मेदार जीव ही है।

हम यह भी देख चुके हैं कि इन विशेषताओं के अतिरिक्त काश्मीर शैव दर्शन की सबसे प्रमुख विशेषता है जगत् के प्रति धार्मिक अथवा भावात्मक दृष्टिकोण। सृष्टि के प्रति जो स्वीकृति का भाव एवं जागतिक वस्तुओं एवं मूल्यों को भगवद् प्राप्ति का साधन रूप मानने का भाव है, वह वैष्णव दर्शनों में भी प्रचुर रूप में मिलता है। वैष्णव-दर्शन भी मूलतः वैदिक दर्शन न होकर आगमिक दर्शन ही है जो पाञ्चरात्रादिक आगमों पर आद्धृत हैं। वस्तुतः शैव और वैष्णव भाई-भाई हैं। अद्वैत-वेदान्त और बौद्ध दर्शनों की निषेधात्मक प्रवृत्ति से ये दोनों ही खीझे हुए है और उस प्रवृत्ति से लड़ने में ये दोनों सहयोगी हैं। वैष्णव दर्शन भी शैव दार्शनिकों की भाँति यह मानते हैं कि सृष्टि-प्रक्रिया में भगवान् या परमतत्त्व का सक्रिय योगदान है और यह सृष्टि जीव के लिये परमात्म प्राप्ति का साधन है। शैव और वैष्णव में कई बातों को लेकर मतभेद है, किन्तु जहाँ तक जगत् के प्रति स्वीकारात्मक अवधारणा का प्रश्न है, दोनों एक हैं।

अन्त में निष्कर्ष रूप में यह बात सामने आती है (जैसा कि पिछले अध्यायों में दिखाया गया है) कि आगमिक दर्शन होने के कारण काश्मीर शैव शास्त्र में सृष्टि या जगत् के प्रति सशक्त स्वीकृति (Vigorous assertion) का भाव है। अद्वैत-वेदान्त, बौद्ध आदि दर्शनों में जगत् के प्रति जो निषेध एवं त्याग का भाव है और जिसके कारण कुछ विदेशी विद्वानों ने भारतीय दर्शन को निषेधवादी या त्यागवादी कहा है, उसका उत्तर प्रचुर एवं सशक्त रूप में काश्मीर शैव दर्शन में मिलता है। जहाँ अद्वैत-वेदान्त एवं बौद्ध दर्शन में जगत् को त्याज्य कह कर संन्यास का मार्ग प्रतिपादित किया जाता है, वहीं आगमिक दर्शन जगत् को ग्रहण कर उसे परमात्म प्राप्ति का साधन बना लेने का जीवन-दर्शन देता है। इसीलिये अद्वैत-वेदान्त आदि का मार्ग संन्यास-धर्म है जबकि आगमिक दर्शनों का मार्ग गृहस्थ-धर्म है।

अद्वैत-वेदान्त एवं बौद्ध दर्शन दोनों में ही सम्भवतः कभी यह कमी समझी गयी है कि जगत् के प्रति त्याग का भाव उचित नहीं है। इसीलिये उन दर्शनों

में हम ऐसे भी सिद्धान्त एवं मार्ग का उल्लेख पाते हैं जो उन दर्शनों के मूल सिद्धान्त से मेल खाता हुआ नहीं दीखता। उदाहरण के लिये बौद्ध दर्शन में तन्त्र का समावेश एवं वज्रयान जैसी तान्त्रिक परम्परा का अभ्युदय उपर्युक्त कथन को पुष्ट करता है। तिब्बत की बौद्ध परम्परा में तो अब भी तान्त्रिक साधनाओं का प्रचलन है। अद्वैत-वेदान्त में भी शंकराचार्य के नाम से जो शैव एवं शाक्त कृतियाँ प्रसिद्ध हैं और जिन्हें अद्वैत-वेदान्ती भी स्वीकार करते हैं उनसे भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि ही होती है।

अतः यह कहना कि भारतीय संस्कृति एवं दर्शन निषेधवादी है, उचित नहीं है। आगमिक दर्शन इस निषेध का निषेध करने के लिये खड़े हैं। यह भी नहीं है कि तान्त्रिक परम्परा केवल सिद्धान्त रूप में रही हो और व्यवहार में न रही हो। आगमिक परम्परा भारतीय चिन्तन-धारा एवं व्यावहारिक जीवन दोनों में ही पर्याप्त रूप से समाविष्ट है। हिन्दू संस्कृति में व्यावहारिक रूप में जागतिक वस्तुओं के प्रति जो पूजा का भाव है वह तान्त्रिक परम्परा का द्योतक है।

—•—

ग्रन्थ-सूची

अजड प्रमातृ सिद्धि, उत्पलदेव,
काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९११
अनुत्तराष्टिका, अभिनवगुप्त,
डा० पाण्डेय के अभिनवगुप्त (अंग्रेजी) में प्रकाशित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९३५
अनुभवनिवेदनस्तोत्र, अभिनवगुप्त,
डा० पाण्डेय के अभिनवगुप्त में प्रकाशित, चौखम्बा सीरीज, वाराणसी १९३५
ईश्वर प्रत्यभिज्ञा, उत्पलदेव,
वृत्ति सहित, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९२१
ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी, अभिनवगुप्त
काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१८-२१
ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विवृति-विमर्शिनी, अभिनवगुप्त,
काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९३८-४१
क्रमस्तोत्र, अभिनवगुप्त,
डा० पाण्डेय के अभिनवगुप्त में प्रकाशित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, १९३५
कुलार्णव, जीवानन्द विद्यासागर,
कलकत्ता, १९३९
तन्त्र-सार, अभिनवगुप्त
काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१८
तन्त्रालोक, अभिनवगुप्त,
जयरथकृत टीका सहित, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१८—३८
नेत्र-तन्त्र, आगम,
काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९२६-३०
परमार्थ-चर्चा, अभिनवगुप्त,
काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९४७
परमार्थ-सार, अभिनवगुप्त,
योगराजकृत टीका सहित, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१६

पर्यन्त पंचाशिका, अभिनवगुप्त,
मद्रास, १९५१
परात्रिंशिका, आगमशास्त्र,
अभिनवगुप्त कृत विवरण सहित, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१८
प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, क्षेमराज
जयदेवसिंह द्वारा सम्पादित और व्याख्यायित, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९७३
बोध पंचदशिका, अभिनवगुप्त,
काश्मीर ग्रन्थावली, १९४७
भास्करी, भास्करकण्ठ,
भाग-१ व २, सरस्वती भवन टेक्स्ट्स, सं ७०, ८६, लखनऊ, १९३८-५०
भास्करी, भास्करकण्ठ,
भाग-३, ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी के के० सी० पाण्डेय कृत अंग्रेजी अनुवाद सहित, सरस्वती भवन टेक्स्ट्स, सं० ८४, लखनऊ- १९५४
महार्थ मंजरी, महेश्वरानन्द,
काश्मीर ग्रन्थावली, १९१८
मालिनीं-विजय-तन्त्र, आगमशास्त्र,
काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९२२
मालिनी-विजय-वार्तिक, अभिनवगुप्त,
काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९२१
विज्ञान-भैरव, आगमशास्त्र,
शिवोपाध्यायकृत टीका सहित, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१८
रत्नत्रय, श्रीकण्ठ,
वाणी विलास प्रेस, देवसालपुरी, १९७५
शिव-दृष्टि, सोमानन्द,
उत्पलदेवकृत वृत्ति सहित, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर १९३४
शिव-सूत्र, आगमशास्त्र,
वृत्ति सहित, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१६
शिव-सूत्र-वार्तिक, भट्टभास्कर,
काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१६

शिव-सूत्र-वार्तिक, वरद-राज,
काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९२५
शिव सूत्र-विमर्शिनी, क्षेमराज,
जे० सी० चटर्जी द्वारा सम्पादित, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९११
शिवस्तोत्रावलि, उत्पलदेव,
क्षेमराजकृत टीका सहित, चौखम्बा सीरीज, वाराणसी, १९२१
षट्त्रिंशत्तत्वसंदोह,
राजानक आनन्द की टीका सहित, मुकुन्दराम शास्त्री द्वारा सम्पादित काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर।
सिद्धित्रयी, उत्पलदेव,
काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९२१
स्तवचिन्तामणि, भट्टनारायण,
काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१८
स्पन्दकारिका, भट्टकल्लट,
काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१६
स्पन्द-निर्णय, क्षेमराज,
काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९२५
स्पन्द-प्रदीपिका, उत्पल—वैष्णव,
ई० जे० लेजरस एण्ड कं०, वाराणसी, १८९८
स्पन्द-विवृति, रामकण्ठ,
काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१३
स्पन्द-सन्दोह, क्षेमराज,
काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१७
स्वच्छन्द-तन्त्र. आगमशास्त्र,
क्षेमराज टीका सहित, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर १९२७ !

—०—

सहायक ग्रन्थ

अभिनवगुप्त : एन हिस्टॉरिकल एण्ड फिलॉसॉफिकल स्टडी, के० सी० पाण्डेय,
चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसो, १९६३

ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलॉसफी, एस० एन० दास गुप्ता,
भाग १–५, कॅम्ब्रिज, १९२२

काश्मीर शैविज्म, जे० सी० चटर्जी,
काश्मीर, ग्रन्थावली श्रीनगर, १९१४

काश्मीर शैवदर्शन, बलजिन्नाथ पण्डित,
श्री रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू, १९७३

द डॉक्ट्रिन ऑफ रिकग्निशन, आर० के० कॉं,
विश्वेश्वरानन्द इन्स्टीट्यूट, होसियारपुर, पंजाब, १९६७

तन्त्राज–स्टडीज ऑन देअर रिलीजन एण्ड लिटरेचर,
चिन्ताहरण चक्रवर्ती, पंथीपुस्तक, कलकत्ता, १९७२

द प्रत्यभिज्ञा सिस्टम, सर्वपल्ली राधाकृष्णन्,
इण्डियन फिलॉसफी के भाग दो में उल्लिखित, लाइब्रेरी आफ फिलासफी, १९३१

प्रिन्सिपल ऑफ तन्त्राज, ए० एवलान,
गणेश एण्ड कम्पनी, अडियार, मद्रास

शैवमत; यदुवंशी झा,
विहार राष्ट्रभाषा परिषद, १९५५

अपरोक्षानुभूति, आ० शंकर,
वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९३७

आइडियलिस्टिक थाट आफ इण्डिया, पी० टी० राजू,
जार्ज एलेन एण्ड अनविन लिमिटेड, रस्किन हाउस, म्यूजियम स्ट्रीट, लन्दन, १९५३

उपनिषद् (ईशादि २८), निगम-शास्त्र,
निर्णय सागर, बम्बई, १९०४

गौडपाद कारिका, गौडपाद;
माण्डूक्य-कारिका, चौखम्बा संस्करण वाराणसी, १९१०

दक्षिणामूर्तिस्तोत्र, शंकराचार्य,
सुरेश्वराचार्यकृत टीका, निर्णयसागर, बम्बई, १९०२

नान डुअलिज्म इन शैव एण्ड शाक्त फिलासफी, नन्दूलाल कुण्डू,
श्री भैरवीजागेश्वरी मठ, कलकत्ता, १९६४

नीलमत पुराण,
सम्पादित संस्करण, आर० एल० कांजिलाल और जगद्धर जाडू, पंजाव संस्कृत सिरीज,
सं० ५, सन् १९२४

नोटिसीज आफ संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट्स, महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री,
भाग १–५, कलकत्ता, १८९८–१९११

पंशदशी, माधवाचार्य,
निर्णय सागर, बम्वई, १९२७

ब्रह्मसूत्र, बादरायण,
शांकरभाष्य, निर्णय सागर, बम्वई १९२७

मध्यान्त-विभाग-सूत्र- मैत्रेय । असंग,
वसुबन्धुकृत टीका, जायसवाल इंस्टीट्यूट, पटना, १९६७

महायान-विंशक, नागार्जुन,
वाराणसी, १९३१

माध्यमिक शास्त्र, कस्यापि,
प्रसन्नपद टीका पी० एल० वैद्य का दरभंगा प्रकाशन, १९५६

राजतरंगिणी, कल्हण,
विश्ववन्धु द्वारा सम्पादित, वूलनर इण्डोलाजिकल सीरीज, सं० ६, सन् १९६५

शक्ति एण्ड शाक्त, आर्थर एवलॉन,
गणेश एण्ड कम्पनी, अडियार, मद्रास, १९६२

श्रीमद् भगवद्गीता, वेदव्यास,
गीता प्रेस गोरखपुर, १९६०

सर्वदर्शन संग्रह, माधवाचार्य,
प्रो० उमाशकर शर्मा ऋपि कृत हिन्दी भाष्य चौखम्वा विद्याभवन, वाराणसी १९६४

सिस्टम्स आफ वुद्धिस्टिक थॉट, यमकमी सोगेन,
कलकत्ता यूनिवर्सिटी

सौन्दर्यलहरी, शंकराचार्य
लोकसेवक प्रेस, वम्वई, १९३१

सांख्य तत्व कौमुदी, गजानन शास्त्री, मुसलगांवकर,
चौखम्वा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९७१

ह्यूमन इम्मार्टेलिटी, विलियम जेम्स,
फिलासफी आफ रिलिजन-विलियम एस० सहकियान, शोकमेन पब्लिशिंग कम्पनी,
कैम्ब्रिज में सेच्यूसेट्स, यू० एस० ए०, १९६५, में प्रकाशित ग्रन्थ-अंश

पत्र-पत्रिका व निबन्ध

'आगमिक वीर शैंविज्म' और 'ईवाल्यूशन आफ शैवागम्स, एस० जी० सखापेंकर,
प्रोसीडिंग्स एण्ड इन्जैक्शनस आफ द सेवन्थ आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फरेन्स, वड़ौदा, १९३३

इण्डियन कल्चर (मैंन एण्ड यूनिवर्स) एस० एन कौल,
रिसर्च-काश्मीर त्रिक फिलासफी एण्ड कल्चर, भाग–१ श्रीनगर, १९५९ में प्रकाशित।

इन्ट्रोडक्शन, एच० एन० कौल,
रिसर्च–कश्मीर त्रिक फिलासफी एण्ड कल्चर, भाग–१, श्रीनगर, १९५९ में प्रकाशित

उत्पलाचार्य–द मिस्टिक, बी० एन० कौल नजीर,
काश्मीर टुडे भाग ५।२, नम्बर, १९६० में प्रकाशित

काश्मीर शैविज्म, बी० एन० पण्डित,
जम्मू एण्ड काश्मीर यूनिवर्सिटी रिव्यू, २, मई, १९५९ में प्रकाशित

काश्मीरीय शैव दर्शन और 'तान्त्रिक दृष्टि', महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज,
भारतीय संस्कृति और साधना, प्रथम खण्ड, में प्रकाशित, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् पटना, १९६३

काश्मीर-शैविज्म, टी० एम० पी० महादेवन,
दि हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ दी इण्डियन पीपुल, भाग–४, दी ऐज आफ इम्पीरियल कन्नौज, में उल्लिखित, भारतीय विद्याभवन, वम्बई, १९५५

द डाक्ट्रिन आँफ सेल्फ-रिकग्निशन, बी० एन० कौल नजीर,
कश्मीर टुडे, भाग ६।१, जनवरी-फरवरी, १९६२ में प्रकाशित।

नागार्जुन्स कन्ट्रिब्यूशन टू शैविज्म, आर० के० का०,
शारदापीठ रिसर्च सीरिज–१ फरवरी-जुलाई, १९६० के अन्तर्गत प्रकाशित

द परमार्थ सार आफ अभिनवगुप्त, एल० बी० बार्नेट,
जर्नल आफ द रायल एसियाटिक सोसाइटि आफ ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयरलैंण्ड, लन्दन, १९१०, के पृष्ठ ७०७-७४७ में प्रकाशित

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप, नवजीवन रस्तोगी,
दार्शनिक त्रैमासिक ११।१ (जन० १९६५). फरीदकोट, के पृष्ठ ३५-५० में प्रकाशित

महामहेश्वर राजानक अभिनवगुप्ताचार्य, समरचन्द कौल,
काश्मीर टुडे भाग ५।९ (९० दिस० १९६१) में प्रकाशित

शैविस्टिक कन्सेप्शन आफ लिबरेशन, वी० एन० पण्डित,
द जम्मू एण्ड काश्मीर यूनिवर्सिटी रिव्यू—४ (१९६३) में प्रकाशित

शुद्धि-पत्र

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१३	६	कार्यों	कार्यों
१३	२६	यत्रारित्त	यत्रास्ति
१४	१८	पूरुष	पुरुष
१५	२३	घन्विन	धन्विने
१६	२७	त्र्मम्बकादित्य	त्र्यम्बकादित्य
		फिलोसिरिफकल	फिलोसिफिकल
२२	४	effertless	effortless
३३	२६	आघ्यारोपण	अध्यारोपण
३७	२९	श्रीकण्ठस्तदर्मुखे	श्रीकण्ठस्तदहर्मुखे
३७	३०	मुक्तरीदृशी	मुक्तिरीदृशी
५४	२८	विमार्शिनी	विमर्शिनी
५५	३२	पयन्त पच दशिका	पर्यन्त पंचदशिका
५६	३०	स्वतान्त्र्य	स्वातन्त्र्य
५९	२२	अवस्थित	अवस्थिति
६०	१	शव	शैव
७०	१९	आभाास	आभास
७१	७	चमत्क्रार	चमत्कार
८४	२१	अविर्भाव	आविर्भाव
८४	२४	आपेक्ष	आक्षेप
८९	८	स्वातन्त्र	स्वातन्त्र्य
८९	६	स्वतन्त्र्य	स्वतन्त्र
९१	२७	विभः	विभुः
९२	१६	विर्शात्मक	विमर्शात्मक
९९	१२	उपस्थित	उपस्थिति
१११	१	उपयुक्त	उपर्युक्त
११५	४	ह	है
११५	३१	वक्यपदीय	वाक्यपदीय

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
११९	६	अभिव्यक्ति	अभिव्यक्त
१२२	१४	अमिन्न	अभिन्न
१२४	१५	अहम् इदम्	इदम् अहम्
१२७	१९	दुर्धंट	दुर्घट
१३१	१७	दनर्श	दर्शन
१३३	६	प्रभातृभाव	प्रमातृभाव
१३५	११	अमुसार	अनुसार
१४३	११	अअने	अपने
१४५	२६	समीमता	ससीमता
१५२	५	आत्मा असीम	आत्मा ससीम
१५२	५	वह असीम	वह ससीम
१५३	२३	अतमा	आत्मा
१५६	१३	अमुभव	अनुभव
१५८	२६	से	के
१६६	१६	सममझने	समझने
१६९	१६	प्रत्याभिज्ञा	प्रत्यभिज्ञा
१६९	२५	इम	इस
१७०	१२	तात्पय	तात्पर्य
१७१	११	क्षैंव	शैव
१७५	९	लरने	करने
१८०	२४	अज्ञन्न	अज्ञान
१८२	७	अदि	आदि
१८२	१७	हठयाग	हठयोग
१८३	२७	रहनी	रहती
१८४	३	ज्ञात	ज्ञान
१८४	१९	मार्ग्र	मार्ग

———